हिन्दी नाटक : परिवर्तन के विविध आयाम

(1950से 2000 तक)

(हैदराबाद विश्वविद्यालय की पी.हेच.डी उपाधि हेतु प्रस्तुत शोध प्रबंध)

2003

प्रस्तुत कर्ता

वेंकट रेड्डी पोतुराजु एम.ए., एम. फिल.

निर्देशक

डॉ. वी. कृष्ण

एम.ए.,एम.फिल., पी.हेच.डी.

रीडर, हिन्दी विभाग,

हैदराबाद विश्वविद्यालय,

हैदराबाद-46

विभागाध्यक्षा

प्रो. शशिमुदिराज.डी लिट.

हिन्दी विभाग,

हैदराबाद विश्वविद्यालय

हैदराबाद-46

DECLARATION

Department of Hindi
School of Humanities
University of Hyderabad
HYDERABAD –46

Date: 16/6/2003

This is to Certify that I, **Venkata Reddy Pothuraju** have carried out the research embodied in the dissertation entitled **"HINDI NATAK: PARIVARTAN KE VIVIDH AAYAM (1950 SE 2000 TAK)"** for the full period prescribed under **Ph.D** ordinances of the University.

I declare to the best of my knowledge that no part of this dissertation was earlier submitted for the award of Research Degree of any University.

P. Venk 16/6/03
(Signature of the Candidate)
Name: **Venkata Reddy Pothuraju**
Enrolment No: **2KHHPH05**

(Signature of the Supervisor)
Dr. V. Krishna M.A., M.Phil., Ph.D

16/6
अध्यक्ष हिन्दी विभाग
The Head, Department of Hindi,
हैदराबाद विश्वविद्यालय
University of Hyderabad
Head, Dept. of Hindi
हैदराबाद-500 046 (आ.प्र.)
Hyderabad - 500 046. (A.P.)

Probal D. 8/7/03
Dean, School of Humanities
DEAN
SCHOOL OF HUMANITIES
University of Hyderabad
Hyderabad-500 134

श्रद्धेय **माता पिता** को

सादर समर्पित...

विषय सूची

भूमिका

1. हिन्दी नाटक : परिवेश एवं प्रयोग 1-55

1. नाट्य कर्म का स्वरूप
1.1 भारतीय दृष्टिकोण
1.2 पाश्चात्य दृष्टिकोण
1.3 भारतीय नाट्य परंपरा
1.3.1 भारतेन्दु युगीन नाटक
1.3.2 प्रसाद युगीन नाटक
1.4 परिवेश
1.4.1 सामाजिक परिवेश
1.4.2 आर्थिक परिवेश
1.4.3 राजनीतिक परिवेश
1.4.4 धार्मिक परिवेश
1.4.5 सांस्कृतिक परिवेश
1.5 प्रयोग
1.5.1 परंपरा और प्रयोग
1.5.2 प्रयोग प्रगति का चिह्न है
1.5.3 प्रयोग और आधुनिकता
1.5.4 प्रयोग : एक अनिवार्य आवश्यकता
1.5.5 प्रयोग : बनाम नाटक
1.5.5.1 कथ्य परक प्रयोग
1.5.5.2 विधापरक प्रयोग
1.5.5.3 मंच और शिल्प परक प्रयोग
निष्कर्ष

2. हिन्दी नाटक : परिवर्तन के आयाम : कथ्य 56-148

2.1 रचना का प्राण तत्व : परिवेश
2.1.1 समाज और परिवेश की सहयोगिता : पचासोत्तर नाट्य सृजन
2.1.2 परिवेशगत सजगता : छद्म राजनीति का पर्दापाश

1.2.3 सामाजिक विसंगतियों का सार्थक चित्रण
2.2 नाटक की जीवंतता के संवाहक : प्रतीक
2.2.1 भाषिक शक्ति के संवर्धक : प्रतीक
2.2.2 संघर्षशील अभिव्यक्ति के माध्यम
2.3 आधुनिक मानव की सार्थक तलाश : पचासोत्तर नाटक
2.3.1 अनभिज्ञ मानसिकता का आविष्कार
2.3.2 जागरूकता का प्रतीक : आधुनिक मनुष्य
2.4 व्यवस्था का निर्णायक अंग : मध्यवर्ग
2.4.1 नये मूल्यों की तलाश
2.5 चरमराती राजनीति का दस्तावेज : पचासोत्तर नाटक
2.5.1 दूसरी स्वतंत्रता का एहसास
2.6 मनुष्य के संचालन की व्यवस्था : काम
2.6.1 स्त्री एवं पुरुष के संबंधों का नया मोड
2.6.2 काम रहस्यमय क्रीडा नहीं है
2.7 जनचेतना का पर्याय : नुक्कड नाटक
2.7.1 राजनीति बनाम सत्ता
2.8 एक जहरीली संस्कृति : सांप्रदायिकता
2.9 आधुनिक नारी का प्रतिरूप : पचासोत्तर नाटक
2.10 वैचारिक क्रांति : दलित नाटक
निष्कर्ष

3. हिन्दी नाटक परिवर्तन के आयाम : विधा 149-200

3. हिन्दी नाटक:विधा परक परिवर्तन
3.1 गीति नाट्य
3.2 लोक नाट्य
3.3 नुक्कड नाटक
3.4 नाट्य रूपांतरण
3.4.1 उपन्यास का नट्यरूपांतरण
3.4.2 कहानी का नाट्य रूपांतरण

3.5 अनुवाद
निष्कर्ष
4.हिन्दी नाटक : परिवर्तन के आयाम : मंच **201-253**
4.1 रंगमंच : अर्थ एवं परिभाषा
4.2 परिवर्तन के मोड : नाटक एवं रंगमंच
4.2.1 दर्शकीय आकर्षण : दृश्य योजना
4.2.2 सृजन-धर्मिता की अंतिम सफलता : अभिनय
4.2.3 नाटक के निर्णायक तत्व : रंगदीपन
4.2.4 रोमांचकता के प्रेरक तत्व : ध्वनि संगीत
4.2.5 अभिनय की सार्थकता का आधार : निर्देशन
4.2.6 नाटक की सामाजिकता के केन्द्रबिंदु : दर्शक
निष्कर्ष
5.हिंदी नाटक :परिवर्तन के आयाम : शिल्प **254-304**
5.1 मानव हृदय के रहस्यों का आविष्कार : नाट्य भाषा
5.1.1 जीवन की सार्थक अभिव्यक्ति : लोक मानस भाषा
5.1.2 नाटक की सफलता : पात्रानुकूल भाषा
5.2 नाटक की सार्थक कुंजी : संवाद योजना
5.3 प्रभावोत्पादकता की सक्रिय चेष्टा :शब्द योजना
5.4 सृजनात्मक ऊर्जा के संवाहक : प्रतीक
5.5 लेखकीय अनुभवों का मानदंड : बिंब विधान
5.6 नाटक का प्राण तत्व : गीत
निष्कर्ष
6.हिन्दी नाटक : उपलब्धियाँ एवं परिवर्तन की संभावनाएँ **305-355**
6.1 स्वातंत्र्योत्तर जीवन का सही साक्षात्कार : हिन्दी नाटक
6.1.1 कथ्य परक उपलब्धियाँ
6.1.2 विधापरक उपलब्धियाँ
6.1.3 मंच परक उपलब्धियाँ
6.1.4 शिल्प परक उपलब्धियाँ
6.2 परिवर्तन की संभावनाएँ
6.2.1 आधुनिकता : हिन्दी नाटक
6.2.2 परिवेश : हिन्दी नाटक

6.2.3 आधुनिक हिन्दी नाटक : सर्जनात्मक लेखन की प्रासंगिकता
6.2.4 समकालीन हिन्दी नाटककार का स्वप्न और जिम्मेदारी
निष्कर्ष
उपसंहार - **356-364**
संदर्भ ग्रन्थ सूची - **366-371**

भूमिका

भूमिका

परिवर्तन संसार का शाश्वत नियम रहा है। परिवर्तन के प्रवाह में जन जीवन, समाज, संस्कृति, कला सब के सब बहना ही पडता है। स्वाधीनता के बाद भारत की सामाजिक, आर्थिक तथा राजनैतिक परिस्थितियों ने संस्कृति और नाट्याभिव्यक्ति के क्षेत्र में अनेक सवालों को जन्म दिया है। सामाजिक परिवेश ही साहित्य को जन्म देता है, और वही उसको बदलता भी है। इसलिए जातीय संस्कृति या उसके सांस्कृतिक व्यवहारों में परिवर्तन का कारण आर्थिक, सामाजिक, राजनैतिक और सांस्कृतिक परिवेशगत स्थितियाँ ही होतीहैं।

नाटक अनिवार्य और विशिष्ट गुण दृश्यत्व, मानव मन को आह्लादित करते हुए, गहरी सोच की प्रक्रिया में उपादान की भूमिका अदा करता है। अन्य साहित्य रूपों में अपने कथ्य को दृश्यत्व प्रदान करने की क्षमता नहीं होती जबकि इसके विपरीत नाटक अपने कथ्य को दृश्यत्व देता है, फलस्वरूप नाटक का कथ्य दर्शक तक अच्छी तरह और अधिकाधिक रूप से सम्प्रेषित होने की क्षमता रखता है। पचासोत्तर नाटक को समझने के लिए परिवेशगत प्रभावों को समझना है, कथ्य, शिल्प और मंचीय परिवर्तनों को पहचानना आवश्यक है। यही इस अध्ययन का प्रस्थान बिंदु है।

स्वातंत्र्योत्तर किए गए नाट्य प्रयोग अत्यधिक सामाजिक होते हुए भी वैयक्तिक होते गये हैं। व्यक्ति के स्तर पर किए गए ये प्रयोग इतिहास और समाज दोनों के ही मध्य व्यक्ति के अन्वेषण का प्रयास करते हैं। निस्कर्षतः पचासोत्तर नाटककार नाट्य चेतना के वह शिल्पी हैं जिन्होनें नाटकों का निर्माण, नाट्यकृति, दर्शक तीनों के ही स्तर पर किया, जो वास्तविक अर्थों में नाटक का निर्माण कहा जा सकता है। नाटक की निर्माण-प्रक्रिया में धर्मवीर भारती, मोहन राकेश, सुरेन्द्र वर्मा, हबीब तन्वीर, भीष्म साहनी, बी. वी. कारंत, माता प्रसाद आदि अनेक प्रसिद्ध रंगकर्मी के हाथ है।

वर्तमान सांस्कृतिक स्थिति जटिल है। बाजारवाद विश्वसंस्कृति के नाम पर बेचा जा रहा है। उसमें कलागत विशिष्टता कम है और उसका क्षरण अधिक है। इस दौर में नाटक खेलना बहुत मुश्किल बन रहा है। मीडिया क्रान्ति के बाद बेचनेवाला ही स्नर्वोत्तम बन गया है, नारी देह के सौन्दर्य को भी बेचा जा रहा है। इन विषम परिस्थितियों में नाटक जैसे आह्लाद पूर्ण विधाओं को जन–जन तक पहुँचना है। लोकनाट्य और नुक्कड नाटक दोनों एक आशा की किरण है, जो अनवरत रंगयात्रा की रक्षा करते हुए जन समस्याओं को प्रस्तुत कर रहे है।

स्पष्ट है कि नाटक का प्रदुर्भाव मानव की आमोद-प्रमोद व रंग पिपासा तथा उसके शमन की जरूरत के तहत हुआ। आधुनिक युग में तो नाटक केवल मनोरंजन तक ही न सीमित होकर एक गहरी सोच प्रदान करनेवाली विधा के रूप में बाहर आता है। पचास के बाद नाटक केवल विधा न रहकर आंदोलन का रूप धारण करता है। समाज को परिवर्तित करने की मकसद को मूल में रखकर भी जनमन तक पहुँचने की क्षमता रखता है। इस शोध प्रबंध में पिछले पाँच दशकों के हिन्दी नाटककारों और उनके प्रयोगधर्मी रचनाकर्म की उपलब्धियों एवं संभावनाओं को रेखांकित करते हुए कथ्य परक, विधापरक और शिल्प परक स्थिति का आकलन का विनम्र प्रयत्न भी किया गया है।

साहित्य की अन्य विधाओं के परिप्रेक्ष्य में जब हम नाट्यविधा को अधिक उत्कृष्ट होने का समर्थन करते हैं तो इसी आधार पर कि उसकी संप्रेषणीयता की नींव मानव मन की गहराइयों तक अधिक है। इसलिए मैंने शोध के लिए समकालीन नाटक को लिया। परिवर्तन के प्रति मेरी आस्था को बढत्व देने में यह शोध कार्य का महत्वपूर्ण स्थान है। कुल मिलाकर इसमें परिवर्तन की संरचनाओं को प्रवर्तक बिन्दु बनाकर साहित्यिक कोटियों और उनके प्रयोगों को आंकने का प्रयास हुआ है।

अब तक किया गया शोध कार्य में व्यापक रूप से नाटक और रंगमंच पर विभिन्न विषयों को तो समेटा गया है लेकिन नाटक के रंगमंचीय, विधापरक अध्ययन का कोई प्रयास दिखाई नहीं पडता। प्रस्तुत शोध प्रबंध में अनुसंधान की विधि को व्यवस्थित रूप देने के लिए आवश्यक है कि नाटककार के समकालीन परिवेश एवं साहित्य सृजन को पहले देख लिया जाय। फिर उनकी मनोरचना जिन जिन चिन्तनों और अवधारणों से हुई है, उनकी खोज करके अपने आलोक में उनकी नाट्यकृतियों में व्याप्त शिल्प के वैलक्षण्य को, उसकी निजता को परखा जाय।

नाटककार, नाटक में समाज के यथार्थ को कहाँ तक पकड पाता है और उसका किस रूप में विश्लेषण कर पाता है, यही तथ्य खोजने की प्रबल इच्छा मेरे मन में उत्पन्न हुई है। मैं यह जानना चाहता था कि क्या नाटककार समाज की घटनाओं का ज्यों का त्यों विश्लेषण करता है अथवा उसमें परिवर्तन की पुट भी लगा देता है। इस प्रकार के कई प्रश्नों की सन्तुष्टि हेतु इसी को शोध का आधार स्वीकार किया गया।

संपूर्ण शोध कार्य को छः भागों में विभाजित किया गया है। प्रथम अध्याय में नाट्य कर्म का स्वरूप पर विचार किया गया है। नाटक के प्रदुर्भाव के संबंध में भारतीय और पाश्चात्य दृष्टिकोण को बताकर भारतेन्दु और प्रसाद युगीन नाट्य विशिष्टताओं पर विशेष दृष्टि लगाया गया है। स्वातंत्र्योत्तर परिवेश को विश्लेषित करते हुए सामाजिक, आर्थिक, राजनीतिक, सामाजिक एवं सांस्कृतिक परिवेश का साफ चित्रण किया गया है। प्रयोग की आवश्यकता को बताते हुए नवीनतम नाट्य प्रयोगों को संक्षिप्त परिचय दिया गया है। यह अध्याय स्वातंत्र्योत्तर भारतीय परिवेशगत उन सभी तनावों, दबावों एवं मूल्य विघटन आदि की चर्चा करता है।

दूसरा अध्याय कथ्यगत विशेषताओं पर आधारित है। स्वातंत्र्योत्तर हिन्दी नाटक के परिवर्तित कथ्य को उल्लेख करते हुए परिवेशगत प्रतीकात्मक राजनीतिपरक, आर्थिक, कामसंबंधी, साम्प्रदायिक, स्त्रीवादी, दलित चेतनायुक्त आधुनिक विषमता के प्रारूपों पर दृष्टि लगाई। कथ्यगत परिवर्तन पर मूल दृष्टि लगाकर इस अध्याय का मूल्याकन किया गया है।

तीसरे अध्याय के अंतर्गत विधापरक परिवर्तनों का जिक्र किया गया है। हिन्दी नाटक को प्राप्त हुआ आधुनिक विधा गीतनाट्य, लोक नाट्य, नुक्कड नाटक, नाट्य रूपांतरण, अनुवाद के रूप पक्ष को लेकर विश्लेषित किया गया है। इन विधाओं का प्रभाव समकालीन नाटक पर किस प्रकार पडा है और अपनी क्षमता को समकालीन नाटक किस प्रकार व्यक्त की है आदि मुद्धे विवेचन का विषय रहे हैं।

शोध प्रबंध का चौथा अध्याय पचासोत्तर नाटक के मंचीय पक्ष को लेकर चलता है। इस अध्याय के अंतर्गत मैंने नाटककार की रचना प्रक्रिया में रंगमंच की स्थिति,

लेखन से प्रकाशन की यात्रा के पडावों को देखते हुए दर्शक नाटक को कैसे ग्रहण करते है? नाटक में निर्देशकीय संभावनाएँ कितनी है? नाटक में अभिनेताओं की भागीदारी कितनी है? नाटक में ध्वनि, संगीत, प्रकाश आदि उपरंजक कलाओं का संप्रेषणीय सामर्थ कितनी है? आदि व्यवहारिक प्रश्नों का सामना करते हुए रंगमंचीय आधारभूमि के व्यावहारिक आधार को तलाशने का प्रयास किया है।

पंचम अध्याय में शिल्प संबंधी विषयों पर नज़र डाला गया है। यह प्रतिनिधि नाटकों और नाटककारों की भाषा और संवाद योजना का एक विशेष दृष्टि से किया गया अध्ययन है। शब्द योजना, प्रतीक, संगीत इत्यादि भाषिक विशिष्टताओं पर मेरी दृष्टि रही है। इन सब दृष्टियों से नाट्य भाषा के विशेष कथ्य और रूप विधान के बीच अंतः संबंधों को तो उद्घाटित किया ही गया है, इसके अतिरिक्त भाषिक प्रयोगों के संरचनात्मक स्वरूपों को भी उद्घाटित किया गया है।

अंतिम और छठा अध्याय काफ़ी महत्वपूर्ण कहा जा सकता है जो वर्तमान नाट्यकर्म और रंगमंच के सापेक्ष अनेक संभावनाओं को प्रतिपादित करता है। इस अध्याय में पहले इन पचास साल के अंतर्गत प्राप्त उपलब्धियों की चर्चा है। नाटक की क्रान्तिधर्मि भूमिका, आज के दौर में उसकी प्रासंगिकता, सीमाओं और संभावनाओं पर भी सम्यक रूप से विचार किया गया है। अंत में संक्षेप में उपसंहार प्रस्तुत है जो अपनी समग्रता में मूल्यांकन परक है।

इस शोध कार्य के लिए श्रद्धेय **डॉ. वी कृष्ण जी** के प्रति हार्दिक आभार व्यक्त करने के लिए मेरे पास शब्द नहीं है, जिनके कुशल निर्देशन में यह कार्य सुचारू रूप से संपन्न हो सका है। हर समय व्यस्त रहते हुए भी उन्होंने मेरी हर परेशानी को उचित समय पर दूर करने की कोशिश की। आपने अमूल्य समय देकर शोध के शीर्षक से लेकर शोध को संपूर्ण करने में मार्गदर्शन, स्नेह, सहयोग और उत्साह प्रदान किये है। मैं आपका सदैव ऋणी और आभारी रहूँगा।

आदरणीय विभागाध्यक्षा प्रो.शशि मुदिराजजी, प्रो.वेंकटरमण रावजी, प्रो.नूरजहाँन बेगमजी, प्रो. सुवास कुमारजी, डॉ. रवि रंजनजी, डॉ. सर्राजुजी इत्यादि अध्यापक गण के प्रति मैं आभार प्रकट करता हूँ।

मेरे इस शोध कार्य को सफल बनाने में पूज्य पिताजी कृष्णाराव, माताजी कोटेश्वरी का न केवल प्रोत्साहन रहा, बल्कि उनसे यथावश्यक सहायता और सहयोग भी मिला। उनके प्रोत्साहन, उत्साह और प्रेम के बिना यह शोध प्रबंध साकार ही नहीं

होता। भाई सूर्यनारायण, युगंधर, दीदी निर्मला देवी, राज्यलक्ष्मी, पूर्णा के प्रति भी मैं आभार महसूस करता हूँ, जिन्होंने समय समय पर मुझे प्रोत्साहन दिया। इसके अलावा गुरुतुल्य श्री मुद्दु कृष्ण तंत्री, श्रीमती जया समय समय पर अपना सहयोग देते रहे हैं। इसके लिए मैं उनका ऋणी हूँ।

इस शोध कार्य में प्रत्यक्ष रूप से सहायक मेरे अनेक साथियों सत्यनारायण राजु, देवराजु, बोज्जा रवि, अजय, केशव, जी. श्रीनिवास, डी. श्रीनिवास, क्रान्ति, रवीन्द्र, जोगि श्रीनु, दुर्गा प्रसाद, नागराजु, अधिकारी कृष्ण, राजु गोपिसेट्टि, थामस, सुमित्रा, प्रसन्ना, अनिता, सुनीता, रमा, मंगा, पद्मा लता, शरण्या, वंशीप्रिय चक्रवर्ती (पंडु) तथा अन्य मेरे हितैषी के प्रति मैं अपनी कृतज्ञता ज्ञापित करता हूँ।

वेंकट रेड्डी पोतुराजु

प्रथम अध्याय

1. हिन्दी नाटक : परिवेश एवं प्रयोग

1. नाट्य कर्म का स्वरूप
1.1 भारतीय दृष्टिकोण
1.2 पाश्चात्य दृष्टिकोण
1.3 भारतीय नाट्य परंपरा
1.3.1 भारतेन्दु युगीन नाटक
1.3.2 प्रसाद युगीन नाटक
1.4 परिवेश
1.4.1 सामाजिक परिवेश
1.4.2 आर्थिक परिवेश
1.4.3 राजनीतिक परिवेश
1.4.4 धार्मिक परिवेश
1.4.5 सांस्कृतिक परिवेश
1.5 प्रयोग
1.5.1 परंपरा और प्रयोग
1.5.2 प्रयोग प्रगति का चिह्न है
1.5.3 प्रयोग और आधुनिकता
1.5.4 प्रयोग : एक अनिवार्य आवश्यकता
1.5.5 प्रयोग : बनाम नाटक
1.5.5.1 कथ्य परक प्रयोग
1.5.5.2 विधापरक प्रयोग
1.5.5.3 मंच और शिल्प परक प्रयोग
निष्कर्ष

1. हिन्दी नाटक : परिवेश एवं प्रयोग

आज समय बहुत तेजी से बदल रहा है और समय के साथ-साथ सामाजिक स्थितियाँ, साहित्यिक मूल्य एवं साहित्यिक मान्यताएँ सब कुछ उसी परिवेश में बहुत तेजी से परिवर्तित हो रहीं हैं। जैसे परिवर्तन तो एक सहज प्रक्रिया है। हर स्थिति में, हर युग में कुछ न कुछ अवश्य बदलता रहता है। 'बदलाव' संसार का नियम है। कुछ परिवर्तन बाह्य आरोपित होते है, कभी - कभी समाज की आंतरिक ऊंर्जा भी बदलाव की दिशा में योग करती है। यह सब मिलाकर परिवर्तन चाहे प्रकृतिक कारणों से हो या मानव कृत्यों से, वह एक स्वाभाविक तथा आवशंभावी प्रक्रिया है।

परिवर्तन प्रकृति का शश्वत नियम है। परिवर्तन की अभाव में किसी भी समाज का जीवन स्पंदन रहित, मृतप्राय हो जाता है। विकास एवं प्रगति के साथ-साथ परिवर्तन की प्रक्रिया भी निरंतर चलती रहती है। सामाजिक, आर्थिक, राजनीतिक और सांस्कृतिक परिस्थितियाँ देश एवं काल की आवशयक रूप बदलती रहती है। ये बदली हुई परिस्थितियाँ परिवर्तन प्रक्रिया को गति प्रदान करती है। उक्त परिस्थितियाँ भी परस्पर एक दूसरे को प्रभावित करती है इस लिए एक क्षेत्र में परिस्थिति अथवा वातावरण के परिवर्तन से अन्य क्षेत्र अथवा वातावरण में भी परिवर्तन की प्रक्रिया आरंभ हो जाती है।

परिवर्तन समाज में एकाएक उपस्थित नहीं होता है। परिवर्तन की एक निश्चित व सतत प्रक्रिया समाज में निरंतर गतिशील रहती है। प्रक्रिया के पश्चात् वह परिवर्तन जिस रूप से हमारे सामने उपस्थित होता, वही उसका स्वरूप कहलाता है। इसलिए पहले प्रक्रिया व परिस्थितियों एवं मूल्यों का विश्लेषण किया गया है तत्पश्चात् उसके स्वरूप अथवा परिणाम की विवेचना की गयी है।

सामाजिक बदलाव में साहित्य की भी महत्वपूर्ण भूमिका होती है। कहा जाता है कि किसी भी युग का साहित्य उस समय के समाज का आईना होता है। समाज की प्रवृत्तियाँ तत्कालीन एवं समकालीन साहित्य के माध्यम से अभिव्यक्त होती है। नाटक की रचना के मूल में समाज के भीतरी मानवीय संबंधों का बदलाव और उस बदलाव के परिणाम होता है। समकालीन जिंदगी के सामान्य तथ्यों का आधार पर उसके हेतु तक जाने का प्रयास होता है।नाटक दर्शकों के लिए आत्म ज्ञान का, आत्म साक्षातकार का, अपने को पहचानने का एक शक्तिशील माध्यम है।

नाटक साहित्य के सभी रूपों में सर्वाधिक सामाजिक कला है। वह अपने समाज से प्रत्यक्षतः जुडा रहता है, उसे संबोधित करता है। समाज से इस संबंध के कारण नाटक में सामाजिक जीवन का चित्र स्पष्टतः दीख पडता है। किसी काल और समाज के नाटक को देखा जाए, उसमें तत्कालीन समाज की स्थितियों, समाजिक स्तर रहन-सहन, मानवीय आचरण आदि सब का चित्रण होता है। इस संदर्भ में श्री सिद्धनाथ कुमार का वक्तव्य सही है - ***"साहित्य को समाज का दर्पण कहा जाता है तो यह बात सर्वाधिक नाटक के लिए सही है। यहाँ एक प्रश्न जरूर उठता है कि नाटककार अपनी रचना में समाज को चित्रित कर दे या उस की समस्याओं के समाधान की दिशा में पहल भी करे ? अनेक नाटककार मानते हैं कि समाज का यथा चित्र प्रस्तुत कर देना ही नाटककार का उद्धेश्य नहीं। दर्शकों को समाजिक समस्यओं के प्रति जागरूक करना भी उसका उद्धेश्य है।"***[1]

जो बाह्य अनुरोधों को साहित्यकार अतःकरण में स्थान देता है तो अपनी क्रियाशील शक्ती के द्वारा व्यवस्था में और उसी तरह साहित्य जगत में मानवीय व्यवहारों में अवश्य परिवर्तन उत्पन्न करने लगते हैं। भाव यह है कि पहले मूलभूत प्रेरणा लेखक को लगना चाहिए, बाद में उसी का रूप उनकी साहित्य में हम देख सकते हैं। कोई भी दार्शनिक विचारधारा लेखक के लिए आवश्यक लक्षण है। कलाकार किस विषय व्यवस्था के लिए प्रतिबद्ध है, किस वर्ग के पक्ष में खड़ा है, वह सत्याधारित है आदि विषय उल्लेखनीय है। हम इस तथ्य को मत भूलना चाहिए कि कलाकार के अंतर और बाहार के जीवन तत्वों पर उनकी भाव दृष्टि पर व्यवस्था का प्रभाव निरंतर हावी रहता है। स्थूल रूप से कलाकार स्वतंत्र दीखता है लेकिन वास्तव उनके विरीद्ध रहता है। पर भी परिवर्तन पहले एक से ही शुरू होता है बाद में उसके पीछे अनेक पैरों का निदान हम देख सकते हैं।

वस्तुतःसाहित्य जनता का मानसिक स्थितियों का दर्पण है। साहित्य एक ऐसी संस्कृति निर्मित करता है जिसमें सामाजिक परिवर्तन की प्रक्रिया सहज रूप में विध्यामान रहती है। हर युग की अपनी नयी चेतना होती है और उस पुराने से उसका घनिष्ट संबंध होता है, जिस की अपेक्षा उसे नया कहा जाता है। पुराना विषय नया बनाने में परिवर्तन की भूमिका निस्संकोच रूप से प्रधान है।

आधुनिक युग में सैद्धांतिक स्तर पर साहित्य और समाज के बीच विरोध को समाप्त करके दोंनो के बीच एक रिश्ते को स्पष्ट रूप से स्थापित किया गया है। यह आधुनिक युग में ही स्थापित किया है कि साहित्य समाज- का दर्पण है। आगे चलकर

इन मान्यताओं को और अधिक विस्तार मिला। साहित्य को सामाजिक परवर्तन के संदर्भ में एक औजार माना गया है। हमारे यहाँ साहित्य को समाज का प्रतिबिंब माना गया है। किन्तु प्रतिबिंब तो निष्क्रिय होता है। इस के विपरीत बहुत सा ऐसा साहित्य है जिससे समाज के विचारों को बदल दिया, उसे अग्रगामी और प्रगतिशील बना दिया।

वस्तुतः साहित्य जनता का मानसिक परिष्कार करता है, उसे एक विशेष प्रकार का बौद्धिक प्रशिक्षण होता है। वह ऐसी बौद्धिक संस्कृति निर्मित करता है जिसमें सामाजिक परिवर्तन की प्रक्रिया सहज रूप में घटित हो सके। जनता के साहित्य को परिभाषित करते हुए मुक्तिबोध ने लिखा है - ***" जनता के साहित्य से अर्थ है ऐसा साहित्य जो जनता के जीवन मूल्यों की, जनता के जीवनदर्शों को प्रतिष्ठापित करते हो, उसे अपने मुक्ति पथ पर अग्रसर करता हो।"***[2]

भारतीय रंगकर्म का अपना विशिष्ट स्वरूप और चरित्र रहा है, उसका अपना मौलिक सौंदर्य शास्त्र है, और उसके अलग कलात्मक उद्धेश्य, सृजनात्मक व्यवहार तथा पद्धतियाँ हैं। शुरू में नाटक का कथ्य वेदों और पुराणों में चित्रित मिथकों के आधार पर ही बनता था। धीरे-धीरे व्यक्ति समाज के निकट जाकर इसे गहराई से समझने के लिए प्रयत्न करने लगा। फलतः नाटक समाज में पहुँचा है और उसका एक अंग बन गया है। इस प्रकार नाटक का सामाजिक पक्ष बढ़ता गया और आज तो नाटक ऐसी स्थान तक पहुँच गया है जिसमें समाज का सरोकार स्पष्ट दिखाई देते हैं। जनता के निकट जाने की जितनी शक्ति नाटक में है उतनी अन्य विधाओं में असंभव है।

साहित्य के क्षेत्र में 'कला कला के लिए' सिद्धांत का जमाना चला गया है। अब कला लोगों के लिए है। अपने बीच में, अपने माहौल में, स्वयं अपने को साहित्य में देखने के लिए मनुष्य आज उत्सुक है। साधारणतः मनुष्य साहित्य से संबंध रखना चाहता है। अपने को, अपनी समस्यओं को साहित्य में देखकर उसके समाधान की ओर जाना चाहता है। माक्स के अनुसार संघर्ष समाज में जारी रहता है। संघर्ष से ही समाज में और साहित्य में भी परिवर्तन आने की संभावना होती है।

नाटक की विकास यात्रा के दौरान साहित्य की अन्य विधाओं के साथ नाटक का आदान-प्रधान भी हो गया है। इसके कारण भिन्न-भिन्न नाट्य रूपों का जन्म हुआ। स्वतंत्रोत्तर हिंदी साहित्य में कथ्य की दृष्टि में मौलिक एवं विपुल परिवर्तन मिलते हैं। इन परिवर्तनों के कारण, आंतरिक और बाह्य दोनों ही रहे हैं। स्वतंत्रता के प्रप्ति के लगभग एक दशक बाद ही व्यक्ति चेतना का विशेष परिवर्तन स्पष्ट लक्षित होता है।

नाटक की रचना के मूल में समाज के भीतरी मानवीय संबंध की बदलाव और उस बदलाव के परिणाम होते हैं। व्यक्ति, परिवार,समाज,धर्म, राजनीतिक और समग्र परिवेश का संबंध जितना जटिल और संश्लिष्ट होता गया है उसे प्रमाणिक और प्रत्यक्ष रूप में प्रस्तुत करने वाले जीवन्त कला रूप नाटक और रंगमंच का दायित्व भी उतना ही कठिन और चुनौतीपूर्ण होता चला गया है। मानवीय संबंधों में सत्य, अंतर्विरोध और विडम्बना, उत्तर आधुनिकता का प्रभाव आदि समकालीन रंगकर्म की समस्या है। इसी संदर्भ में ब्रेख्त रंगमंच को लक्ष्योन्मुख करते हुए लिखते है कि - ***"हमारी रंगमंच की चिंतन की उत्तेजना को बढ़ाना चाहिए और लोगों को वास्तविकता को बतलाने के आनंद में दीक्षित करना चाहिए। हमारे दर्शक केवल इतना ही सुनें कि प्रमत्यु कैसे स्वतंत्र हुआ, अपितु उसे स्वतंत्र करने के उल्लास में अपने को शिक्षित भी करें। एक आविष्कारक और खोज द्वारा अनुभव किए गए संतोष तथा प्रसन्नता की, मुक्तिगत द्वारा महसूस की गयी विजय की भावना पाने की शिक्षा उन्हें हमारे मंच से मिलना चाहिए।"***[3]

1950-2000 तक के काल में हिंदी नाटकों के क्षेत्र में, अनेक अभिनव प्रयोग हुए हैं। और उनमें समसामयिक जीवन और समाज की बहुविध समस्याओं और प्रश्नों को उठाया गया है। इस युग में नाटक सीधे रंगमंच से जुड़ा है बल्कि जीवन को यथार्थ रूप में देखने की दिशा में भी प्रवृद्ध हुआ है। नाटक का स्वरूप एवं शिल्प बहु आयमी हो गया है। इस काल की भाषा में भावतीर्वता, बोलचाल की सहजता और गतिशीलता, गति और लय की विविधता एक साथ पायी जाती है।

1.नाट्य कर्म का स्वरूप

मनुष्य वाक्शक्ति सम्पन्न सामाजिक प्राणी है। अपने अस्तित्व को बनाये रखने के लिए वह सदा संघर्ष करता रहता है। वह बुद्धि एवं हृदय से युक्त होने के कारण अन्य प्रणियों से श्रेष्ठ है। अन्य मानव और प्रकृति के सम्पर्क में आने पर उसे सुख दुख आदि भावों की अनुभूती होती है। जीवन की अनुभूती और ज्ञान को एकत्रित कर जब नाटककार उन्हें श्ब्द और कर्म के द्वारा अभिव्यक्त करता है, तभी नाटक का सृजन होता है।

साहित्य मानव समाज की चित्तवृत्तियों का प्रतिबिंब है। साहित्य के अने क अंगों में से नाटक का जीवन से अत्यंत निकट का संबंध है। वह जीवन का शुद्ध प्रतिबिंब है, उसमें जीवन की अवस्थाओं का अनुकरण होता है। संस्कृत के आचार्यों ने, 'अवस्थानुकृति नाट्य रूप दृश्य तयोच्छेत' कहा है। यह परिभाषा अपने आपमें पूर्ण है। पाश्चात्य अरस्तू काव्य को जीवन की अनुकृति मानते हैं। वास्तव में अनुकरण करने में

मनुष्य को एक आनंद प्राप्त होता है। नाटक इसी मानवीय भावनाओं के फलस्वरूप उत्पन्न प्रतीत होता है। नाटक विश्व का प्रचीनतम साहित्य है। इसकी उत्पत्ति के मूल में मनुष्य की क्रीडन और अनुकरण प्रवृत्ति है। जब मानव समाज अत्यंत प्रारंभिक अवस्था में या वह अपने बाल-बच्चों की प्राणरक्षा तथा धन-धान्य की संवृद्धि के लिए अनेक प्रकार की धार्मिक उत्सव मनाया था, जिसमें नृत्य और संगीत के साथ वह अपने पूर्वजों का स्वागत करते थे, जिसे 'वीर पूजा' कहा जाता था। यही वीर पूजा संपूर्ण विश्व नाट्य साहित्य का प्रारंभिक स्वरूप है। जब दृश्य काव्यों में अभिनय, वाणी, वेश-भूषा तथा अन्य किसी पात्र का रूप धारण कर नट दर्शकों को प्रभावित करता है तो उसे रूपक कहते हैं। नाटक का संबंध नट है। इस संदर्भ में नाटक के विविध दृष्ठि कोणों पर विचार करना समीचीन प्रतीत होता है।

1.1 भारतीय दृष्टि कोण

प्राय: सभी भारतीय विद्वान इश विष्य में एक ही मत पर खड़ें हैं कि वेद ही नाटकों का मूल है। कई विद्वान नाटक को 'पंचमवेद' मानते हैं। 'काव्येषु नाटकम् रम्यम्' इस पंक्ति से संस्कृत की एक उत्की का प्रारंभ होता है। हिंदी नाटकों में भारतीय संस्कृति को अनुरूप संस्कृत नाटकों के तत्व उपलब्ध होते हैं, जबकि उनका शिल्प और सिद्धान्त पाश्चात्य नाटकों से प्रभावित है।

नाटक का सर्व प्रमुख तत्व उसकी नाटकीयता है। उसमें लेखनीय अनुभूति की गहराई के साथ रंगमंचीय तत्वों विशेषकर गत्यात्मक अथवा द्वन्द्वात्मक स्थितियों के साथ नाटकीय भाषा का प्रयोग होना चाहिए। इस बात को ध्यान में रखते हुए समकालीन सामयिक वातावरण के प्रभाव से इस युग की मूल मनोवृत्ति प्रतीत होता है।

हिंदी नाटक का व्यवस्थित रूप भारतेंदू से ही प्रारंभ होता है, उन्होंने इस कार्य में शामिल होने के लिए सबको आमंत्रित करते थे। 'नाटक' नामक निबंध में देश की उन्नती के लिए नाट्य चिंतन को बढ़ाने की सुझाव देते हैं। उनकी दृष्टि में नाटक - ***"नाटक शब्द का अर्थ है नट लोगों की प्रक्रिया। नट वह है जो विधा के प्रभाव से अपने एवं किसी वस्तु के स्वरूप को फेरे या स्वयं दृष्टिरोचन के अर्थ फिरे। दृश्य काव्य ही संज्ञा रूपक है। रूपक में नाटक ही सबसे मुख्य है। इससे रूपक मात्र को नाटक कहते हैं।"***[4]

भारतेंदू के बाद रंगमंचीय दृष्टि सशक्त दर्शनिक मोहन राकेश को ले सकते हैं। उनकी दृष्टि में नाटक का पूरा मकसद अभिनय होने से ही होती है।

हिंदी नाटक रंगमंच का प्रारंभिक चरण साहित्यिकता, अभिनेयता और रंगमंचीयता का संगम करने में सफल रहा। पचासोत्तर परिवेश नाटककारों को नए सिरे से नवीन टेकनिक तथा प्रयोगों के साथ नाट्य रचना की प्रेरणा दी हो तो कोई आश्चर्य की बात नहीं। मोहन राकेश के दृष्कोण में नाटक इस प्रकार है - ***'A play after all, just a basic structure a skeleton, that assumes its complexion and breathes with the life given to it by the set of actors on the stage.'***

प्रसिद्ध नाटककार डॉ.लक्ष्मीनारायण लाल नाटक को मनुष्य के हित के पक्ष में देखते हैं। यहाँ नाटककार की अनुभूति, संवेदनाएँ सामूहिक अनुभूतियों में घुल मिल जाती है। इस प्रकार नाटककार की अपनी अनुभूति का गन्तव्य सबकी अमुभूति हो जाता है। जैसे - ***"नाटक की विषय वस्तु है एक मात्र मनुष्य और समाज का नाटक। यह कौतुक, मनुष्य का मनुष्य से नाटक, वह चिंतन संघर्ष और वह सारी क्रियाशीलता और उसको कोई धुंधली आकांक्षा। मनुष्य को इन्ही तत्वों को पकड़ना और उसको एक प्रकृत दर्पण दिखाने का काम नाटककार का रहस्य है।"***[5]

नेमिचन्द्र जैन नाट्य रतना के लिए जीवन के अनुभूति स्त्रोतो तक जाना आवश्यक मानते हैं। नाटककार में अपनी भीतर और बाहर दोंनो ही और तीव्रता और गहरी भावना से देख सकने की सामर्थ्य चाहिए, उसके लिए भावना और चिंतन दोनों में जड़ता से बचने की बड़ी भारी अनिवार्यता है। उनकी दृष्टि में नाटक दर्शक तक पहुँचने से ही सक्षम होती है। यथा- ***"नाटक में हर भाव,विचार,पात्र,स्थिति और वातावरण ऐसा होता आवश्यक है कि वह मूर्त और रूपायित हो सके, तभी वह रंगमंच पर काम आ सकता है और दर्शक वर्ग तक पहुँच सकता है।"***[6]

इस प्रकार भारतीय समकालीन दृष्टिकोण में जीवन की प्रवाहमयता की, गति की, चेतना की, प्रधाता होती है। नाटककार को सामूहिक चेतना का भागीदार होनी चाहिए। नाटक में एक साथ ही जीवन के वैयक्तिक और सामाजिक दोनों पक्षों की भाव-प्रतिक्रियाओं की अभिव्यक्ति होती है, क्योंकि वह अमूर्त विश्लेषण नहीं, जीवन्त और मूर्तिमान व्यक्तियों की वास्तविक प्रतिक्रिया के माध्यम से ही सम्प्रेषित होता है।

1.2 पाश्चात्य दृष्टिकोण

पाश्चात्य देशों की सांकृतिक प्रेरणा के मूल स्त्रोत यूनान और रोम हैं। पश्चिमी नाटकों को जानने के लिए यूनान और रोम के नाटकों के बारे मे परिचय प्राप्त करना चाहिए। पश्चिम में नाटक का प्रादुर्भाव पहले पहल युनान में हुआ। पर युनान एवं रोम

के नाटकों के विभिन्न तत्वों का प्रभाव पश्चिमी नाटककारों पर हुआ। यूरोप की नाट्य समीक्षा के प्रथम आचार्य अरस्तू माने जाते हैं। भारतीय नाट्य क्षेत्र में जो स्थान आचार्य भरत की है, वही पश्चमी नाट्य साहित्य में अरस्तू को है।

पाश्चात्य नाटककारों ने भी नाटक की कथा वस्तु को पांच भागों में विभक्त किया है - एक्सपोजीशन (आरंभ), राश्जिंग एक्शन (प्रगति या विकास) ऋइसस (चरम सीमा), डिनाउनमेंट (उतार या निगति), और कैटास्फ्री (पतन या समाप्त)। युनान के नाटकों के संपर्क के कारण सुखांत (comedy) दुखांत (trazedy) नाट्य रूपों का रूप मिला।

अरस्तू का कथन है कि सब कलाएँ जीवन का अनुकरण है। मानव शैशवावस्था से ही अनुकरण प्रिय होता है। सब का अनुकरण कर अभिनय के द्वारा अपने को श्रेष्ठ बताने की चेष्टा करता है। पाश्चात्य में सबसे पहले ट्रेजडी नाटक पर गंभीर एवं विशाद विवेचन करने वाले अरस्तू हैं। महाकाव्य एवं नाटक के तुलना करते हुए ट्रेजडी को महाकाव्य से श्रेष्ठ बतलाया है। क्योंकि महाकाव्य की अपेक्षा दुखांत नाटक का प्रभाव अधिक होता है। उनके ही शब्दों में नाटक इस प्रकार रहना चाहिए - " ***A trazedy, then, is the imitation of an action that is serious and also as having magnitude, complete in it self in language with pleasurable accessories, each kind brought separately in the parts of the work, in dramatic not in a narrative form, with incidents arounding pity and fear, where with to accomplish its catharsis of such emotions."*** [7]

पाश्चात्य नाटकों पर रोमन नाटकों का प्रभाव हुआ। यूरोप के विभिन्न राष्ट्रों में नाटकों का उदय धार्मिक कृतियों से ही हुआ। रहस्य और चमत्कार संबंधी नाटक खेले जाते थे। इन्ही नाटकों से इंग्लैड आदि यूरोपीय राष्ट्रों के आधुनिक नाटकों का विकास हुआ। नव जागरण काल से आधुनिक ढंग के नाटक के दृष्टिगोचर होते है। शेक्सपीयर का प्रदुर्भाव रोमांटिक युग में हुआ। उन्होंने प्राचीन रूढि नियमों की अवहेलना कर रंगमंच के अनुकूल नाटक रचे।

किन्तु शेक्सपीयर के पश्चात नाटक क्षेत्र कुछ काफी फीका ही रहा लेकिन रेसीन एवं हयूगो, टी. डब्लू. राबर्टस्न अपने अपने समसामयिक जीवन को अभिव्यक्त किया। उन्होंने नाटकीय प्रभाव चरित्र-चित्रण वस्तु संगठन एवं भाषा भाव में अपने रचना कौशल दर्शाया। ज्यादातर वे जीवन के बारे में, जीवन के रसात्मक तत्वों को

प्रस्फुटित करने का प्रयास किए है। इस लिए नाटक की परिभाषा देते हुए निकोल कहते है कि - ***" Drama is a Copy of life, a mirror of Custom, a reflection of truth."***[8]

उन्नीसवीं शताब्दी में नार्वे में नाटक के आसाधारण कर्तु इब्सन का प्रादुर्भाव हुआ। उन्होंने सर्व प्रथम पाश्चात्य नाटकों में सामाज का यथार्थ चित्र प्रस्तुत किया। सामाजिक और वैयक्तिक समस्याओं का मनोविश्लेषनत्मक ढंग से हल करने का प्रयास किया। पात्रों के अंतर्गत का भी जीवन चित्रण किया। इसके बाद जार्ज बर्नाडशा सामाजिक जीवन से अधिक प्रभाव होकर समस्या प्रधान और प्रश्न प्रधान नाटक लिखे। राजनीति, समाज अर्थ, दर्शन सब पर अपने व्यंग्य का प्रहार किया है।

आधुनिक पाश्चात्य नाटककारों में ब्रेख्त का स्थान अद्वितीय है। ब्रेख्त ने नाटकों से भावुकता और रूढिगत नाटकीय सज्जा की केंचुली उतार फेंकी है। वह 'विचार' के कपडे उतारकर उसे नंगा कर देता है, जिससे हम उस स्वस्थ शरीर और अंगों को देख सके। ***" बेख्त के अभिनेता केवल अभिनय ही नहीं करता, बल्कि इसका प्रदर्शन भी करता है। उनके नाटकों में अभिनेता केवल दोहरा जीवन ही नहीं जीता, बल्कि वह एक तीसरे रूप में भी प्रकट होता है ; जो इतिहास के इसी प्रकार के अन्य पात्रों का आईना भी बन जाता है।"***[9]

इसी प्रकार पाश्चात्य और भारतीय नाट्य प्रक्रिया दोनों परस्पर अन्योन्याश्रित है। पश्चिमी नाटकों में रस को स्थान नहीं मिला है। पाश्चात्य नाटकों का दृष्टिकोण बुद्धिवादी अधिक है। अतः रस को प्रधानता देने के कारण भारतीय नाटक सुखान्त ही होते हैं। यूनान और रोम की परंपरा से प्रभावित पाश्चात्य नाटक कला में संघर्ष और घटनाओं की समाप्ति दुखांत रूप में होती है। इस प्रकार भारतीय और पाश्चात्य साहित्य में भी जनसामान्य के जीवन में भावात्मक अभिव्यकति मिलती है।

1.3 भारतीय नाट्य परंपरा

मनुष्य में मनोरंजन की प्रवृत्ति नैसर्गिक होती है। शरीर की भूख-प्यास मिटने के लिए जिस प्रकार अन्न-जल, वस्त्रादि आवश्यक है। उसी प्रकार मन की तृष्टि के लिए मनोरंजन आवश्यक है। विश्राम के समय में अपनी थकावट को दूर करने के लिए भी गीत कथा द्वारा अपना मनोविनोद करता रहा धीरे धीरे उनमें अभिनय कला भी सम्मिलित हुई। नाटक का अपना महत्व है क्योंकि ये जन जीवन के अति निकट होते हैं। सामान्य जनता के मनोरंजन के लिए ये प्रमुख साधन है।

संस्कृत नाटकों की परंपरा ईसा से 50 वर्ष पूर्व अश्वघोस से प्रारंभ हुआ था। सारिपुत्र, राष्ट्रपाल, आदि नाटकों में अश्वघोस गद्य एवं पद्य दोनों का प्रयोग किया है. अश्वघोस ने संस्कृत की जिस नाट्य परंपरा की स्थापना की उसका उत्कर्ष कालिदास के नाटकों में हुआ है। कालिदास ने भास, सोमिल और कविपुत्र को कविपुत्र को अपना अग्रज माना है। भास की रचनाओं में स्वप्नवासवदत्ता, चारूजत्त तथा प्रतिमा आदि प्रसिद्ध है। इनके नाटकों में कार्यक्षिप्रता, सरल चरित्र चित्रण तथा रूप विन्यास अदभुत है।

संस्कृत नाटककारों में कालिदास अप्रतिम नाटककार हैं। इन्होंने विक्रमोर्वशीय, मेघदूत, मालविकाग्निमित्र, तथा अभिज्ञान शाकुन्तलम जैसे विश्व प्रसिद्ध नाटकों की रचना की है। भारतीय और पाश्चात्य मंचों पर कई बार अभिनीत होकर विश्वश्रेष्ठ नाटकों में स्थान प्राप्त किया है। कालिदास के परवर्ती काल में शूद्रक का मृच्छकटिक सर्वश्रेष्ठ नाटकों में एक है। इस नाटक में सामान्य जीवन के विभिन्न चरित्रों की स्वाभाविकता, वस्तुविन्यास की गतिशीलता और वैविध्यपूर्ण संवाद इसे जीवन के इतना निकट पहूँचा देते हैं कि हर युग का प्राणी अपना प्रतिबिम्ब देख जा सकता है।

हर्षवर्धन के प्रियदर्शिका, नागानंद, और रत्नवाली नाटकों में अलंकार तथा चेतना का आभास मिलता है। विशाखदत्त का 'मुद्राराक्षस' अपने ढंग का एक अनूठा नाटक है। 'उत्तर राम चरितम' के रचयिता भवभूति को भारतीय आचार्यो ने कालिदास के अनंतर दूसरा स्थान दिया है। 'उत्तर राम चरितम' में वियोगी राम की अन्तर्वेदनाओं का दृश्यस्पर्शी वर्णन है और 'मालती माधव' में दो प्रेमी हृदयों के मिलन में आनेवाली अनेक बाधाओं और संघर्ष का चित्रण है। पहली बार मानवीय संवेदनाओं का सही चित्रण भवभूति की रचनाओं में मिलता है।

भवभूति के बाद संस्कृत नाटकों में ह्रासोन्मुखता परिलक्षित होती है। इस काल के प्रतिनिधि नाटककारों में मुरारी, राजशेखर, जयदेव और क्षेमेश्वर का नाम उल्लेखनीय है। अनर्घ राघव, बाल रामायण, प्रसन्न राघव तथा चण्डी कौशिक सभी काव्योपजीवी, क्रियान्वितिहीन और नाटकीय गुणों से रिक्त है। धीरे-धीरे मुगलकाल में नाटक रचना प्रायः बन्द सी हो गई। उनके अभिनय तो पहले ही बन्द हो चुका था, किन्तु लोकजीवन में लोकनाटकों के रूप में नाट्य परंपरा जीवित रही। इसी क्रम में सत्रह से लोकर उन्नीसवीं तक अनेक लोक नाटक उपलब्द होते हैं जो ब्रज भाषा में रचे गये है।

लोक नाटक और ब्रजभाषा नाटकों के पश्चात् कुछ ऐसे नाटक और परिस्थितियाँ प्रकाश में आये जो हिन्दी नाटक की पृष्ठभूमि में विद्यमान रहीं। इस सन्धिकाल में भारतेन्दु के पिता गोपालचन्दु गिरिधरदास द्वारा 'नहुष' नाटक को हिन्दी का प्रथम नाटक मानते हैं। इसके बाद भारतेन्दु हरिचन्द्र ने अपने नाटकों द्वारा आधुनिक नाट्य जगत को सुसंपन्न किये थे।

1.3.1 भारतेन्दु युगीन नाटक

हिन्दी नाटक का व्यवस्थित रूप भारतेन्दु से ही प्रारंभ होता है। भारतेन्दु का उदय से हिन्दी नाट्य रचना को एक नई दिशा प्राप्त हुई। भारतेन्दु और उनके समकालीन नाटककारों ने सामाजिक, राजनैतिक परिस्थितियों से अपने को सम्बद्ध कर, प्रचीन परंपरा और संस्कृत नाट्य शिल्प के महत्व को स्वीकार करते हुए भी, जिन नाटकों की रचना की, वे सोद्धेश्य तथा लोकमंगल की भावना से ओत प्रोत है। भरतोन्दु का संपीर्ण जीवन हिन्दी को 'नईचाल' में ढालने तथा नई विधाओं को जन्म देने और साहित्य सृजन के द्वारा देश वत्सलता के आदर्श को स्थापित करने में बीता है, तदापि हन्दी नाटकों के समर्थ नाटककार होने के नाते उनकी दृष्टि अपने समाज की परिस्थितियो और राजनैतिक, धार्मिक समस्याओं की ओर भी गई।

भारतेन्दु युग में अंग्रेजी साहित्य के संपर्क के फलस्वरूप जनता को अपने धार्मिक विश्वासों को प्रकट करने की स्वतंत्रता थी। सामाज में धर्म के आधार पर ही पुनर्जागरण के कार्य को आगे बढाया गया। फलतः पौराणिक आख्यानों को लेकर नाटकों की सृष्टि की गई। राम और कृष्ण को चरित्र नाटकों के रूप में प्रस्तुत किया गया। समसामयिक, सामाजिक, आर्थिक, रायनीतिक एवं साहित्यिक गतिविधियों के प्रति पूर्णतः सचेत रहकर अभिव्यजना का सर्वौत्कृष्ट माध्यम उन्होंने नाटक को चुना। हिन्दी नाट्यकला के प्रवर्तक के रूप में भारतेन्दु ने जो नेतृत्व ग्रहण किया उसकी छाया में उससे प्रेरित होकर भारतेन्दु के समकालीन अन्य नाटककारों का मण्डल भी साहित्य श्रेत्र में अवतरित हुआ।

भारतोन्दु काल में साहित्यिक नाटकों को प्रहसन और व्यंग्य रचनाओं की प्रधान होने लगी। वास्तव में पाश्चात्य कामेडी के आधार पर भारतेन्दु युगीन लेखकों ने सामाजिक और राजनैतिक कुरूतियों और दुर्भलताओं पर व्यंग्य किया। भारतेन्दु की 'वैदिक हिंसा हिंसा न भवति' नाटक में मांसाहारी, मद्यप,पशुबलि करनेवालों का मजाक उढाया गया। उस काल के नाटकों में बहुविवाह, वेश्यावृत्ति, बाल विवाह, स्त्रियों की हीनदशा, अविद्या, सूदखोरी, आचार हीनता, अंग्रेजी शिक्षा,सामाजिक और

धार्मिक कर्मकाण्ड, पुरोहितों, पण्डों और स्वार्थ का ध्यान रखकर दान इत्यादि विषयों पर आधिक प्रहसन लिखे गये। इन पर डॉ. सुशीलधीर का कथन सही है कि -

"प्रहसनों द्वारा सामाज सुधार का अन्दोलन पश्चिमी में सहले से प्रचलित था। भारतेन्दुयुगीन नाटककारों ने उससे प्रभावित होकर ऐसे नाटकों की रचना की, यद्यपि यह प्रश्न विचारणीय है कि समाज सुधार का यह प्रयोग मात्र प्रलाप ही सिद्ध हुआ। न उससे साहित्यिक नाटकों को कोई गरिमा प्रधान हुई और न सामाजिक चेतना को ही बल मिला, किन्तु तत्कालीन समाज के मानसिक दौर्बल्य को इन हास्यरसात्मक ग्रन्थों ने शिथिल किया, इसमें दो मत नहीं हो सकते"[10]

सामाजिक जीवन में उत्थान और जन जागरण की भावना से प्रभावित होकर, इस काल में बहुत कम किन्तु महत्वपूर्ण ऐतिहासिक नाटकों की सृष्टि भी हुई। स्वयं भारतेन्दु ने अनुवाद के लिए तथा मौलिक रचना के लिए ऐसे पात्रों और कथानकों को चुना, जिनमे इतिहास के संदर्भ में अपने देश भक्ति देश और धर्म तथा जाति-रक्षा के लिए समर्पण का भाव था। राष्ट्रीय नाटकों में देश की वास्तविक स्थिति को लेखकों ने प्रस्तुत करने की चेष्टा की। फलतः नाटक में सामाजिक और धार्मिक वर्ण्य विषय ही नहीं वरन् राष्ट्रीय और ऐतिहासिक विषयों पर भी नाट्य रचना हुई।

सुधारवादी चेतना से युक्त नाटकों की रचना भी भारतेन्दु युगीन अपनी विशिष्टता रही है। भारतेन्दु व उनके मंडल के अन्य नाटककरों ने तत्कालीन परिवेशगत समस्याओं को प्रस्तुत करते हुए ऐसे नाटक भी लिखे जिनकी पृष्ठभूमि में नवजागरण का संदेश निहित था। इश क्रंम में समाविष्य होने वाली नाट्य रचनाओं में हरिश्चन्द्र का प्रेमयोगिनी, पंडित बालकृष्ण भट्ट का 'जैसा काम वैसा परिणाम', बाबू राधाकृष्ण दास कृत 'दुखिनी बाला', प्रताप नारायण मिश्र के नाटक 'गोसंकट' इत्यादि विशेष ध्यातव्य है।

प्रहसनों की परंपरा भी भारतेन्दु युग की एक महत्वपूर्ण उपलब्धि है। भारतेन्दु 'वैदिक हिंसा हिंसा न भवति' तथा 'अन्धेर नगरी', राधाचरण गोस्वामी का 'तन-मन-धन-गोसाईजी के अर्पण' प्रताप नारायण मिश्र कृत 'कलि-कौतुक', किशोरी लाल गोस्वामी का 'चौपट-चपेट' आदि ऐसे प्रहसन हैं, जिनका उद्धेश्य जनमनोरंजन के साथ-साथ जन शिक्षा तथा व्यंग्यपूर्ण रहा।

संक्षेप में कहा जा सकता है कि भारतेन्दु युग के नाटककारों ने पुरातन व नवीन शैलियों का समन्वित रूप अपनी रचना में समाविष्ट किया। पौराणिक

ऐतिहासिक नाट्य रचना के साथ कुछ ने प्राचीन शैली को बरकरार रखा तो कतिपय लेखको ने सुधारवादी नाटकों की रचना कर नवीन को प्रमुखता दी। नवोत्थान व नवजागरण की किरणों के साथ भारतेन्दु युग का उदय हुआ। जिस प्रकार की चेतना से निर्मित नाटक आज हमारे बीच मौजूद है, उनके लिए जमीन भारतेन्दु युग में ही तैय्यार हुई। यह युग साहित्य निर्माण का युग है। डॉ. गिरीश रस्तोगी की राय भी यही है कि - ***"भारतेन्दु युग के साहित्य में देश भक्ति, लोकहित, सामाजिक एवं धार्मिक पुनर्निर्माण और स्वतंत्रता की चेतना उदभूत हुई। इसी युग में देश के जन जीवन में राजनैतिक चेतना का जागरण हुआ और नवशिक्षित मध्यवर्ग ने अंग्रेजी की साम्राज्यवादी नीति, आर्थिक शोषण, काले-गोरे के भेद भाव का विरोध प्रारंभ किया। उस युग के साहित्यकारों ने देश को पारस्परिक भेदभाव भूलने की प्रेरणा दी और संगठित जागरण का मंत्र दिया।"***[11]

भारतेन्दु युगीन नाटककारों ने संस्कृत की नाट्य शैली के महत्व को पुनरूत्थान की दृष्टि से स्वीकार किया है। शिल्पगत दृष्टि से उन्होंने उस काल में प्रचलित पाश्चात्य नाटकों से भी प्रभाव ग्रहण किया। संस्कृत नाटकों की परंपरा में दुखाःत नाटकों के लिए कोई स्थान नहीं है, किन्तु भारतेन्दुयुगीन नाटकों में लौकिक प्रेमयुक्त और दुखान्त नाटक भी लिखे गये।

भारतेन्दु युग के नाटकों के कला शिल्प के माध्यम से निखारने और उनमें जीवन शक्ति फूँखने का खार्य स्ययं भारतेन्दु के व्यक्तित्व ने किया। वास्तव में भारतेन्दु ने भाषा को सँवारा, भावों को नवजागरण से समृद्ध किया। और कला का विभिन्न रूपों में सार्थक प्रयोग किये है। भारतेन्दु और उनके समकालीन नाटककारों ने उनके निर्देशन में जिस नाट्यकला को जन्म दिया, वह अप्रतिम और इतिहास में अपना विशेष स्थान रखती है। अतः उस युग के नाटक भारतीय पुरातन तत्वों के साथ अंग्रेजी नाटकों के लक्षण भी प्रदर्शित करते है।

भारतेन्दु के जीवन काल में प्रतानारायण मिश्र, राधाकृष्ण दास बालकृष्ण भट्ट, राधा शरण गोस्वामी आदि नाटककारों ने नाट्यशैली की दृष्टि से ही प्रेरणा नहीं ली, अपितु वर्ण्य विषय, चरित्र और भाषा सभी श्रेत्रों में भारतेन्दु को अपना मार्गदर्शक माना निश्चय ही यह भारतेन्दु की साधना का ही प्रतिफल है। उन्होंने तत्कालीन सामाजिक और राजनैतिक परिस्थितियों में यथार्थवादी विषयों का चयन किया, धार्मिक और पौराणिक मान्यताओं में भावना का चरम रूप प्रतिपादित किया और प्रहसन तथा प्रतीक बाह्य शैली को स्वीकार कर दर्शकों और लेखकों दोनों को नई दृष्टि प्रदान की। भारतेन्दु के बारे में डॉ. रामविलास शर्मा की राय सही लगती है उन्होंने कहा

है कि - ***भारतेन्दु ने अपने किसी नाटक को रूपक लिखा है, किसी को व्यायोग, किसी को सट्टक, किसी को नाट्य रासक, गीति रूपक, प्रहसन, नाटिका इत्यादि। नाटकों का यह विभाजन उन्हें अंग्रेजी साहित्य से नहीं मिला। संस्कृत के पुराने रपू लेकर भारतेन्दु नये दृष्टिकोण से उसका सजीव उपयोग कर सके। यह उनकी प्रतिभा का प्रमाण है और उन पुराने रूपों की सजीवता का भी।"***[12]

1.3.2 प्रसाद युगीन नाटक

प्रसाद का युग कई दृष्टियों से सामाजिक,सांस्कृतिक, आर्थिक और राजनैतिक क्षेत्र में नवीन परिवर्तन का युग था। परिवर्तन यद्यपि प्रसाद युग से पूर्व भी अपना प्रभाव और प्राधान्य प्रकट कर चुके थे। किन्तु महायुद्ध के बाद उनमें जो तीव्रता आई, उससे देश की दमनियों में नये रक्त का संचार नहीं हुआ, वरन् स्वत्तरता के लिए विद्रोह के नये स्वर भी उभरे। वस्तुतः प्रसाद और उनके सध्योगियों के संपूर्ण छायावदी साहित्य में राष्ट्र का तारूण्य और उसका रागात्मक गुरूत्व ही मुखर हुआ है। एक विलक्षण उर्जा से समन्वित यह साहित्य इसलिए अपना एक अलग स्थान रखा है।

जयशंकर प्रसाद नाट्य रचयिता थे, नाट्य प्रयोक्ता नहीं। ऐतिहासिक जीवन पर लिखे गए उनके नाटक सांस्कृतिक विचारधारा, भारतीय गौरव, देश भक्ति और प्रेम से परिपूर्ण रहे। जहाँ भारतेन्दु हरिचन्द्र ने हिन्दी नाटक एवं नाट्यकला को प्रवर्तमान किया वहीं आगे चलकर प्रसाद ने उसे एक दिशा प्रदान की। प्रसाद युग में जनता अंग्रेगी सभ्यता पर मुग्ध होकर भारतीय आदर्शो व सांस्कृतिक मूल्यों की उपेक्षा करने लगे थे। प्रसाद ने नाट्य-सृजन को ऐतिहासिक धरातल पर खडी किया और उसी जमीन को उन्होंने नाट्याभिव्यक्ति का प्रमुख माध्यम बनाकर अतीत के परिप्रेक्ष्य से देशवासियों को अवगत कराया, राष्ट्रीयता के साथ-साथ विश्वप्रेम का संदेश भी दिया। चन्द्र गुप्त और स्कंदगुप्त ऐतिहासिक नाट्य कृतियाँ होते हिए भी आधुनिकता से अछूती नहीं रह सकी हैं।

यद्यपि प्रसाद के प्रारंभिक नाटकों की प्रेरणा द्विवेदी युगीन है, किन्तु उनमें भी यत्किचित भावी छायावादी नाटककार के व्यक्तित्व का आभास मिलता है। उनकी अंतिम कृति 'ध्रुवस्वामिनी' के संबंध में यह कहा जाता है कि वह इब्सन आदि के प्रभाव स्वरूप नवीन नाट्य प्रयोग है, किन्तु ध्यानपूर्व विचार करने पर वह भी एक छायावादी प्रवृत्ति से अपने को मुक्त नहीं कर पाई इस संदर्भ में डॉ. गोविन्द चातक की वक्तव्य समीचीन लगता है कि -

"प्रसाद ने प्राचीन ऐतिहासिक और सांस्कृतिक श्रेत्रों से प्रेरणा ग्राहन कर नाट्य रचना की। इस से हमें कोई आप्ति नहीं, किन्तु सच्चा यह है कि प्रसाद के अतीत दर्शन में भी छायावाद की स्वच्छंदतावादी प्रवृत्ति का हाथ रहा है। प्रसाद ही नहीं समस्त छायावादी कवि अतीत से अनुकरक्त थे। अतीत के प्रति यह अनुरक्त यद्यपि भारतेन्दु युग से प्रारंभ से ही चुकी थी, किन्तु उस युग में अतीत के प्रति पुनरुद्धार का भाव ही मुख्य था। प्रसाद आदि में उद्‌बोधन की अपेक्षा रमण का भाव मुख्य है। उनका अतीत प्रेम वर्तमान की दासता, असंतोष और आदर्श हीनता तथा पुरातन, नैसर्गिक और उदात्त जीवन के प्रति सराहना भाव को कारण स्वाभाविक लगता है।"[13]

प्रसाद की नाट्य वस्तु का मूल आधार इतिहास है। उनके प्रत्येक नाटक की परिकल्पना युग के संदर्भ पर आधारित है। वे वस्तु और पात्र का ऐतिहासिक संस्कार करने में अपूर्व कौशल दिखाते हैं। किसी प्रसंग, देश काल की ऐतिहासिक परिधि में देखने की क्षमता तो वे प्रकट ही है। कुल मिलाकर प्रसाद के नाटकों की आत्मा भारतीय है। अधिकांश परिवर्तन जो नाट्य रचना में पाश्चात्य प्रभाव से ग्रहण किए, वे प्रायः नाटक के बाह्यांग से संबंधित है।

प्रसाद के नाटकों में मिश्रित शैली-शिल्प परिलक्षित होता है। उनके नाटकों में रंगमंच पर ऐसे दृश्य का समावेश है जो भारतीय नाट्य परंपरा दृष्टिकोण से वर्जित है। उदाहरण के लिए युद्ध, मृत्य, हत्या, आत्महत्या इत्यादि जैसे दृश्यों का रंगमंच पर विधान पाश्चात्य शैली के प्रभाव को स्पष्ट करता है। लेकिन ***"रंगमंचीय दृष्टि से प्रसाद के नाटक उपयुक्त सिद्धांत न हो सका। इसका अभिनेय नाटकों का अभाव रहा। प्रसाद के नाटकों पर भी दार्शनिकता से बोझिल कथोपकथनों, अलंकरण, गम्भीरता, कवित्व, भावात्मकता, चमत्कारप्रवृत्ति- आधिक्य इत्यादि का आरोप विद्वान लगाते रहे हैं।"***[14]

नाटक और रंगमंच के क्षेत्र में प्रसाद युग पाश्चात्य प्रयोगों को वहीं तक स्वीकार किया है जहाँ तक वे उन्हें भारतीय परंपरा में आत्मसात् करने की क्षमता रखते थे। इसी दृष्टि से उन्होंने राज्यश्री से लेकर अजातशतृ तक और स्कंदगुप्त से लेकर ध्रुवस्वामिनी तक अनेक रूपों में परंपरा का अन्वेषण किया है। इसी प्रकार नाटक और रंगमंच की यथार्थवादी परंपरा का विरोध करने में भी उन्होंने अपनी दूरदर्शिता का परिचय दिया है।

नाट्य वस्तु के विभाजन में प्रसाद ने कार्यावस्थाओं, अर्थ प्रकृतियों और संधियों को ध्यान में रखते हुए भारतीय नाट्य परंपरा का ही अनुकरण किया है। प्रसाद के

नाटक कथानक की दृष्टि से जठिल है और इसीलिए उनमें कार्यावस्थाओं का सही समावेश नहीं हो पाया है। अजातशतृ, स्कंदगुप्त तथा चन्द्रगुप्त में कथावस्तु का बिखराव सघन प्रभावशाली अंत की दृष्टि से ही बाधक नहीं होता, वरन् वह नाट्य संधियों को जोडने में भी असमर्थ लगता है।

प्रसाद युगीन अन्य नाटककारों में विशेष रूप से जिनका नाम उल्लेखनीय है उनमें गोविन्द वल्लभ पन्त, पाण्डेय बेचन शर्मा उग्र, सेठ गोविन्द दास, हरिकृष्ण प्रेमी, आचार्य चतुर सेन शास्त्री, उदयशंकर भट्ट आदि को समाविष्ट किया जाता है। उन्होंने अनभिनेय अधिक अभिनेय कम नाटकों की रचना की। उस युग के नाटकों पर संस्कृत नाट्य परंपरा का प्रभाव स्पष्ट रूप से दिखाई पडता है।

प्रसाद के नाटकों की भाषा एक निश्चित और समृद्ध अर्थ का संचरण करती है और उनकी पूरे नाटकीय परिकल्पना के अनुकूल है। प्रसाद के भाषा एक निश्चित दिशा में अर्थ का संधान करते हैं। हम सीधे यह कह सकते है कि प्रसादयुग रंगमंचीय दृष्टि से तो बहुत पिछडा रहा। लेकिन प्रसाद युगीन नाटक आधुनिक नाटककार के लिए एक नया जमीन तैय्यार की है। एक नयी सोच प्रसाद करके पचासोत्तर नाटककारों को, उनके प्रयोग करने के लिए क्षमता प्रदान की गयी है।

1.4 परिवेश

परिवेश शब्द सामान्य अर्थों में किसी कलाखंड का द्योतक है। लेकिन व्यापक अर्थ में परिवेश एख वैशिष्ठ्य का संचालक है. साहित्य और परिवेश के बीच अटूट संबंध है। इन दोनों को अलग करके नहीं देखा जा सकता है। क्योंकि कोई भी साहित्यकार कभी भी अपना परिवेश निस्कृत नहीं कर सकता है। परिवेश ही उसकी रचना का स्रोत है और परिवेश ही उसकी रचना में अभिव्यक्ति पाता है। इसलिए परिवेश रचना का प्राणतत्व है।

वस्तु और चेतना में घनिष्ट संबंध है। ऐसा ही संबंध लेखक के परिवेश और उसकी रचना में है। लेखक अनिवार्य रूप से अपने परिवेश से प्रभावित होता है। वह अपनी रचना के लिए विषय वस्तु और भाषा ही नहीं, रूप भी अपने परिवेश से ही प्राप्त करता है। लेकन यहाँ प्रस्तुत मान्यता में सरलीकरण का जो खतरा है, उसको समझ लेना आवश्यक है। जिस तरह वस्तु और चेतना का संबंध एक सरल संबंध न होकर अत्यंत जठिल संबंध होता है, उसी तरह लेखक के परिवेश और रचना का संबंध भी सरल न होकर अत्यंत जटिल होता है।

लेखक के परिवेश और रचना के संबंध पर सबसे ज्यादा बल मार्क्सवादी आलोचक देते हैं।मार्क्स के अनुसार समाज की अर्थव्यवस्था आधार होती है और राजनीति, धर्म, संस्कृति, अथवा दर्शन ऊपरी ढाँचा। परिणामतः जैसे आधार बदलता है, ऊपर ढाँचा भी उसके अनुसार बदलता है। परिवेश में अनेक ऊपरी चीजें बदलती है वह बदलाव ऐतिहासिक क्रम से चलता रहता है। किसी रचना की प्रामाणिकता को परिलक्षित करते समय उसकी परिवेशगत अनुभवों को भी लेकर चलना पडता है। 1950 से लेकर 2000 तक के हिन्दी नाटकीय साहित्य को सही नजरिये से समझना है तो उस समय के परिवेश को स्पष्ट रूप से परिचित कराना पडता है। इन पचास वर्षों में आर्थिक राजनीतिक सामाजिक और धार्मिक परिवेश को परखने से हिन्दी आधुनिक नाटक के सकारात्मक परिप्रेक्ष्य से हम परिचित होते है।

स्वतंत्र्योत्तर हिन्दी नाटक सामाजिक जमीन से उत्पन्न नाटक हैं। उसकी सामाजिक जडें अत्यंत गहरी है। 1950 से 2000 का समय और समाज विभिन्न परिवर्तनों परंपरागत मूल्यों के बीच उत्पन्न संघर्ष नई और पुरानी पीढियों के बीच पैदा होनेवाली मानसिक उलझनों का साक्षात्कार है। व्यक्ति और समाज के संबंधों में मूलभूत परिवर्तन आ चुके है। स्वतंत्रता के बाद घटित साहित्य में एक नई भारतीय परिवेश वर्तमान है। लेकिन जिन आदर्शों एवं मूल्यों की प्रतिष्ठा स्वतंत्रता से पहले रही उन्ही आदर्शों तथा मूल्यों का विघटन स्वतंत्रता के बाद होने लगा।

स्वतंत्रता से पूर्व जीवन की एक दिशा थी। लोगों के एक सुनियोजित लक्ष्य था और उस लक्ष्य की पूर्ति के लिए सेवा, संकल्प, त्याग और बलिदान के अपेक्षित आदर्श थे। स्वतंत्रता से आयी तो लक्ष्य प्राप्ति के साथ ही उससे संबद्ध आदर्श भी आँखों के आगे से गायब हो गये थे। उसके कारण से स्वार्थ केन्द्र तक पहुँच गया। इससे कई विसंगतियाँ पैदा हुई। बेकारी, भुखमरी, सामान्य का अन्याय, असमानता, दलित-दमन. काला-बाजारी, शोषण, भ्रष्टाचार, भाई-भतीजावाद, सिद्धांत हीनता, चरित्र हीनता कुल मिलाकर सारे परिवेश और जीवन मूल्य टूटते दिखाई पडते है।

स्नतंत्रता के बाद देश में एक नवोत्थान और नव जागरण तथा औद्योगिक सामाजिक आर्थिक राजनैतिक विकास के लिए द्वार खुले थे, वहीं पर सामाजिक, राजनैतिक, आर्थिक विसंगतियों और विषमताओं का शुरआत भी हुआ था। फलतः भारतीय जन जीवन अनेक उलझनों और समस्याओं का शिकार हुआ। जिससे सामाजिक विडंबनायें बदलने और परंपरागत मूलयों के लिए व्यक्ति की आस्था टूटने लगी। पचासोत्तर परिवेश ने हरेक भारतीय को नये सिरे से सोचने के लिए विवश किया। इससे परंपरा और नवीनता के बीच का द्वन्द्व उत्तरोत्तर बढता ही रहा। सारांश

यह है कि स्वतंत्रता के बाद की सामाजिक स्थिति, नारी उत्थान दलित चेतना, वैज्ञानिक उपलब्धियाँ बढती सांप्रदायिकता और आधुनिकता में छिडे संघर्ष ने एक वैचारिक द्वन्द्व को जन्म दिया।

भारतीय स्वतंत्रता विश्व के इतिहास में एक महत्वपूर्ण घटना है। यहाँ तक कि भारतीय स्वातंत्र्य आज हमारे समक्ष एक कालदंड के रूप में अपना स्थान ग्रहण कर चुका है। स्वतंत्रता ने परिवेश को भी पूर्ण रूप से प्रभावित किया है। स्वाधीनता से पहले का भारतीय वातावरण स्वतंत्रता पूर्व और उसके बाद का स्वातंत्र्योत्तर परिवेश के नाम से समझा जा सकता है।

गुलामी भारत का चित्र आजादी के बाद अनेक अंशों में परिवेशगत झलक मिलता है। स्वतंत्रता के पहले भारतीय जन जीवन का उतना भौतिकवादी नहीं रहा जितना कि स्वतंत्रता के बाद। स्वतंत्रता के बाद से ही जनता की जीवन दृष्टि में तेजी के साथ परिवर्तन आने लगा। दबी हुई मानवता को उजागर करने के लिए समाज में व्याप्त समस्याओं से जूझते हुए व्यक्ति को नवीन दिशा प्रदान करते हुए परिवर्तनशील विचारधारा का प्रसार निरंतर होता रहा।

आज व्यक्ति भौतिक पारंपरिक सुखों की प्राप्ति के लिए जितना अधिक प्रयत्न करता रहा है उतनी ही सामाजिक दायित्वों में शिथिलता पाया जाता है। संस्कृतीकरण और पश्चिमीकरण का जय होने लगा। पश्चिमीकरण से सामाजिक विषमताएँ, राजनीतिक भ्रष्टाचार, आर्थिक असमानताएँ मानव मूल्यों का विघटन राज करने लगें जिससे मध्य वर्गीय अपने को हताश और बेसहारा महसूस करने लगे। हर आदमी कुछ पाने के लिए लालयित हो उठा। शोषण, भ्रष्टाचार और भाई-भतीजावाद जैसी अनेक सामाजिक बुराइयों ने जीवन की सुन्दरताओं को ग्रस लिया। इन सब घटनाओं का परिणाम सामाजिक जीवन पर पडा और साहित्य पर भी। इस संदर्भ में डॉ. मदन मोहन शर्मा की राय सही लगता है कि - ***"स्वातंत्र्यपूर्व का परिवेश अपने साथ त्याग, बलिदान और आदर्शों को लेकर चलता है, जबकि स्वतन्त्र्योत्तरयुगीन परिवेश इन सीमाओं से परे होकर भौतिकवादी दृष्टि अपनाता है और जीवन मूल्यों में वैषम्य, सामाजिक विसंगतियों एवं विघटन का शिकार हो जाता है।"***[15]

बीसवीं सदी अपूर्व क्रांतियों और भ्रांतियों का युग है। इस सदी में तरह तरह की उलझनों निरर्थकताओं, जटिलताओं की समाहार है। क्योंकि मानव जाति के जीवन को व्यवस्थित करने के लिए सभी प्रयोग ही नहीं, आदर्श और विचार भी असफल हुए है। पचास के बाद जिस संकट का हम सामना कर रहें है उसकी चपेट

में समाज ही नहीं, वह प्रकृति और पर्यावरण भी है। यह संकट किसी एक देश या समाज तक सीमित नहीं है, वह विश्वव्यापी है। वह आर्थिक, सामाजिक, साहित्यिक, सासंकृतिक ही नहीं और नैतिक भी है। मनुष्य के जीवन से संबंधित रह क्षेत्र संकट से ग्रसित है। इस संदर्भ में मैनेजर पाण्डेय कहते है -

"ढलती हुई बीसवी सदी जो स्मृति छोडे जा रहीं है उसमें न अतीत से लगाव के चिह्न है और न भविष्य से उम्मीद के संकेत, केवल वर्तमान के संकट की गहरी छाया ही सच है, क्योंकि यह सही राजनैतिक अस्थिरता, आर्थिक अराजकता और वैचारिक विभ्रम को विरासत के रूप में सौंप कर जा रही है। यह समय विचारों, आदर्शों, व्यवस्थाओं और संस्थाओं की ऐसी टूट-फूट का समय है जिसके आस पास तो क्या दूर दूर तक विकल्पों का कोई अस्थित्व नहीं है। कभी कभी तो यह लगता है कि आजकल विकल्पों की गंभीर चिंता भी कहीं नही है।"[16]

बीसवीं सदी के इस अंतिम दशक में अनेक प्रकार के संकट के बावजूद दुनिया भर की शोषित और उत्पीडन जनता के मन में बेहत्तर जिन्दगी की आशा और उसके संघर्ष इस सदी के जीवन का सबसे अधिक प्रभावी सत्य है -दूसरे महायुद्ध की विभीषिकाओं के संदर्भ में विज्ञान का विकास जो अभूतपूर्व वेग से हो रहा है। इसके कुछ परिणाम स्पष्ट है। प्रादेशिक सीमाएँ प्रायः टूट गयी है। देश और काल की बाधाओं का विरोध काठिन्य लगने लगा है। शक्ति का संघर्ष अधिक भयंकर हो गया है। दो परस्पर विरोधी विचारधाराओं के प्रतिनिधि राष्ट्र आज इतनी अधिक विनाशकारी सामग्री के संपन्न है कि संतुलन भंग हो जाने से किसी भी क्षण मानव सृष्टि का पूर्ण संहार हो सकता है। उधर अंतरिक्षृ-विजय की बढती हुई संभावनाओं के कारण जीवन की परिधि का विस्तार होता जा रहा है और मानव प्राणी के स्वयंसिद्ध गौरव के प्रति संदेह बढता जा रहा है।

इस सदी की मूल्य विरोधी स्थितियों ने इस युग के साहित्यकार को विशेषकर विक्षुब्द किया है। इस युग में शाश्वत मूलयों का क्षण नहीं हुआ है, खाली परिवर्तन ही हुआ है। सारा भारतीय समाज एक भयंकर मूल्य संकट के दौर से गुजर रहा है। मूलयविहीनता की यह स्थिति केवल आज की समस्या नहीं है। युगयुगों से अनेक समाज सुधारकों, संतों और साहित्यकारों को इससे ठकराना पडा है। किन्तु सदा ही इस संघर्ष को भुला दिया जाता है और फिर मानव अपने मूल्यहीनता के रास्ते पर चल पडता है। यह प्रयत्न बीसवीं शती के अर्थ भाग में हमारी नजर से नहीं छूटकर जाती है। निष्कर्षतः भारत में स्वतंत्रता के बाद का परिवेश ही आधुनिक विघटन के लिए उत्तरदायी है। जिस सामाजिक, धार्मिक, राजनैतिक, आर्थिक, विसंगतियों से

गुजर रहे है उसकी पैदाइश स्वतंत्र्योत्तर परिवेश के जमीन से ही है। अर्थात् स्वातंत्र्योत्तर परिवेश को देखना समीचीन है।

1.4.1 सामाजिक परिवेश

पचास के बाद भारतीय समाज में अतीत और वर्तमान पुरातन और आधुनिकता के बीच पनपे संघर्ष से उपजी प्रवृत्तियों को लक्षित किया जा सकता है। स्वतंत्रता के बाद भारतीय समाज में परंपरागत मान्यताएँ और आधुनिक प्रवृत्तियाँ एक साथ चलती है। आज इस नयी शती में भी वही स्थिति है जो पचास साल से पनपकर जीवित हो रही है

आज भारतीय समाज एक ओर विसंग परंपराओंके आवरण में रहकर पुरातन मूल्यों, मान्यताओं का अनुगामी रहा तो वहीं दूसरी ओर समसामयिक परिस्थितियों से प्रभावित होकर आधुनिक चिंतन के साथ विभिन्न सामाजिक संघर्षों की ओर भी प्रस्थान कर रहा है। जिस प्रकार विज्ञान को स्वीकारा है उसी प्रकार पाश्चात्य रंगढंग को भी अपनाया है। समाज पश्चिमीकरण से सामाजिक स्थितिगति में अनेक परिवर्तन की साक्षी बन पडी हैं। आज शाश्वत मूल्यों की जगह मानवीय मूल्यों की चर्चा अधिक मिलती है। अपने समय के बाह्य तथा आंतरिक, सामाजिक तथा मानसिक संघर्ष की अभिव्यक्ति है. आज प्रत्येक व्यक्ति के भीतर स्वदेश और पाश्चात्य के मध्य जो संघर्ष चल रहा है उसे साहित्य की हर प्रक्रिया या अभिव्यक्तीकरण कर रही है।

सामाजिक दृष्टि से देखे तो भारतीय स्वतंत्रता के बाद से होनेवाले सबसे अधिक सारभूत और उल्लेखनीय परिवर्तनों में से एक है नारी समाज की अपेक्षाकृत मुक्ति। घरों की चार दीवारों से निकलाकर उनको बाहरी दुनिया की हरचल में शामिल कर दिया गया। इसी अर्थ शती में एक स्त्री भारत की प्रधानमंत्री बनी। केवल प्रधानमंत्री ही नहीं पुरुषों से समान हर प्रक्रिया में आज स्त्री अपने आपको आगे बढाना चाहती है। यह एक नया परिवेश का सही चित्र है।

लगभग पचास वर्षों में भारत में जो भारी सामाजिक परिवर्तन हुए है, उनसे यहाँ की पूरी आबादी प्रभावति हुई है। शहरों में रहनेवाले मध्य वर्गीय शिक्षित लोगों के बीच इन परिवर्तनों ने पुरुष की तुलना में महिलाओं को अधिक प्रभावित किया है। इस संदर्भ में सविता नागर कहती है - ***"खासकर स्वतंत्रता के बाद की बदली हुई सामाजिक आर्थिक परिस्थितियों में महिलाओं की शिक्षा और रोजगार के अवसरों में काफी वृद्धि हुई है और इन नई हालातों के फलस्वरूप इनके लिए अपनी समानता की अभिव्यक्ति और उसकी प्रतिष्ठा के नये रास्ते खुल गये हैं।"***[17]

आजादी के पहले जो बालविवाह, अनमेल विवाह, बहुविवाह दहेज प्रथा, सती प्रथा का वैधव्य जैसी रूढिगत समस्याओं से नारी चलती थी। लेकिन स्वतंत्रता के बाद उनसे मुक्ति पाने के लिए स्वाभामान से सक्रिय हुई। उनको मतदान का अधिकार प्रदान किया गया। पुरुष के साथ बराबरी दर्जा पाने को उत्सुक किया गया जिससे राजनीतिक, सामाजिक, सांस्कृतिक मंच पर नारी का नया रूप उभरकर आया है। राष्ट्र सेवा के अनेकों महत्वपूर्ण पदों को सफलता पूर्वक निभाने के बाद भी आज एख वर्ग नारी के इस आत्मगौरव व स्वाभिमान को तिरस्कृत करता रहा है।

परिवार, समाज और समुदाय की एक महत्वपूर्ण इकाई है। स्वाधीनता बाद के परिवेश ने परिवार को प्रभावित और विघटित किया। केवल संयुक्त परिवार ही नहीं वरन् पति-पत्नी और बच्चों में भी परिवारों का विघटन साधारण बात हो गयी। स्वतंत्रता के बाद की परिवेश ने व्यक्तिवाद और अहंवाद को जन्म देकर व्यक्ति को एक मात्र इकाई बनाकर छोड दिया। इस संदर्भ में कहा जा सकता है कि - "***समाज और परिवार के संबंधों में कटा आज का व्यक्ति भौतिक संबंध जोडने का अभिशप्त हुआ है। परिणाम स्वरूप सामाजिक मान्यताओं, परंपराओं और रूढियों के प्रति विरोधी स्वर रखने के कारण व्यक्ति को अंतर, बाह्य दोनों स्तरों पर कई बार संघर्ष करना पडा।***"[18] आजादी के बाद जो व्यापक और स्वेच्छापूर्ण परिवेश हमारे सामने आया है उसका वास्तविक प्रतिबिम्ब आज हमारे विघटन परिवारों में आसानी से देख सकते हैं। सांप्रदायिकता और नवीनता के बीच उपजे द्वन्द्व, मानसिक विषमताओं, सैद्धांतिक स्तर पर मतभेद दलित दमन, स्त्री चेतना जैसी परिस्थितियों ने संयुक्त परिवार व्यवस्था में एक प्रकार का बिखराव और भटकाव पैदा किया है।

आधुनिक विज्ञान व शिक्षा प्रणालियों से सीधा संपर्क स्थापित करने के परिणाम स्वरूप भारतीय युवक ने पश्चिमी दर्शन, संस्कृति, और रहन-सहन को स्वीकार किया जिसके कारण परंपरागत भारतीय मूल्यों में वातावरण और सामाजिक ढांचा भी परिवर्तित हुआ। नवीन शिक्षा प्रणाली और वातावरण ने प्राचीन रूढियों, परंपराओं मानयताओं और आदर्शओं के प्रति विद्रोह करने के लिए प्रेरित किया।

फलतः सामाजिक परिवर्तन की ओर बढने के लिए युवा विवश हुई। देश के परिवर्तनगामी शक्तियाँ एक जुड होकर संघर्ष करने के लिए ल्पाटफार्म तैय्यार करने लगे। देश में एक सशक्त क्रांति की भावना बढती गयी। जबकि देश की प्राकृतिक शक्तियों का प्रयोग उत्पादन की वृद्धि समाज में समानता लाने के लिए दलित, पीडित, ताडित, अवहेलित और शोषित को गौरवमय जीवन प्रधान करनेवाली व्यवस्था की स्थापना के लिए क्रातिं की आवश्यकता रही। इस बीच में व्यक्ति अपने संबंधों को

तोडने का प्रयत्न किया और उस व्यक्ति में परिवेश ने आक्रोश पैदा किया है। परिणाम स्वरूप साहित्य और कलात्मक गतिविधियाँ भी एक आक्रामक रूप लेकर जन भाषा में आक्रोश के साथ अभिव्यक्ति हुई।

स्वतंत्र्योत्तर सामाजिक परिदृश्य के संदर्भ में यह स्पष्ट रूप से कहना होगा कि इस अवधि में यहाँ व्यक्ति ने संबंधों के दायरें को तोडने का प्रयास किया है वहीं समसामयिक परिस्थितियों ने आवेग भी ला दिया है, परिणामतः साहित्य और कलात्मक गतिविधयाँ भी आक्रोश की भाषा से वंचित नहीं रह सकी है। इसी कारण साहित्य के रूपों और नवोद्‌भूत विधाओं में वस्तुगत रूप से व्यापक परिवर्तन देखा जा सकता है और - ***"हिन्दी के स्वातंत्र्योत्तर नाटककारों ने इस परिवेश की समस्याओं का चित्रण करने की अपेक्षा उसके यथार्थ और नग्न रूप का चित्रण भी प्रमुखता से किया है। इस परिवेश में जीते आम आदमी के द्वन्द्व व उसकी त्रासदी स्थितियों के चित्रण में नाटकारों के माध्यम से हुई है, तो कहीं ऐतिहासिक, पौराणिक, कथानक तथा चित्रों के माध्यम से"***[19]

पचास के बाद हिन्दी नाटकों में समस्याओं से सीधे साक्षात्कार करते हुए भोगे हुए यथार्थ का नवीन चित्रण प्रमुखता के साथ किया गया है। आजादी के बाद हर क्षेत्र में मूल्य विघटन शुरू हुआ है। समाज में भ्रष्टाचार, आधुनिक जीवन का विडंबना, स्त्रीवादी जीवन असफलता, काम संबंधी विषयों, दलित चेतना, पलायनवाद, क्षेत्रवाद, जातिवाद, साम्प्रदायिकता, जैसी समाज विरोध ताकतों को अभिव्यक्तीकरण हिन्दी नाटक में मिलता है

1.4.2 आर्थिक परिवेश

किसी भी समाज के संगठन एवं उन्नति का आधार उसकी अर्थ व्यवस्था पर निर्भर करता है। समयानुकूल सामाजिक परिवर्तनों के साथ -साथ आर्थिक परिवर्तन भी होते रहते हैं। विज्ञान और औध्योगीकरण ने पूँजिपति वर्ग को जन्म दिया। अकाल के कारण भारतीय कृषिव्यवस्था की स्थिति गिर गई फल स्वरूप अन्न के लिए हमें विदशों पर निर्भर होना पड़ा। आज हमारे शासकों भूमंडलीकरण, प्रइवेटैजेशन के जप कर रहे हैं। अंतर्राष्ट्रीय बैंको से ऋण प्राप्त करके हमारी आर्थिक व्यवस्था को चला रहे हैं। आर्थिक व्यवस्था अस्तव्यस्त बन गयी है। पूँजीपति एवं जमींदार दोनों ही के अत्याचार के शिकार आम आदमी बनता जा रहा था।

आर्थिक दृष्टि से जन जीवन में अमूल परिवर्तन आया है।' अर्थ ' एक जीवन मूल्य के रूप में प्रतिष्ठित हुआ है। मानव को परिभाषित करनेवाली शब्द बन गयी हैं। आज मानव -मानव के बीच संबंधों को बनाने में, बिगाड़ ने में अर्थ महत्वपूण भूमिका निभाता रहा है। आज व्यक्ति धन एकत्रित करने में हर संभव कोशिश कर रहा है। व्यक्ति की सारे सुख सुविधाओं की प्राप्ति का माध्यम अर्थ है। मानवीय संबंध बदलते हुए आर्थिक परिवेश में गहरे संकट में पड़ गये हैं।

विशेष कर आजादी के बाद व्यक्ति की मानसिकता अधिक व्यवसायिक और प्रदूषित हो गयी है। आजकल मनुष्य को आर्थिक संबंध ही चलने को प्रेरित कर रही हैं। आज मनुष्य आर्थिक धरातल पर खड़े हो कर एक दूसरे से संबोधित करता है। सत्तर के बाद भारतीय आर्थिक इतिहास स्कामों का इतिहास बन गया है। देश व्यापि भ्रष्टाचार सामान्य मनुष्य को पीछे कर रही है। - ***"स्वाधीनता के बाद का भारत का एक बड़ा पूँजीपति वर्ग एक और सामंतवाद से और दूसरी साम्राज्यवाद से समझौता किए रहने के कारण जन-चेतना के विकास में अनेक प्रकार की बाधाएँ उत्पन्न करता रहा है।"***[20]

स्वतंत्रता आंदोलन के समय जनता ने एक स्वस्थ और समान व्यवस्था की कल्पना की थी। उनकी नजर में न कोई शोषित रहेगा न कोई शोषक और न ही क्रिया प्रकार का भेदभाव। सबके लिए रोटी,कपड़ा मकान सुलभ होगा। पीड़ा,दुख,दर्द दूर होगा। लेकिन आजादी के बाद जनता के ये सारे स्वप्न चकनाचूर कर दिये गये हैं। आजादी के बाद हमारे सत्ताधिकारियों ने पूँजीपतियों और जमींदारों को बढ़ावा दिया है। विकास के जो भी योजनाएँ बनाई गई वह सब उन्नत वर्ग के हित के लिए ही इस्तेमाल किया गया है।

संविधान में हमारे आर्थिक व्यवस्था को मिश्रित व्यवस्था के नाम से विभूषित किया गया है। आज उस विषय को छोड़कर प्राइवेटैजेशन का मंत्र जप हो रहा है। भूमंडलीकरण की वजह से अनेक अंतर्राष्ट्रीय संस्थाएँ हमारे मार्कैट में आ गये हैं। इसके वजह से अनेक देशीय संस्थाएँ बंद हो गयी हैं। सरकारी संस्थाओं से मूलधन वापस लाने के लिए नयी शाखा को भी प्रतिष्ठित किया गया है। 51% से ज्यादा प्रतिशत मूलधन निकाल कर अनेक सरकारी संस्थाएँ निजी क्षेत्र को सौंपा जा रहा है। आज केंद्रीय और राष्ट्रीय बड़जेट में ज्यादा धन विदेशी ऋण के सूद के रूप में जा रहा है। सच कहना है तो आज देश विशव बैंक के आदेशों के अनुसार चल रहा है। अगर इसी नीति के आधार पर चले तो भारतीय आर्थिक व्यवस्था थोड़े ही दिनों में सत्यनाश होगा।

इस संदर्भ में शिवदान सिंह का यह कथन समीचीन प्रतीत होता है कि - ***"स्वतंत्रता के बाद भातीय इतिहास के अध्याय का एक ही शीर्षक हो सकता है 'शर्मनाक भिक्षाकाल', इस भिक्षाकाल की सबसे बड़ी याचक मुद्रा है : तटस्थता। मैं यह अस्तिव, तटस्थता, धर्म निरपेक्षता आदि का सिर्फ प्रसंशक ही नहीं बल्कि उन्हें जीवित मूल्य मानकर उनके लिए सब कुछ सहने, भोगने का संकल्प मैं रखता हूँ। लेकिन मैं जिस तटस्थता की बात कर रहा हुँ वह कोई मूल्य नहीं है। दोनों ही शिविर के देशों से अधिक से अधिक कर्ज पाने की याचक मुद्रा है। जो दाताओं के अपराधों और उत्पीड़नों से संत्रस्त मनुष्यता से सही समर्थन देने में कतराती रहती है।"***[21]

इसका परिणाम यह हुआ की एक तरफ पूँजीपतियों कि पूँजी बढ़ने लगी तथा ग्रमांचलो में जमींदारों की आर्थिक स्थिति के साथ-साथ प्रभुता भी मजबूत होने लगी तो दूसरी तरफ आम मेहनतकश जनता एवं मध्यवर्ग पर नये -नये बोझ ड़ाले गये। फलतः गरीब और अमीर के बीच की खाई कम होने के बजाय और भी विस्तृत हुई। हमने समाजवादी समाज व्यवस्था का संकल्प तो किया किन्तु पिछले सत्ताईस वर्षों से गरीब लगातार गरीब होता चला गया और अमीर लगातार अमीर.....। एक ओर देश के सौ करोड़ों जनता अति दरिद्रा से जी रहे हैं। वही दूसरी ओर मुट्ठी भर लोग यशो आराम की जिंदगी जी रहे हैं।

आजादी के बाद देश के विकास को दृष्टि में रखकर पंच वर्षीय योजनाएँ तैय्यार की गयी हैं। इन पंचवर्षीय योजनाओं का मुख्य उद्धेश्य निर्धारित समय के अंतर्गत कृषि, उद्योग,बिजली,शिक्षा, स्वास्थ्य गरीबी, रोजगार आदि पर समुचित ध्यान केन्द्रित करते हुए इन क्षेत्रों में व्याप्त समस्याओं विसंगतियों का हल ढूढ़ना तथा समाधान करना था। एक भी पाँच वर्षीय योजना अबतक लक्ष्य तक नहीं पहुँची। जिससे आर्थिक दशा के सुधारों में वृद्धि के बजाय ह्रास ही होने लगा और उसका प्रभाव आज भी हमारा अर्थ व्यवस्था पर वर्तमान है।

राष्ट्रीय मुक्ति संघर्ष में किसानों ने अनेक कुर्बानियाँ दी। लेकिन आजादी के बाद- 'जमीन जोतनेवाले की नारा' नारे के रूप में ही रह गया। आजादी के बाद जमीन का सही वितरण नहीं किया गया है। भूमि सुधार का नाम कागजों तक ही सीमित रह गया। परिणामतः किसान कूली के रूप में बदल गया।

औद्योगिक विकास ने पूँजिवाद को जन्म दिया है। कारखानों, मिलों आदि की स्थापना के फलस्वरूप भारतीय अर्थ व्यवस्था कृषि के स्थान पर उद्योंगो पर केंद्रित हो गई। औद्योगीकरण ने मध्यवर्ग को नये शब्दों से परिभाषित किया है। शोषक और

शोषित वर्ग इसी का परिणाम है। औद्योगीकरण के संबंध में प्रभा वर्मा का यह कथन द्रष्टव्य है कि - ***"औद्योगीकरण ने भारतीय समाज में जहाँ एक और आर्थिक व्यवस्था को सुदृढ़ किया है वही दूसरी ओर सामान्य जन जीवन में काफी परिवतर्न उपस्थित कर दिये हैं। औद्योगीकरण ने भौतिकवाद को जन्म दिसा है जिसके कारण आपसी संबंधों का निर्धारण अर्थ के परिप्रेक्ष में होने लगा है। सामजिक क्षेत्र में औद्योगीकरण सकारात्मक और नकारात्मक अथवा आशा और निराशा दोनों मूल्यों को समाज में स्थापित किया है।"***[22]

इस आर्थिक परिवेश आधुनिक नाटककारों के नजर से छूट न सकी। इस महंगाई, बेरोजगारी, आर्थिक तनाव नाटककारों को भी प्रभावित किया है। आज विशव बैंक और अंतर्राष्ट्रीय समाज के नजरों से बचकर भारतीय आर्थिक स्थिति चल नहीं सकती। मानसिक धरातल पर विचारों को आर्थिक स्थिति प्रभावित करती है। जिसने आधुनिक नाटक को और सुशोभित किया है। इस आर्थिक स्थिति को आधुनिक हिंदी नाटक अपनी निजी दृष्टि से व्याख्यान करती है।

1.4.3 राजनीतिक परिवेश

राजनीति राष्ट्र का महत्वपूर्ण और निर्णायक अंग है। राष्ट्र की सशक्त और सक्रिय व्यवस्था है। प्रत्येक राष्ट्र की अपनी राजनीति होती है जिससे देश की उन्नति और अवनति का आधार हमें मिलते हैं। प्रत्येक राजनीति का एक अलग व्यकरण होता है। जन सम्मत व्यवहार चलने से राजकाज सफलतापूर्वक सम्पन्न किया जाता है। राजनीति के लिए कुछ सीमाएँ भी होती हैं। जब इन सीमाओं का अतिक्रमण होता है पूरे देश में अस्थव्यस्त वातावरण फैल जाता है। जीवन का कोई भी क्षेत्र राजनीति से अछूता नहीं रहता है। चाहे वह सामाजिक हो या संस्कृतिक मनुष्य जीवन को शासित करनेवाली एक महत्वपूर्ण अंग के रूप में आज राजनीति प्रतिष्ठित हो चुका है। अत:स्वस्थ व्यवस्था के लिए स्वस्थ राजनीति की सख्त जरूरत है।

आजादी के बाद भारतीय संविधान निर्मित हुआ है। जिसमें देश के हर प्रत्येक नागरिक को स्वतंत्र रूप में जीने का अधिकार दिया गया है। प्रत्येक भारतीय को स्वतंत्र रूप से बोलने और अपनी बात कहने का प्रावधान किया गया है। प्रत्येक भारतीय जिस राजनीति पार्टी चाहे उसमें शामिल हो सकता है, अपनी रुची पार्टी को मतदान दे सकता है। इस प्रकार राजनीतिक स्वतंत्रता हर व्यक्ति को दिया गया है।

देश को सुसंपन्न, उन्नत,समृद्ध, आत्मनिर्भर और प्रतिशील बनाने के लिए अनेक तरह के कानून बनाये गये हैं। आर्थिक दृष्टि से मजबूत बनने के लिए तरह-तरह के योजनाएँ बनाए गये हैं। विभिन्न मतभेदों को दूर करने के लिए अनेक नियम बनाए गए। फिर भी देश की विकास के मार्ग में अवरोध पैदा हुए। उन अवरोधों के मूल में स्वार्थपरता ही दिखाई देती है। आजादी तो मिली है लेकिन उसका फल समाज में कुछ विशिष्ट वर्ग व राजनीतिज्ञ ने अपने हस्तगत कर लिए हैं। आजादी के फल प्राप्त करने के दावेदार के रूप में केवल राजनेता, जन प्रतिनिधि, पूँरिपति आये हैं। आम आदमी के नाम पर योजनाएँ तो तैय्यार की गयी है लेकिन उन पर पूरा कब्जा राजनेताओं का ही है।

आम आदमी को छोटी-छोटी समस्याओं पर समाधान के लिए संघर्ष करना पड़ रहा है। आम आदमी एक तरफ सुख सुविधाओं से वंचित होकर अत्यंत दयनीय जीवन बिता रहा है तो दूसरी तरफ बढ़ते जाति भेदभाव, साम्प्रदायिकता, शोषण की मुक्ति की तलाश में लग गया है। आज आदमी चैन से नींद नहीं ले पाता है। जिसको कुर्सी मिली वह उसका दुरुपयोग किया है। अवसरवादिता, अनैतिकता, स्वार्थसिद्ध व्यक्तिवादिता, अहंवादिता जैसे मानसिकताएँ तेजी से पनपने लगी। भ्रटाचार तो राजनीति का पर्याय हो गया है। जाति, पाँत, वर्ण, धर्म के नाम पर लोग को बाँट दिया गया है। लोक तंत्र के सिद्धांत केवल संविधान के पुष्ठों में ही सिमटकर रह गये हैं।

भारतीय राजनीति में आरंभ से ही अनेक अंतर्विरोध रहे हैं। एक तरफ पालक और दूसरी तरफ पालित रहकर दो भागों में भारतीय राजनीतिक स्थित बंट गयी है। इस संदर्भ में लक्ष्मी सागर वार्षेय का निम्न मन्तव्य अत्यंत प्रासंगिक लगता है - ***"आज का युग राजनीति प्रधान युग है। 'डेमोक्रसी' के स्थान पर 'भावोक्रसी' का युग है और दुर्भाग्यवश स्वतंत्र भारत की राजनीति भ्रष्ट हो गयी। अब महात्मा गाँधी का राजनीतिक आदर्श तो नहीं रह गये। उनके स्थान पर बहती गंगा में हाथ धोने की प्रवृत्ति बढ़ गयी है।"*** [23] अतःहमारा जन तंत्र मात्र देश के विशिष्ट वर्गों के लिए रक्षा कवच बन गया है।

स्वातंत्रोत्तर भारतीय परिवेश में भ्रष्टाचार हमें सामाजिक और राजनीतिक दोनों ही क्षेत्रों में मिलता है। सामाजिक स्तर पर यह सरकारी कर्मचारियों और अधिकारियों द्वारा योजनाओं के क्रियान्वयन, पदों पर नियुक्ति और संस्थाओं के गठन में लक्षित होता है, तो राजनीतिक स्तर पर सत्ता प्राप्ति और कुर्सी को बनाए रखने में दृष्टि होता है। इसी कारण से एक विसंगत के माध्यम से अनेक विसंगतियाँ अनेक स्तरों पर उभारती चली जाती है; चली रही है। पचास के बाद का राजनीति एक

शतरंझ का खेल हो गयी जिसमें आम जनता एक मोहरे के रूप में राजनेताओं के हाथ में कठपुतली बन कर रह गये। आज यहाँ व्यक्ति के लिए कोई मूल्य नहीं है। आज का व्यक्ति इस संदर्भ को झेल ही नहीं रहा। वरन् इसमें ही रह पाने का प्रयत्न कर रहा है। बनावटी मूल्यों के पीछे आज लोग दौड़ रहे हैं उसको मार्ग दिखानेवाले हमारे नेतागण है। जीवन मूल्यों को आजादी के बाद की राजनीति ने किस रूप में विकृत किया है। डॉ. श्याम शर्मा इस स्थिति को स्पष्ट करते हुए कहते हैं कि -

"स्वतंत्रता के बाद देश की राजनीति ने जीवन की प्रक्रिया में विकृत विषमता, सड़ाध को भर दिया है। राजनीति ने शैशव के दरवाजा खटखटाती पीढ़ी के मस्तिष्क में बदबू भर दी और व्यक्ति को जीवन मूल्यों से अलग अलग कर उसे ईर्ष्या,द्वेष, स्वार्थि भावों में बाँध दिया है। देश को तो आजादी मिली पर उनके भोग का अधिकार राजनेताओं, पूँजीपतियों और नौकरशाही ने अपने लिए सुरक्षित कर लिया,और आम आदमी के नाम पर शोषण का दमनचक्र चलाकर मानव जीवन को खोखला कर दिया।"[24]

राजनीतिक भ्रष्टाचार की व्यापकता के कारण सार्वजनिक और निजी संस्थाएँ जैसे सरकारी विभाग निगम कंपनियाँ पूरी तरह से प्रभावत होती जा रही है। नेतागण आज के झाल से बाहर नहीं निकल सकते हैं। छोटे-छोटे नेता से लेकर मुख्यमंत्री, प्रधानमंत्री तक इस भ्रटाचार में शामिल हैं। आजादी भारत की राजनीति स्कामों का राजनीति बन गया है। घास स्काम, स्टेशनरी स्काम सबकुछ घुटालामय हो गया है।

नीतियों से लेकर बड़े से बड़े फैसला करने तक राजनीति नेताओं का हस्तक्षेप विभिन्न संदर्भों में देखा जा सकता है। ***"कुर्सी न छोड़ने की भूख असहाय हो चुकी है। कुर्सी की इसी छीना- झपटी के कारण नई-नई समस्याएँ देश के सामने आती जा रही है.....यही से रिशवत के द्वारा दल-बदल,चुनाओं में जीने के लिए व्यापारियों से दबाव डालकर चन्दें, परमिटे,काटों, लाइसेंस के नाम पर धन संचय की प्रवृत्ति बदलने लगी। चुनाव में जोर जबरदस्ती, रिशवत खोरी जातिवाद, वर्ग संघर्ष जनता से झूटे वायदे आदि का उपयोग होने लगा है।"***[25]

इसी अस्वस्था और पतित राजनैतिक पृष्टभूमि में हिन्दी नाटक वैकल्पिक व्यवस्था की तलाश में और स्वस्थ राजनीति की परिकल्पना के साथ निर्माण की प्रक्रिया में निमग्ण है। आधुनिक नाटककार अपने नाटकों द्वारा राजनीतिक परिवेश को स्पष्ट दिखाने में कार्यरथ हैं। राजनेताओं के भ्रष्टाचारी जीवन को लोगों के सामने रखने की प्रयास में आधुनिक नाटककार सफल हुए हैं।

1.4.4 धार्मिक परिवेश

भारतीय संस्कृति अत्यंत प्राचीन है। समाज धार्मिक रीति -रिवाजों, संप्रदायों भ्रष्टाचारों जाति धर्म और लिंग आदि विभेदों से पतनोन्मुख है। हमारा युग विज्ञान और प्रद्योगित दृष्टि से विकासित युग है। हम एक तरह कम्प्यूटर युग में प्रवेश कर चुके हैं। फिर भी पुराने मूल्यों और चेष्टाएँ समाज से पर्णतः समाप्त नहीं हुई है। भारत की विडंबना है कि पेड-पत्थरों, साँप, सुआरों, पशु-पक्षियों की पूजा करने की प्रक्रिया आज भी जारी है। अनेक अंध विश्वास समाज में घर कर गये हैं। मानव ने डर से सैतान, भक्ति से भगवान का सृजन किया है। आज मानव सैतान से ज्यादा भगवान से भयभीत हो रहा है।

कही आग लगने से अग्णिदेव, वर्षा होने से वरुण देव, हवा, हिलने से वायुदेव को प्रतिष्टा कर अपने अज्ञान को दैवीय रूप का मुखौटा पहनाकर प्राचीन काल से लोग पूजा कर रहे हैं। भारत एक ऐसी विशिष्ट देश है जिसने नलंदा-तक्षशिला आदि विश्वविद्यालयों के माध्यम से पूरे संसार में विज्ञान की किरणें फैलाई थी। लेकिन इस देश में अभी भी निरक्षर ताण्डव नृत्य कर रही है। निरक्षर समाज में अंधविश्वासों की प्रचलता कोई विचित्र बात नहीं है।

पडोसी को आदमी के रूप में न देखनेवाले हमारा समाज पत्थरों की पूजा करने में कोई संकोच का अनुभव नहीं करता है। साँपों का दूध, चींटियों की चीनी बाँटता है। जाति के नाम पर एक आदमी दूसरे आदमी से अलग पडने की कुप्रथा है। सुदूर प्रांतों का घटनाओं को पल भर प्राप्त किये जाने वाली वैज्ञानिक युगों में धर्मन्धता की पराकाष्टा गणेष का दूप पीना है।

इस देश में धर्म है, जाति है, सबकुछ है। कुछ लोगों को पवित्र कुछ लोगों को अपवित्र मानने की आमानवीय संस्कृति का मान-सम्मान है। ***" भारत को धर्मनिरपेक्ष देश माना जाता है। इस देश में अनेक धर्म के अनुयायी निवास करते हैं। हिन्दु और मुसलमान संप्रदाय. इस देश के प्रमुख संप्रदाय में से एक हैं। मुश्लिम सांप्रदायिकता मोगल शासनकाल से जुडी हुई है। भारत में फूट डालने केलिए अंग्रेजों ने मुसलिम संप्रदायिकता को हिन्दुओं के वुरुद्ध भटकाया।"***[26] भारत स्वतंत्र हो गया। देश विभाजन कीघटना सांप्रदायिक विष का ज्वलंत प्रतीक है। विभिन्न संप्रदायिक घटनाओं के अवलोकन से ये स्पष्ट होता है कि राजनीति नेताओं के स्वार्थ के अतिरिक्त जिम्मेदार रवैय्या तथा असमाजिक तत्वों का नेतृत्व इन सांप्रदायिक दंगों को

जन्म देता है।सांप्रदायिकता के जगडे शहर या गाँव किसी भी क्षेत्र से उठ सकते हैं। गाँव से शहरों में सांप्रदायिकता की भावना अधिक है।

हिन्दु मुसलमान संप्रदायों के असामाजिक एवं कट्ठर लोग इन झगडों को अवश्य करा देते हैं। सांप्रदायिक झगडें विशेषतः होली, दिवाली, गणेश पूजा, ईद, मुहर्रम आदि अवसरों पर होते हैं। धर्म-कर्म, पर्व-त्योहार के समय सांप्रदायिक तनाव विशेष रूप से लक्षित होता है। आज की बढती हुई सांप्रदायिकता इस तथ्य का स्पष्ट संकेत है कि हम एख रूग्ण और गतिवद्ध समाज में रह रहे हैं।

वस्तुतः सांप्रदायिकता रोग नहीं रोग का लक्षण है। यहाँ के शासक वर्ग को देश की वास्तविक समस्याओं और उनके समाधान में कोई दिलचस्पी नहीं है। उसको जिलचस्पी अपने वर्गीय हितों की रक्षा में है। वह वस्तुतः एक जन-विरोधी शक्ति की भूमिका निभा रहा ङै और उसका न कोई धर्म है, न कोई संस्कृति। साधारण जन का शोषण ही उसका धर्म है और अवैद्य साधनों से अर्जित अपनी संपन्नता का प्रदर्शन ही उसकी संस्कृति है।

पूँजीपति वर्ग के समर्थक राजनीति दल सांप्रदायिकता के मुद्दे पर अपने अवसरवाद को छिपा नहीं पा रहे है। वोट की राजनीति के लिए ये अवसरवादी राजनीतिज्ञ इस के गंभीर परिणामों के प्रति कतई सावधान नहीं है जन शक्ति को संगठित करने तथा प्रबुद्ध बनाने का दायित्व उन बुद्धिजीवियों, साहित्य कर्मियों तथा संगठनों का है जो जनवादी और धर्म निरपेक्ष मूल्यों के प्रति निष्ठावान हैं। सांप्रदायिकता का सबसे खतरनाक रूप आज इतिहास और संस्कृति की प्रस्तुति है, रामजन्म भूमी-बाबरी मस्जिद के विवाद में साधारण जन बिल्कुल उदासीन है और राजनीतिक शतरंज की चालों में फँसा अपने को असहाय महसूस कर रहे है।

गाँधी जी ने बार बार कहा है कि - '***धर्म प्रत्येक व्यक्ति का निजी मामला है, इसे राजनीति या राष्ट्रीय मामला के साथ नहीं मिलन चाहिए।'*** हिन्दु राष्ट्र की अवधारणा के जनक वी. डी. सावरकार नास्तिक थे। मुहम्मद आली जिन्ना कट्टर पंथी मुसलमान थे। उन्होंने एक फारसी युवती से विवाह किया था। लूई फिशर ने लिखा था - ***" महम्मद आली जिन्ना धार्मिक राज्य स्थापित करने के इच्छुक थे। पूर्णतः धार्मिक गाँधी सेकुलर राज्य चाहते थे।"***[27]

सांप्रदायिकता के विकास में हिन्दुओं और मुसलमानों के बीच मौजूद इस सामाजिक दूरी ने बहुत मामूली भूमिका अदा की। लाखों हिन्दू ग्रन्थ सहाब की पूजा

करते है और लाखों सिखों हिन्दू धर्म ग्रन्थ को श्रद्धा की दृष्टि से देखते है। संप्रदायिकवादियों ने इतिहास का हमेशा नाजायज इस्तेमाल किया है। प्राचीन भारतीय इतिहास की विशेषज्ञ रोमिला थापर ने कहा है - ***" जितनी बडी तदाद में 19वीं शताब्दि के मिथक हम ढो रहे हैं, वह एक विचित्र बात है। भारतीय इतिहास के सांप्रदायिकता काल विभाजन का पहला साक्ष्य जैम्स मिल में मिलता है। उसने 19वीं शताब्दि की शुरुआत में भारत का जो इतिहास लिखा था, उसमें हिन्दु सभ्यता, मुस्लिम सभ्यता और ब्रिटीस काल की चर्चा की है। इसमें मुस्लिम सभ्यता के मुकाबले एक रूढ एक रूप हिन्दू सभ्यता का विचार पैदा करने में मदद की।......इतिहास में जो नया काम किया जा रहा है, उसे देखते हुए भी हिंदू भारत और मुस्लिम भारत जैसी शब्दावली का कोई खास अर्थ नहीं रह गया है। अत: मेरा तो यह मानना है कि साम्प्रदायिकता इतिहास का जिस तरह इस्तेमाल करती है, उसमें यह ढ़ाँचा लगभग अंतर्निहित है। इसके अलावा प्राचीन भारत के बहुत से क्षेत्र जो नाजूक हो गये हैं- उन पर पुनर्विचार की आवश्यकता है।"***[28]

आज धर्म के नाम पर साम्प्रदायिकता को उकसाया जाता है जिसके परिणाम स्वरूप साम्प्रदायिक ढ़ंगे फासाद देश के किसी न किसी हिस्से में होता ही रहा है,हो रहे हैं। कोई भी झगडा हो उन्हें भी सांप्रदायिकता का जामा पहनने की कोशिश होती है। इसके पीछे राजनैतिक स्वार्थ तत्व अधिक सक्रिय होते हैं। अब गुजरात में होने वाली दमन कांड सांप्रदायिक तनाव की जीती -जागती मिसाल है। इस प्रकार, जहाँ धर्मिक रूढ़ियों, अन्धविश्वासों को लेकर स्वातंत्रयोत्तर भारतीय परिवेश प्रगतिशील हुआ है उसका सही चित्र हिंदी आधुनिक नाटकों में प्रतिबिंबित होता है।

1.4.5 सांस्कृतिक परिवेश

आजादी के बाद का युग साहित्यिक और सांस्कृतिक दृष्टि से गहरा संघर्ष का युग है। पाश्चात्य और भारतीय विचारधाराओं तथा चिंतन दृष्टियों के बीच एक सीदी टकराहट को परखने से हमें यह पता चलता है कि भारतीय जन जीवन में एक गहरा परिवर्तन परिलक्षित हुआ है। सभी क्षेत्रों में अर्थात सामाजिक, आर्थिक,राजनीतिक, सांस्कृतिक क्षेत्रों में परिवर्तन लक्षित किया जा सकता है।

गाँधीवाद और समाजवाद के बीच के संघर्ष ने भारतीय मनुष्य को आतंक ही नहीं गहरे रूप में प्रभावित भी किया है। इसका प्रभाव साहित्य और कला पर भी पड़ा है। बदलते हुए युग और समय के साथ व्यक्ति की चेतना भी बदलती रहती है। साहित्यिक और सांस्कृतिक परिवेश में जो परिवर्तन आ रहा था, उसका सीधा प्रभाव

व्यक्ति की मनोदशा पर पड़ रहा था। क्योंकि -- ***"आज के मानव की स्थिति यह है कि एक ओर भौतिकता की जड़ उपासना से उसकी चेतना विद्रोह करती है, दूसरी ओर आत्मा की अतेन्द्रीय सत्ता और अखंड अनाहत आनंद की उसे अनुभूति नहीं हो पाती। अंतर्जगत और बहिर्जगत के संघर्ष तथा उनकी महत्ता के पोषक सिद्धांतो के द्वन्द्व ने जीवन में एक विचित्र गतिरोध ला दिया है। यह मनोदशा व्यक्ति की न होकर युग की है और साहित्य के क्षेत्र में आनेवाली नयी कृतियाँ स्पष्ट रूप से इसको व्यक्त कर रही हैं।"***[29]

सांस्कृतिक मूल्यों में स्वतंत्रता के बाद बड़े पैमाने पर परिवर्तन देखा जा सकता है। स्वतंत्रता के बाद भौतिकवादिता के होड़ में पश्चिमी विचारधाराओं का अंधानुकरण आम बात हो गयी थी। इसमें कोई अतिशयोक्ति की बात नहीं है कि आज हमारे समाज में व साहित्य में जो विघटन व परिवर्तन दिखाई दे रहा है इसी अंधानुकरण का परिणाम है। आजदी के बाद उपभोगता संस्कृति अवतरित हुई है। इस संस्कृति ने मनुष्य के रहन सहन और विचारों तथा जीवन आदर्श को बदला है। इस परिवर्तन के केन्द्र में परंपरा और आधुनिकता के बीच संघर्ष ही लक्षित होता है। इस संस्कृति ने भारतीय जन जीवन को खोखला ही बना दिया ही है। विकास के नाम पर जो योजनाएँ बनती हैं वह केवल पूँजीवादी और सामंती घेरे में ही सिमटकर रह जाती है।

स्वातंत्र्योत्तर भारतीय परिदृष्य जीवन के हर क्षेत्र में उभरे आंदोलनों को भी इस क्रम में अनदेखा नहीं किया जाना चाहिए। हमारे यहाँ ***".....स्वतंत्रता के पहले वामपंथी विचार धारा और आंदोलनों का प्रबाव उत्पन्न हुआ और बढा। भारत के राष्ट्रवादी आंदोलन में उनके योगदान हानिकारक रहा और भारतीय जनमन पर उसका प्रभाव प्रायः नगण्य। परन्तु तब भी मजदूर आंदोलनों को संगठित करने, उनके अधिकारों के लिए संघर्ष करने, भारत को समाजवादी विचारधारा की ओर जाने तथा भारतीय बुद्दिजीवी वर्ग का ध्यान आर्थिक और सामाजिक न्याय की ओर आकर्षित करने में उसकी भूमिका निः सन्देह सराहनीय है।"***[30]

सांस्कृतिक रूप से आज व्यक्ति अपने लिए एक प्रत्येक वृत्त खींचकर बाहर आना नहीं चाहता है। और अन्यों को उसके अंदर घुसने नहीं दे रहा है। आज प्रत्येक व्यक्ति अपने लिए अलग संस्कृति रचकर रखा है। जातिगत, नीतिगत जीवन को छोडकर व्यक्ति मानसिक संवेदनाओं का शिकार पड रहा है. वैश्वीकरण के प्रभाव से संसार ही नहीं मनुष्य भी छोटा बन गया है। ग्लोबल विलेज की भावना मनुष्य की अस्तिता को और छोटा बना रखा है।

आज मनुष्य अनेक 'इजम' के साथ चलने लगता है। 'कम्यूनिजम', 'मार्क्सिजम', 'पोस्ट माडर्निजम', 'नाजीश्जम', टूरिजम लेकिन अंत में स्वयं के लिए कोई इजम नहीं बचा रखा है। सांस्कृतिक स्तर पर मनुष्य अपने प्रतिरूप को ढूँढते हुए दिखाई पडता है। जो असली प्रतिबिंब को नष्ट करके नकली प्रतिबिंब के पीछे जा रहा है। आज ***".....नीति, धर्म, सदाचार, न्याय, अनुशासन, आर्थिक विकास, कार्यक्षमता, स्वस्थ परिवर्तनकारी शक्ति, अनासक्त-चिंतन, देश की एकता, शिक्षा, पारस्परिक स्नेह, शुष्कतृण के सामान धधखते दिखाई पड रहे हैं।"***[31]

भारत में एकता लुप्त है। सब अपने अपने धर्म के लिए लड रहे हैं. प्राँतीय भाव बढ गये हैं। सब लोग मिल जुलकर रहने के बजाय इन सांप्रदायिक शक्तियों के कारण बँटते जा रहे हैं। एक बात तो सच है कि मिलके ही हम कुछ पा सकते हैं अलग होकर नहीं। कब तक लडेगें हम आपस में, लडने के लिए बहुत समस्याएँ है। आज हमें हिंसा का नहीं अहिंसा का हथियार लेना है। इसी सूत्र को आधुनिक नाटकों में संदेश के रूप में देते हैं। भारतीयता का संपूर्ण मुखचित्र अपने मन में रखकर आधुनिक नाटककार नव्य भारत की निर्माण के लिए प्रतिबद्ध हैं।

नाटककार और परिवेश का संबंध अत्यंत जठिल होता है. इस लिए रचना लेखक के परिवेश की प्रतिकृति नहीं होती। वह स्वयं एख कृति होती है। नाटककार वस्तुतः अपने परिवेश का चित्रण मात्र नहीं करता, बल्कि इसका पुनर्निर्माण भी करता है। इस क्रम में परिवेश न्यूनाधिक परिवर्तित हो जाता है। लेखक उसमें कुछ जोड देता है और उससे कुछ घटा भी देता है। वह वस्तुओं को, मानसिकताओं को, सामाजिक वैशिष्ट्य को बदल देता है। इसी तरह नाटककार मूर्त को अमूर्त और अमूर्त को मूर्त तथा स्थिर को गतिशील और गतिशील को स्थिर बना देता है। एक बात में कहना है तो नाटककार अपने परिवर्तनों के द्वारा रचना का एक भिन्न और पूर्ण संसार रचता है।

आज नाटककार की परख विशाल होना है। क्योंकि आज प्रादेशिक सीमाएँ प्रायः टूट गयी है। देश और काल की बाधाओं की काठिन्य गलने लगा है। शक्ति का संघर्ष अधिक भयंकर हो गया है। दो परस्पर विरोधी विचारधाराओं के प्रतिनिधि राष्ट्र आज इतनी अधिक विनाशकारी सामग्री के संपन्न है कि संतुलन भंग हो जाने से किसी भी क्षण मानव सृष्टि का संहार हो सकता है। आज मानव प्राणी के स्वयंसिद्ध गौरव के प्रति बढता जा रहा है। इन सबको दृष्टि में रखकर साहित्यकार को चलना पडता है।

इस परिवेश में आदर्श टूटने लगें हैं और मूल्यों के ह्रास की धारणा बल पकडने लगी है। यह सच है कि जीवन के आखण्ड प्रवाह में अतीत तो सर्वथा विलीन हो चुका है और अनागत अभी अदृश्य है, वर्तमान क्षण का अनुभव ही सत्य है। आज मनुष्य क्षण में रहता है और क्षण में ही जीता है, क्योंकि उस का अनुभव क्षण में ही निबद्ध है। आज अनुभव ही जीवन का एक मात्र सत्य है। अनुभव का न भूत है न भविष्य उसका तो केवल वर्तमान ही होता है। इस प्रकार क्षणवाद की नये रूप में स्थापना हो रही है। आज का मनुष्य अनवरत चिंताग्रस्त है और अनवरत चिंता की यह मनः स्थिति आधुनिकता का एक अत्यंत स्पष्ट लक्षण है। जीवन की चेतना आज स्पष्टतः ही अत्यंत जठिल बन गयी है।

कॉडवेल के अनुसार कला व्यक्ति की भावनाओं को इस तरह बदलती है कि वह इस संसार के प्रति अधिक सूक्ष्मता और गहराई के साथ प्रतिक्रिया कर सके। रचना का संसार नाटककार के परिवेश को केवल प्रतिफलित नहीं करता है, बल्कि वह हमें उसे विशेष ढंग से देखने की दृष्टि भी प्रदान करता है। साधारण रूप से रचना के संसार और लेखक के परिवेश के बीच कोई विरोध नहीं होता। रचना का संसार नाटककार के परिवेश से ही उभरता है और फिर उसीको समर्पित हो जाता है।

बीसवीं सदी के इस अंतिम दशक में भी अनेक प्रकार के संकटों के बावजूद दुनिया भर की शोषित और उत्पीडन जनता के मन में बेहतर जिंदगी की आशा और उसके लिए संघर्ष की भावना मरी नहीं है। वह आज भी जीवित है और सक्रिय भी। वही मानव मुक्ति के आख्यान की जीवन शक्ति है और मानव समाज के इतिहास की प्रेरक शक्ति भी। वह आज दुनिया के विभिन्न हिस्सों में अनेक प्रकार के जन आंदोलननों के रूप में जगह जगह प्रकट हो रही है।

साहित्य सामाजिक दस्तावेज है, वह भविष्यत् उत्तराधिकारियों के काम आना है। इस दस्तावेज की लिखावट को परिवेश ही रूप रंग देता है। परिवेश इतिहास को सही दिशा में सोचने की तडप दिखाती है। इस सदी के इतिहास का मूल्याकन करते हुए इटली के इतिहासकार लिओ वेलिआनी ने ठीक ही कहा है कि - ***"हमारी सदी यह साबित करती है कि न्याय और समानता के आदर्शों की विजय हमेशा अल्पजीवी की होता है, और यह भी कि अगर हम अपनी स्वतंत्रता की रक्षा कर सकें तो नई शुरुआत की संभावना हमेंशा बनी रहती है, इसलिए अत्यंत कठिन समय में भी निराशा होने की जरूरत नहीं।"***[32]

1.5 प्रयोग

मानव समाज ने प्रचीन काल से जितनी भी प्रगति का साक्षी बनी है, उसके प्रत्येक चरण में प्रयोग है तथा उसके इन प्रयोगों का मूल एक विशाल परंपरा है। प्राचीन काल से आज तक जितने भी युगांतकारी परिवर्तन दिखाई देते हैं सभी अपने अपने समय के साहसिक प्रयोग है। जिस प्रकार प्रत्येक स्वास अपने पूर्ववर्ती उच्छ्यास से जुडा है, और जिस प्रकार बीतेवाले चरण को पिछले चरण का आधार न मिले तो वह आधूरी है उसी प्रकार परंपरा के बिना प्रयोग की व्याख्या नहीं हो सकती। साधारण रूप से परंपराओं को प्रयोग की श्रृंखला से जोडकर ही भविष्य का निर्णान होता है। परंपरा जब पुरातन बन जाती है तो प्रयोग ही उसे ध्वन्स करने अपने मार्ग प्रशस्त करती है।

अतः हम सही दृष्टि से देख सकते है । मानव का जन्म ही एक प्रयोग है। अपनी माँ की पेट से पैदा होते ही बच्चे को उस वातावरण से और एक नयी वातावरण पर युद्ध करना पडता है, यही मनुष्य की पहली प्रयोग है। मनुष्य की हर चेष्टा को विश्लेषित करने से उसमें एक प्रयोग जरूर मिलता है। अपने हर जरूरत के पीछे उसकी पूरी करने के लिए एक नया प्रयोग मनुष्य को करना पडा है। शिलायुग से आज तक मनुष्य की हर जीवननुभव के पीछे एक प्रयोग छिपा हुआ है। वस्तुतः प्रयोग के बिना आज मनुष्य का अस्थित्व ही नहीं है।

प्रयोग उसी समय कहला सकते है जब उसमें परंपरा के बीज विद्यामान रहते हैं और साहित्य के विकास में योगदान देते हैं. परंपरा से अलग हटकर साहित्य में प्रयोग किए जाय तो उसमें सामाजिक मह्तव नहीं रह जाता क्योंकि सामाजिक एवं उसकी नैतिकता का विरोघ करने से प्रयोगों का कोई मूल्य नहीं रह जाता। सर्वथा स्वतंत्र रूप से किए गए प्रयोग भी विचित्र जान पडते हैं। क्योंकि जो वस्तु हमसे परिचित है उसी के नएपन से हम आनंद उठा सकतेहैं। हम नवीनता को तो चाहते है पर साथ ही उसका संबंध परंपरा से देखना चाहते हैं। अतः प्राचीनता और नवीनता का समन्वय हम देखना चाहते हैं. नये प्रयोगों का मुल्य परंपराओं की सापेक्षता में ही निहित है। परंपराएँ अतीत के अनुभवों और ज्ञान पर आधारित होने के कारण सशक्त और जीवंत रहती है, इसे विरासत में प्राप्त कर लेखक नए प्रयोगों का सृजन करता है।

आधुनिक काल में परंपरागत कथात्मक स्त्रोत का उपयुक्त एवं उचित प्रयोग दिखाई पडता है। पचास के आगे जिन वस्तुओं को हम देखते है उनका परंपरागत स्रोत भी अत्यंत विस्तृत है साथ ही उनका समुचित विकास भी परिलक्षित होता है।

अपने युग और समाज को उन्होने प्रमुखता दी और भविष्य के लिए एक नई दृष्टि प्रदान की। साहित्यकार की यह विशिष्टता परंपराओं को यथावत् रखने में नहीं अपितु उसमें मौलिक प्रयोगों के साथ सहृदय तक पहुँचाने में है। अतः परंपरागत कथावस्तु को नया रंग देकर एवं उसमें मौलिकता का समावेश करके साहित्यकार कृति को नवीन संदर्भ में प्रस्तुत करता है।

प्रयोग शब्द वस्तुतः पाश्चात्य साहित्य में प्राचलित Experiment के पर्यायवाची और समानार्थी है। पाश्चात्य लेखक टी. यस. इलियट के अनुसार परंपरा और प्रयोग पर विचार करते समय उसकी मूल चेतना को ध्यान में रखना आवश्यक है। भविष्य सदा के लिए भविष्योन्मुखी होती है। - ***"परंपरा और प्रयोग किसी भी सर्जनात्मक संरचना की प्रक्रिया है, परन्तु इन दोनों में निश्चित अंतर है। परंपरा की दृष्टि अतीत की ओर होती है, पर प्रयोग की भविष्य की ओर।"*** [33]

परंपरा और प्रयोग का संबंध भी अविच्छिन्न है। परंपरा अर्थात् अतीत से जुडकर ही प्रयोग का निर्माण होता है। एक प्रतिभा संपन्न कलाकार अपने ढंग से प्रयोग करता है तथा पुरानी परंपरा में एक नयी दिशा को जोडकर एक नवीन दृष्टि प्रदान करता है। परंपरा को वह अपने ढंग से ग्रहण करता है, अनुभव करता है फिर अपनी अनुभव के अनुसार उसे ढालकर मौलिकता प्रदान करता है। परंपरा जब बद्ध होने लगती है तो नये कलाकारों द्वारा ही उससे नये स्रोत फूटते है और एक नई दिशा बनती है। परंपरा से मुक्त होकर कलाकार कुछ भी नहीं कर पाता। पंरपरा में जब स्थिरता आने लगती है तो नये प्रयोग होते है और यही प्रयोग कालांतर में परंपरा बन जाते है यह क्रम चलता रहता है। असल में परंपरा ही प्रयोग को प्रेरणा देती है। अगर हमें नए नए प्रयोगों की माँग है तो उसके लिए सार्थक परंपरा की भी आवश्यकता है।

प्रयोग चेतना के नवीन स्तरों का अनुसंधान कर अभिव्यक्ति के लिए नये नये मार्गों का उद्घाटन करता है. परंपरा आवृत्ति में निवास करती है ,पर प्रयोग अनावृत्ति में बसा रहता है। परंपरा और प्रयोग में वही अंतर है, जो बुन्दु और रेखा में। बिन्दु एक प्रकार से प्रयोग है, परंपरा रेखा है। परंपरा अनुशासन है, पर प्रयोग मुक्ति। परंपरा एक रस होती है, पर प्रयोग भिन्न रस। परंपरा का संबंध संस्कृति से है, पर प्रयोग का सभ्यता से।

परंपरा और प्रयोग का संबंध कारण-कार्य संबंध है। यह एक प्रकार का अनिवार्य संपर्क है, जो कर्तव्य-अधिकार की भाँति परस्पर जुडा है। इन दोनों के

सामंजस्य को परस्पर पूरक माना जा सकता है। प्रयोग की प्रतिक्रियात्कम प्रेरणा परंपरा में ही रहा करती है। इस नाते भी प्रयोग परंपरा से संयुक्त है। परंपरा और प्रयोग क्रिया प्रतिक्रिया के रूप में चक्रवत् घूमते हैं। प्रयोग बीज है, परंपरा वृक्ष है। परंपरा ढेर-सारी कडियों के रूप जंजीर है और प्रयोग उसकी अलग अलग खडी। विकासनशील परंपरा अपने आद्यातन समग्र में रूपायित होती है, प्रयोग कालांकित होता है।

साहित्य के क्षेत्र में लेखक अपने पूर्व के कवियों द्वारा अपनाई गई विधियों को विरासत में प्राप्त करता है। साथ ही साथ उनके द्वारा प्रयोग की हुई शिल्प-विधि भाषा आदि को भी उत्तराधिकार के रूप में ग्रहण करता है। इन सबको अपनाकर निपुणता प्राप्त कर भविष्य के लिए एक नया मार्ग विकसित करता है. यह मार्ग तभी बन सकता है जब कि उसे पूर्व पंरपरा का सक्षम ज्ञान न हो जाय। इस संबंध में डॉ. सुकडा ने कहा है कि - ***"लेखक अतीत पर प्रभुत्व बनाये रखने के क्रियात्मक प्रयत्न में जिससे उसे आधुनिक संदर्भ में देखा जा सके तथा अतीत में प्राप्त श्रेष्ठ परंपरावादी की संज्ञा प्राप्त करता है।"***[34]

1.5.1 परंपरा और प्रयोग

टी. यस. इलियट ने अपने 'सेलेक्टेड प्रोज' में कहा है कि कोई भी कलाकार अपने आप में सर्वथा पूर्ण नहीं होता। प्राचीन युग के संबंध से ही उस गुण तथा गौरव की सराहना की जाती है उसकी स्वतंत्र या निरपेक्ष सत्ता का कोई मूल्य नहीं होता। समान या असमान बातों में पुराने कवियों के साथ उसकी तुलना करने में ही उसकी विशेष महत्व प्रकट होता है। जो भी पुराना रहता है सदा के लिए नये वस्तु को जन्म देना ही चाहता है। इस संसार में कोई नए वस्तु की सृष्टि हम नहीं कर सकते है, हम केवल उसे बदलकर नया बना सकते है। उसी प्रकार प्रयोग के पीछे पंरपरा निहित है। बिना परंपरा के हम प्रयोग के बारे में सोच भी नहीं सकते है। दोनों के बीच जो अतः संबंध रहता है उसका परिणाम ही प्रयोग का प्रादुर्भाव है।

पंरपरा एक अप्रतिहत धारा है जो निरंतर बहती है तथा समाज को भूत एवं भविष्य से जोडती है। यह परंपरा विभिन्न रूपों में सामाजिक जीवन के प्रत्येक क्षेत्र को पारिवारिक, धार्मिक, सामाजिक, आर्थिक, शैक्षणिक, दार्शनिक आदि को प्रभावित करती है। परंपरा की निरंतरता के कारण जीवन एक संस्कार बन जाता है और जब यह परिपक्व हो जाती है तो इसका बिखरना आरंभ होता है। तभी नये नये प्रयोग जन्म लेते है। कलाकार में यही प्रयोग परंपरा बन जाते हैं तथा प्रत्येक परंपरा से फिर नये प्रयोग सामने आते है। इसी बात की पुष्टी लक्ष्मीकांत वर्मा ने भी की है। उनका

कहना है कि - " ***परंपरा और प्रयोग से अमेध संबंध है तथा वे एक दूसरे के पूरक है। प्रत्येक प्रयोग कुछ काल में अनंतर पंरपरा बन जाते हैं तथा प्रत्येक परंपरा में नये प्रयोग की सृष्टि होती रहती है जिस परंपरा के आगे प्रयोग करने की प्रेरणा नहीं होती वह उतनी ही निरर्थक है जितना की वह प्रयोग जो नई पंरपराएँ स्थापित करने में असमर्थ होता हैं।***"[35]

प्रयोग की प्रेरणा परंपरा से ही होती है जिस परंपरा में विकास की प्रेरणा नहीं; गति नहीं वह अधिक समय तक जीवन नहीं रख सकती। जैसाकि कहा जा चुका है परंपरा एक निरंतर गतिशील धारा है। गति के आभाव में वह स्थिर एवं जड हो अतः परंपरा और प्रयोग का विशिष्ट संबंध है। प्रयोग परंपरा का विरोधी न होकर उसे एक नया अर्थ देता है। परंपरा को नवीन सदमों में ढालने का कार्य प्रयोग द्वारा ही होता है। साहित्य में किए जानेवाले प्रयोगों का काम रूढियों की उपेक्षा कर नवीनता लाने का है। रूढियों के कारण ही परंपरा में स्थिरता आ जाती हैं। ऐसे समय पर प्रयोग की आवश्यकत्ता अनिवार्य रूप से होती है।

परंपरा ही तृटियों को दूरकर नयी व्यवस्था लाता है, जिसके कारण पंरपरा की स्थिति सम्भल जाती है और फिर नई स्फूर्ति के साथ आगे बढने लगतीहै। नवीनता द्वारा परंपरा में गतिशीलता आती है और यह भी तथ्य है कि परंपरा के द्वारा ही नवीनता का विकास होता है अतः नये प्रयोग परंपरा में ही विकास पाते है। परंपरा एक बंधी बंधाई वस्तु नहीं और मृत है। अगर यह परंपरा बंध जाय तो इसे छूटकारा प्रयोग ही दिला सकती है। परंपरा के संबंध में कहा जा सकता है कि कोई भी साहित्यकार परंपरा को छोडकर आगे नहीं बढ सकता अर्थात कोई भी स्वतंत्र रूप से सर्वथा पंरपरा में विछिन्न होकर नहीं रह सकता। कुछ प्रयोगवादी परंपरा को निर्मूल मानकर चलते हैं।

वर्तमान युग के प्रयोग का कारण अतीत की परंपराओं में ढूँढा जा सकता है। अतीत वर्तमान का जनक है। वर्तमान की उत्पत्ति अतीत से हुई है यही कारण है कि वह उसका एक अंश है। वर्तमान की जो स्थिति है वह पूर्व की स्थिति का ही फल है तथा पूर्व की स्थिति है उसमें भी पूर्व की स्थिति का परिणाम है। इसी को कार्याकरण की अखण्ड धारा मानते है जो दीर्घ काल में निरंतर चली आ रही है. इस संबंध में सारस्वत कहते है कि - "***वर्तमान को समझने के लिए अतीत की ओर अवश्य दृष्टिपात करना चाहिए, क्योंकि अतीत भी वर्तमान में ही छिपा हुआ है। कार्याकरण की इस श्रृंखला पर विचार करने में विदित हो जाएगा कि वर्तमान काल के***

प्रयोगवादी क्रान्ति अपने में पूर्व पूर्वतर प्रगतिवाद,छायावाद, द्विवेदीयुग, भारतेन्दु युग एवं प्रारंभिक कवियों से एक ही श्रृंखला में जुडी हुई है."[36]

अतः हम कह सकते है कि परंरा से अलग होकर या स्वतंत्र रहकर नये प्रयोग नहीं हो सकते है। परंपरा अतीता के महत्व एवं अनुभव प्रस्तुत करती है जुसका संबंध लेकर प्रयोग उससे शक्ति ग्रहण करता है। क्योंकि परंपरा का अनुभव भविष्य के लिए दृष्टि प्रदान करता है। प्राचीन काल में आज तक समृद्ध परंपराओं भविष्य के संचित कोश को देख सकते है और प्रयोगों से भविष्य में होनेवाली विकास की सम्भावनाओं का उल्लघन कर सकते है। अतः परंपरा और प्रयोग का संबंध अविच्छिन्न है। दोनों एक दूसरो के पूरक है। आधुनिक काल में बुत अधिक प्रयोग हुए है। यह कहना एक कहना एक तरह से उचित होगा कि आधुनिक युग प्रयोगों का युग है।

1.5.2 प्रयोग प्रगति का चिह्न है

साहित्य जीवन की अभिव्यक्त होने के कारण जीवन में समान ही गतिशील है। यही कारण है कि साहित्य को प्राचीन नियमों से बांध नहीं सकते। प्रयोग ही साहित्य के नियमों को तोडकर एक नये मोड लाता है। एक साहसिक साहित्यकार ही अपने युग की माँग को पूरा करता है तथा अपनी प्रतिभा से पंरपरा का संशोधन करके नवीन सर्जन करके अपनी मौलिकता का परिचय देता है। परंपरा जब रूढ होकर अपनी युग सत्य को अभिव्यक्त देने में असमर्थ होती है तो सशक्त लेखक उस युग की अभिव्यक्ति के नये प्रयोगों को जन्म देता है। डॉ. शम्भूनाथ सिंह ने भी कहा है कि -
" साहित्य के क्षेत्र में प्रयोग अपने व्यापक अर्थ में उन सभी प्रयत्नों को समेट लेना है जो भाव विचार और अनुभूति के क्षेत्र में नवीनता के साथ साथ उनकी अभिव्यक्ति के प्रकार और रूप में नवीनता का समावेश कराते हैं।"[37]

साहित्य के क्षेत्र में प्रयोग की आवश्यकता अभिव्यक्ति के परंपरागत रूपों से संदर्भ, विरोध या प्रतिक्रिया में दिखाई पडती है। उदाहरण के लिए हम यह कह सकते है कि हिन्दी साहित्य में भी विभिन्न कालों में भी यह बात स्पष्ट है जैसे द्विवेदी युगीन इतिवृत्तात्मकता, उपदेशात्मकता, नीरसता आदि से मुक्त होने के लिए छायावादी में प्रयोग हुए फिर छायावादी की काल्पनिकता, कोमलता, अलौकिकता से मुक्ति पाने के लिए प्रगयिशीलता के प्रयोग हुए। यह ठीक ही है कि प्रयोग के द्वारा कई खोज संभव है और रचनात्मक कार्य प्रयोग के द्वारा ही हो सकता है। अज्ञेय ने भी इस

संदर्भ में कहा है कि - " ***जो कहता है कि मैंने जीवन भर प्रयोग नहीं किया वह वास्तव में यही कहता है कि मैंने जीवन भर कोई रचनात्मक कार्य करना नहीं चाहा ऐसा व्यक्ति अगर सच कहता है कि तो यही पाया जायेगा कि उसकी कविता, कविता नहीं है उसमें रचनात्मकता नहीं है, वहाँ कला नहीं शिल्प है हस्त लघाव है।***"[38]

यह सही है कि प्रयोग नये नये मार्गों का अनुसंधान करता है। रचना सत्य को पाने के लिए नवीन प्रवृत्तियों का सृजन करती है। परन्तु बात यह उठती है कि हिन्दी सीहित्य में भी धारणाओं के साथ 'वाद' संज्ञा को भी जोडा गया उसी प्रकार प्रयोग का भी एक प्रत्येक वाद का सृजन किया गया। हिन्दी साहित्य में 'प्रयोग' वाद का जन्म नई कविता के पृष्ठ के रूप में हुआ अर्थात किसी एक काल, विशेष दिशा में प्रयोग करने की मानसिकता ने तारसप्तक को जन्म दिया। इस प्रयोगवादी काव्य में अनेक तरह के प्रयोग मिलते हैं।

प्रयोगवाद में अनेक प्रयोग दिखाई पडते है लेकिन वह प्राचीन कलाकारों के कुछ भिन्न रूपों में है उनमें अंतर यह है कि प्राचीन कलाकारों के प्रयोग अनायास हुए सचेतन रूप में ही नहीं पर आज का प्रयोगवादी लेखक सचेत होकर अनेक प्रयोग करते हैं। सभी सप्ताकों से यह सिद्ध होता है कि अज्ञेय तथा अन्य सम्मिलित कवि प्रयोग शब्द का उल्लेख बार बार दिया है। इस प्रकार प्रयोगवाद एक काव्यधारा विशेष की जागरूकता गतिशीलता का एहसास दिलाता है।

प्रयोग और प्रयोगवाद के साथ प्रगति पर भी विचार किया जाना चाहिए। प्रगति शब्द विकास का सूचक है। यह विकास सामान्य नहीं अपितु एक प्रकार की उत्कृष्ट गति है। प्रगति का अर्थ न केवल आगे बढना वरन् अपने भीतर कुछ परिवर्तन लिये होता है। अतः प्रगति को मात्र न मानकर एक उत्कृष्ट गति माना जाना चाहिए जो न केवल बाह्य समाज की अपितु मानसिक विचारों को भी आन्दोलित करती है।

प्रयोग और प्रगति में संबंध यह है कि प्रगति प्रयोग की सहनशक्ति है इसमें प्रगतिशीलता है। साहित्य की धाराओं में जब जब प्रगति की छायी पडी तब तब प्रयोग गति से सहायक बनकर आये इस तरह प्रयोग और प्रगति एक दूसरे में हमराही है। किन्तु जब प्रगतिवाद बन जाय अर्थात कुछ निश्चित नियमों में बंधकर चले तब प्रगति का सामान्य अर्थ है दृढकर एक सीमा में बंध जाएगा। प्रयोग के महत्त्व तो गतिशीलता के साथ है, प्रयोग के माध्यम से ही विकास संभव है। यह कहा जा सकते है कि प्रयोग और प्रगति का कोई वाद नहीं होता परन्तु हिन्दी कि दो विशिष्ट काव्यधाराओं

का प्रयोगवाद और प्रगतिवाद नाम से जाना जाता है जो किसी प्रवृत्ति विशेष की परिचायिका है।

1.5.3 प्रयोग और आधुनिकता

प्रयोग शब्द एक विस्तृत क्षेत्र से जुडा हुआ है। इसके मूल में अन्वेशण की प्रवृत्ति है. प्रयोग नवीन की खोज करता है जिस से नये तथ्य सामने आते है। प्रयोग की प्रवृत्ति ही नयी दिशाओं के द्वार खोलती है। प्रयोग और आधुनिकता के संबंध में विचार किया जाये तो दोनों का अर्थ भी नयापन ही है। प्रयोग द्वारा नयी नयी खोजें होती है और आधुनिकता को भी नयापन कह सकते है। प्रयोग जैसे परंपरा से भिन्न है उसी तरह आधुनिकता को भी हम अतीत से भिन्न कह सकते हैं।

जिस तरह प्रत्येक युग में प्रयोग हुए है उसी तरह हर युग अपने अतीत की उपेक्षा आधुनिकता माना जाता है। जैसे वैदिक युग से उपनिषद युग आधुनिक था, उपनिषद की उपेक्षा वौद्धयुग आधुनिकता या फिर उसके बाद क्रान्तिकाल आधुनिक रहा अर्थात हर युग अपने समय आधुनिक रहा अर्थात, हर युग अपने समय आधुनिक था। इस दृष्टि से देखा जाय तो पिछले युगों का हर सर्जक लेखक आधुनिक बोध वाला था सूर, तुलसी, कबीर, प्रसाद, पंत, निराला, सभी आधुनिक बोध संपन्न थे। परन्तु आधुनिकता आजकल और स्पष्ट किया गया है। आज हमने श्रद्धा, विश्वास आदि के स्थान पर सन्देह, तर्क अपनाया और प्रयोग को लेकर आगे बढे।

स्पष्टतः भारतीय समाज में आधुनिकता बगैर किसी गंभीर चिंतन मूलक और सांस्कृतिक आधार के एक फैशन के रूप में प्रविष्ठ हुई। यहाँ तक भारतीय कला और साहित्य जगत में भी, जिसके माध्यम से इस आधुनिकता ने अपने पैर भारत में रौपे, आधुनिकता के लिए एक समय तो थी, किन्तु वह बौद्धिक जगत भी इस आधुनिकता के लिए अपने भीतर कोई स्वतःस्पूर्त और वस्तुपरक भूमि नहीं तलाश कर पाया। समस्त रचना कर्म का मर्म चाहे वह कला हो या साहित्य कला को संदर्भित करते हिए कालातीत हो जाने में है। चूँकि तत्कालीन भारत में आधुनिकता की कोई वैचारिक सांस्कृतिक भूमि नहीं थी अतः आधुनिकता के प्रभाव में उपजे इस काल का यह भारतीय कला और साहित्य न तो अपने देश-काल के यथार्थ को संदर्भित कर पाया, न ही कालातीत या कालजयी हो सका।

यह कहना उचित होगा कि आधुनिकता एक प्रकार की युग चेतना है। एक युग का समाज और उसका व्यक्ति अपने समय के चेतना को स्वीकार करना है,

नवीनता की स्थापना करना चाहता है। यही चेतना अतीत से चली आनेवाली पंरपरा को रीति रिवाज विचारों को नकार कर वर्तमान के नवीन प्रयोगों, विचारधाराओं को जन्म देता है। प्रत्येक युग की अपनी भिन्न आधुनिकता होती है फिर भी हर युग में नए उपलब्ध जीवन मूल्य अपने पूरववर्ती युगों की तुलना में आधुनिक होते हैं। इतिहास में समय-समय पर आधुनिकता आती रहती है। यही आधुनिकता प्राचीन परंपराओं और रूढियों का अतिक्रमण कर नये मूल्यों को स्थापित करते है। रूढियों के प्रति यह विद्रोह भौतिकता एवं तर्क द्वारा ही हो सकता है। आधुनिकता का विशेष महत्व इसमें निहित है कि नवीन जीवन मूल्यों का अन्वेषण करें। मूल्यों का क्रमानुसार विकास इसी के आधार पर देखा जा सकता है।

1.5.4 प्रयोग : एक अनिवार्य आवश्यकता

प्रयोग के बिना मनुष्य इस संसार में जी नहीं सकता है।, 'प्रयोग' मनुष्य का एक अंग बन गया है। कम्प्यूटर आने के बाद प्रयोग की पक्षधरता और बढ गयी है। प्रयोग की वजह से ही आज 'ग्लोबल विलेज' की भावना बढ गयी है। प्रयोग के बाद संसार दूरी की दृष्टि से छोटी बन गयी है। आज हम इटरनेट, ई-मेइल आदि प्रयोगों के द्वारा हमको एक नई संसार मे पा सकते है। इन सबके पीछे प्रयोग निहित है।

प्रयोग निहित रूप में किभी भी युग की किसी भी राष्ट्र की एक अनिवार्य आवश्यकता बन गयी है। मनोवैज्ञानिक दृष्टि से यह नितांत अनिवार्य है। गौर करने से हम इस नतीजे तक पहुँचते है कि प्रयोग ही से परंपरा भी प्रारंभ हुई होगी। अव्यक्त की यह सृष्टि रचना भी एक प्रयोग है। जैसे बूँदबूँद जल से ही सागर बन जाताहै और कठोर लघु लघु शिलाखंड पर्वत खडा कर देते है, वैसे ही विभिन्न युगीन प्रयोगों के आवृत्त होते रहने से परस्पर निर्मित हो जाती है। अतः प्रयोग न केवल युगधर्मिता की दृष्टि से एक महत्वपूर्ण आवश्यकता है, प्रत्येक युगीन चिरंतनता के दृष्टिकोण से भी एक अनिवार्य अपेक्षा है।

युगीन यथार्थ और प्रगतिशीलता के विचार से प्रयोग का अस्तित्व तो है उसके साथ प्रवाही परंपरा की गत्यात्मकता भी महत्वपूर्ण है। जब युगसंधि के बीच से गुजरना होता है और जीवन मूल्यों में परिवर्तन तीव्रगामी हो जाता है तब प्रयोगी सत्वरता की अपेत्रा होती है। वह युगीन अनिवार्यता बन जाती है। प्रयोग द्वारा ही साहित्य में पुनर्जीवन आता है और प्रयोग ही साहित्य को निष्ठित संस्कार देता है।

जे. आइजक ने प्रयोग की इस अनिवार्यता की स्थापना करते हुए लिखा है कि " ***यदि साहित्य में पुनर्जागरण लाना है और इस बात के संकेत मिल रहे हैं कि वह अकर रहेगा तो प्रयोग होते रहने चाहिए। बिना प्रयोग के साहित्य निर्जीव हो जाता है। बिना प्रयोग के युग मृत हो जाता है।"***[39] अनिवार्य आवश्यकता के रूप में प्रयोग की शास्त्रीय स्थापना का इससे बढकर प्रमाण और क्या हो सकता है कि विश्व में परिवर्तन के कितने मोड आये हैं और भविष्य में भी जो आनेवाले हैं, वे सब के सब प्रयोग है और प्रयोग ही कहलायेगें। प्रयोग कला की प्रगति एवं विकास का एक मात्र उपाय है। साहित्य को क्षय होने से बचाने की यही एक मात्रता है। स्पष्ट है, प्रयोग से जो असहमत है, उनकी दृष्टि में किसी भी नयी अनुभव के प्रति भय की भावना है।

महत्वपूर्ण बात यह है कि प्रयोग प्रगति के उन्मेष के लिए भी अनुवार्य है, क्योंकि वर्तमान में कला का जो भी नवीन स्वरूप अभिव्यक्त होता है, उसमें व्यक्ति का निजीत्त्व के प्रयोग ही उभरकर बाहर आता है, परंपरा नहीं। प्रयोग रचनाकार के अंतः करण की मौलिक आवश्यकता है और कथाकार की मौलिकता परंपरा-प्रथिक नहीं होती। अपने निरंतर प्रयत्न के द्वारा कलाकार प्रयोग करता जाता है। अगर उस प्रयोग को सर्वसामान्यता मिलने से वह प्रयोग एक नयी धारा का रूप पाकर संवेदनात्मक भावाभिव्यक्तीकरण पाता है।

इस प्रकार प्रयोग परंपरा से जन्म लेकर और एक पंरपरा का श्रोत बन जाती है। प्रयोग हिन्दी नाटक के साथ अविच्छिन्न रूप से जुडी हुई है। आधुनिक हिन्दी नाटक की प्रकृति प्रयोग की हा, माध्यम प्रयोग का है, साधन प्रयोग का है। यह प्रयोग ही आधुनिक नाटक के स्वरूप को ठीक ठीक उद्‌घाटित करता है। आधुनिक हिन्दी नाटक में प्रयोग की गति अधिक है, उसकी सीमा भी बडी है।

1.5.5 प्रयोग : बनाम नाटक

मूलतः प्रोयोग शब्द का अर्थ होता है नयी वस्तु अथवा नये तथ्यों अथवा नयी रचना प्रक्रिया के अन्वेषण की प्रक्रिया। साहित्य में शैली और शिल्प कथ्य के धरातल पर असंख्य प्रयोग किये जा चुके हैं। नाटक के क्षेत्र में प्रयोग का महत्व और अधिक विशिष्ट हो जाता है क्योंकि नाटक एक साथ श्रव्य और दृश्य काव्य है। अतः एक नाटककार से प्रयोगधर्मिता की अपेक्षा भी उसी अनुपात मे अधिक रहती है।

साधारणत रूप से जो भी नाटक लिख जाता है वहमंच पर प्रस्तुत होने के लिए ही और यह भी सत्य है कि मंचीय प्रस्तुति के बाद उसी नाटक की दूसरी

मंचीय प्रस्तुति भिन्न तरह की होती है। यह भिन्नता नाटक में किये गये प्रयोगों के कारण ही होती है अन्यथा बार-बार एक ही नाटक के रंगमंचीय प्रदर्शन से उसका काल्पनिक सौन्दर्य निखर नहीं पाता। यहाँ प्रयोग का अर्थ मात्र रंगमंचीय प्रस्तुति न होकर उस प्रस्तुतीकरण में नवीनता का समावेश हो जाना है।

किसी भी रचना में जब तक नीवनाता नहीं होगी तब तक उसे प्रयोग नहीं कहा जा सकता इसी क्रम में अनेक लोक नाट्य परंपराओं के प्रयोग दृष्टिगत होते हैं। समकालीन हिन्दी नाट्य साहित्य में इन लोक नाट्यों ने प्रयोग के धरातल पर बहुमुखी विकास के द्वार खोल दिये। फलतः लोकनाट्य के भिन्न-भिन्न रूप से प्रभाव ग्रहण कर नाटककारों ने अपनी नाट्य रचनाएँ प्रस्तुत की जो प्रयोग धर्मिता के धरातल पर एकदम नयी और आकस्मिक सिद्ध हुई।

स्वातंत्र्योत्तर हिन्दी नाटकों में प्रयोग की स्थितिविशेष रूप से देखी जा सकती है। इस बीच भारतेन्दु, जयशंकर प्रसाद, और लक्ष्मीनारायण मिश्र ने कई श्रेष्ठ मौलिक हिन्दी नाटकों की रचना की। उस समय कुछ नाटककारों ने इस विषम परिस्थिति से मुकाबला करने की ठानी और शैली, शिल्प एवं कथ्य के धरातल पर नवीन प्रोयोग कर, हिन्दी नाट्य साहित्य को ही वरन् संसार के नाट्य साहित्य को अपनी आकृष्ट किया। उत्कृष्ट प्रयोग धर्मिता के प्रारंभिक दौर के नाटककारों में धर्मवीर भारती, मोहन राकेश, लक्ष्मीनारायण लाल, हबीब तन्वीर आदि नाम उल्लेखनीय हैं। इनके द्वारा अपने नाट्य साहित्य में किए गए शैली, शिल्प और कथ्यगत प्रयोग नये थे उनके आदर्श बनाकर परवर्ती नाटककार, सुरेन्द्र वर्मा, मुद्राराक्षस, सर्वेश्वर दयाल सक्सेना, भीष्म साहानी, गिरीश कर्नाड, विजय तेंदूलकर, सुशील कुमार सिंह आदि गिने जाते हैं।

1950 के बाद संसार में अनेक संस्थागत प्रयोग हुए हैं। राजनीतिक, आर्थिक, सामाजिक, सांस्कृतिक धरातल प्रयोग के शिकार बन गये हैं। प्रयोग हर जगह पाया गया है, हर क्षेत्र प्रयोग के लिए तत्पर है। पचासोत्तर नाटक और रंगमंच मूलतः प्रयोगधर्मी रहा है। हिन्दी नाटक के युग में आजादी मिलने के बाद के दो-तीन दशक अपना नाटक और रंगमंच तलाश करते रहे हैं। साठोत्तरी नाटक को परंपरा के रूप में जो नाटक प्राप्ति हुई वो रंगमंचीय नहीं थी। कहने का मतलब यह है कि रंगमंच के साथ जुडकर नाट्य रचना नहीं हुई थी। रंगमंच से जुडे बिना नाट्य रचना कभी पूर्ण हो ही नहीं सकती।

आजादी के बाद के हिन्दी नाटकों में नाट्य वस्तु के चयन में विविधता आयी है। ऐतिहासिक, पौराणिक और समस्यापरक नाटकों तथा सामाजिक कुप्रथाओं पर चोट करनेवाले नाटकों की जगह नयी परिस्थितियों के आलोक में रखकर विभिन्न आर्थिक, सामाजिक, नैतिक, राजनीतिक और मनोवैज्ञानिक विषयों पर भी नाटक अपने प्रयोग के विषय बनाये गये है। इस प्रकार की रचनाओं करने के लिए आधुनिक नाटककार अपने आप को तैय्यार करने लगे हैं। - ***"समसामयिक जीवन में उत्पन्न होने वाली विभिन्न धार्मिक जीवन स्थितियों का कटु साक्षात्कार इन प्रयोगों का लक्ष्य रहा। बेकारी, भ्रष्टाचात, गरीबी, अव्यवस्था, शोषण, अत्याचार, मूल्यहानता और जीवन दर्शन की अनुपस्थिति अर्थात लक्ष्यहीन जीवन की विवशताएँ आदि विभिन्न समकालीन जीवन स्थितियों से जुडकर नाट्य वस्तु के क्षेत्र में वैविद्य, विस्तार और लचीलापन उत्पन्न किया गया।"***[40]

द्वितीय विश्व युद्ध के बाद जीवन मूल्यों को गहरा आघात पहुँचा है। राजनीतिक और सामाजिक जीवन में भी बदलाव आया। स्वतंत्रता स्वप्न दुस्वप्न बन गयी है। उसी समय में आधुनिक नाट्यकारों ने अपने प्रयोगधर्मिता के साथ सही जिन्दगी के तस्वीर पेश किये हैं। अपने प्रयोगों के साथ उन्होंने नाटक को जिन्दगी के निकट लाकर यथार्थ का चित्रण करने में सक्षम हुए हैं। उन्होंने अपने प्रयोगों द्वारा परिवर्तन की सही भूमिका निभाई है। आधुनिक मानव की वैचारिक क्षेत्र को अपने युगधर्मिता का परिप्रेक्ष्य के साथ चित्रित करने का अनेक प्रयोग और प्रयत्न आज भी जारी है।

1.5.5.1 कथ्यपरक प्रयोग

नाटक काव्यात्मक प्रयोग अभिनेता के लिए अभिनय की दृष्टि से महत्वपूर्ण भूमिका निभाती है। नाटक में भाषा का चिह्न के रूप में प्रयोग करके उसमें अभिनय और अर्थ दोनों की संभावनाएँ पैदा कर देना अत्यंत कठिन है। नाटकों का प्रभाव साधारण रूप से क्रियात्मक है। नाटक में एक प्रकार की तटस्थता रचनाकार के लिए अनिवार्य है लेकिन पचास के बाद के ज्यादातर नाटककार अपने नाटकों में पक्षधरता के साथ ही अभिव्यक्तीकरण की है।

नाटकों के क्षेत्र में प्रयोगधर्मिता नाटक की प्रवृत्ति के कारण विद्यामन रही है। हिन्दी नाटकों में प्रारंभ से 'अंधेर नगरी' के समय से ही प्रयोग किये जाते रहे है। आजादी पूर्व के नाटकों की वस्तु ऐतिहासिक-पौराणिक था। यह परंपरा पचास के बाद भी बनी रही लेकिन पुराण या इतिहास की घटनाएँ लेकर नाटक के माध्यम से

ऐतिहासिक घटनाओं, उदात्त रूपों का वर्णन करना नाटककार का लक्ष्य नहीं रहा। इतिहास और पुराण के माध्यम से विभिन्न जीवन स्थितियों का लक्षण या व्यंजना से संकेत किया जाने लगा। अंधायुग, आषाढ का एक दिन, आठवाँ सर्ग आदि नाटकों में आधुनिक नाटककार इतिहास और पुराणगत विषयों को अपनी शर्तों पर उपयोग किया है।

आजादी के बाद के जो मोहभँग हुआ उसके कारण सभी वर्गों में निराशा छा गयी है। मनुष्य में निरंतर स्वार्थ, निराशा, कुंठा, बढने के कारण उनमें पशु प्रवृत्ति बढ गयी है। मनुष्य में बढती पाश्विकता को रूप देने के लिए आधुनिक नाटकों में पशुप्रतीकों का प्रयोग किया जाने लगा। ***"मनुष्य के अंदर के उन्हीं निम्न भावों एवं बर्बर, क्रूर तथा हिंसक प्रवृत्ति को पशु प्रतीक के रूप में देखने-दिखाने का प्रयास उस संदर्भ में महत्वपूर्ण हो जाता है। यह अलग बात है कि पशु प्रतीक वाले नाटक अधिकांशतः व्यवस्था विरोध एवं राजनीति संदर्भ से जुडे हुए है। फिर भी स्त्री पुरुष संबंध, सामाजिक समस्याओं एवं नैतिक मूल्यों के पतन जैसे अन्य गंभीर विषयों से संबंधित नाटक भी लिखे गये है। अर्थात इन सभी पशु प्रतीक वाले नाटकों के केन्द्र में मानव का पशुतापूर्ण चरित्र ही रहा है और लगभग सभी नाटकों में पुरुष अथवा स्त्री के पाशविक रूप का समग्र रूप ही प्रस्तुत है। इन सारी नाट्य रचनाओं में मानवीयता में पशुता की तलाश समकालीन हिन्दी नाटकों की एक सार्थक उपलब्दि है।"***[41]

सांस्कृतिक परिवेश के विकास में ही सामाजिक और साहित्यिक मूल्यों की परिभाषा सुनिश्चित होती है। संस्कृति ही मनुष्य की सहज प्रवृत्तियों को नियन्त्रित करने वाली शक्ति है। संस्कृति साल दो साल एक दो दशक की देन नहीं है। यह तो काल की उहज है, जिस कारण समय सापेक्ष परिवेश पर हावी हो जाती है। आधुनिक नाटककार अपने परिवेश से संबद्ध है। अपने परिवेश से जो प्रणाशक्ति पाया जाता है उसको आधुनिक नाटककार ने अपने नाटकों में यथार्थ रूप से चित्रित किये है। आंधायुग, बकरी, हानुश आदि नाटकों द्वारा सामाजिक परिवेश का सही प्रयोग मिलता है। उदाहरण के लिए भीष्म सहानी का नाटक 'हानुश', जो, - ***"एक स्तर पर एक कलाकार की दुर्दमनीय सिसृक्षा का नाटक है, दूसरे स्तर पर धर्म और शासन के गठबंधन से सामाजिक संघर्ष का प्रतीक नाटक है, तीसरे धरातल पर मध्ययुगीन परिवेश में एक मानवीय स्थिति का निरूपण है।"***[42]

पचास के बाद के नाटकों में विशेषकर राजनीति व्यंग्य नाटक अनेक लिखे गये है। आधुनिक नटाककार अपनी नाट्यरचनाओं द्वारा समसामयिक विडम्बनाओं, समस्याओं एवं मानवीय पीडा को अभिव्यक्ति प्रदान की है और समकालीन निजी

यथार्थ से साक्षात्कार भी किये है। सामान्य व्यक्ति को केन्द्र में रखने के कारण और जन जीवन की पीडाओं भी अनुभुत कराने में आधुनिक हिन्दी नाटक सार्थक नाट्यरचना कहलाने के अधिकारी हो जाते हैं। अब शासक तो बदल गये है लेकिन शासकीय मनोवृत्तियाँ और मानसिकता नहीं बदली हैं। पचासोत्तर नाटककारों ने अपनी इस परिवेश की तमाम समस्याओं का चित्रण अपने नाटकों में किया है। पचासोत्तर हिन्दी नाटकों में राजनीति को आधार बनाकर लिखे गये नाटकों में सर्वेश्वर दयाल का 'बकरी' और सुशील कुमार सिंह का 'सिंहासन खाली है' नाटक काफी चर्चित रहा।

अनेक शाताब्दियों से जनता और शासक के बीच संघर्ष चल रहा है, यह शाश्वत भी हैं। वास्तव में सिंहासन पर बैठने के असली दावेदार जनता है लेकिन उस हक को छीनकर इस झूठी राजनेता भोग रहे हैं। खाली सिंहासन पर बैठकर जनता की रक्षा करनेवाले व्यक्ति की खोज से प्रारंभ होकर नाटक उसी खोज से खत्म होता है। - ***"कथ्य की माँग के अनुरूप इसका शिल्प भी नया है, अतः एक अंतहीन कथ्य को एक अंतहीन नाटक में बुना गया है। जो नाटक प्रारंभ है वहीं नाटक का अंत भी है और यहाँ तक नाटक खत्म हुआ है वही से यह नाटक शुरु भी हो जाता है।"***[43]

आज भारतीय मध्यवर्गीय परिवार का हर पहलू संबंधों के अभाव में मूल्यहीन जीवन जी रहा है। उनके बाच मानमर्यादाएँ दिन ब दिन क्षीण होते जा रहे है। सारे संबंध निराशा में डूबी हुई है। पूर्ण व्यक्ति की तलाश जारी है। सब लोग अधूरे ही दीख पडते हैं। मध्यवर्गीय चेतना ने अनेक नियमों को परिवर्तित कर नए नियमों को स्थापित की है। इस पर भी आधुनिक नाटककार अनेक प्रयोग किए हैं। 'आधे अधूरे', 'द्रौपदी', 'कबिरा खडा बाजार' में आदि नाटकों में अनेक प्रयोगों के साथ मध्यवर्गीय जीवनानुभव परिवार विघटन और आर्थिक नैराश्य का आधुनिक नाटककार परिचय कराते हैं। आधे अधूरे नाटक में मध्यवर्गीय जीवनानुभव को दृष्टि में रखकर डॉ. जयदेव तनेजा लिखते हैं कि - ***"आधे अधूरे में पंरपरागत नाटकों -सी भरी -भरकम, महान और विराट घटनाएँ नहीं है। इसमें पात्रों की मनः स्थितियों और सम्वेदनाओं की टकराहट को आंतरिक विस्फोटन के रूप में तीव्रता से प्रस्तुत किया गया है।"***[44]

आधुनिक नाटककार ने काम संबंधों के कमनीय यथार्थ का सही प्रयोग किए है। स्त्री पुरुष संबंधों का सूक्ष्म और मनोवैज्ञानिक चित्रण करना आधुनिक हिन्दी नाटककारों का सक्ष्य रहा है। नारी को एक 'वाइस' देना इस काल के नाटकों में बडा ही प्रयोग के रूप में परिलक्षित होता है। इस काम संबंध साधारण रूप से अश्लील लगते हैं लेकिन आधुनिक नाटककार ने इतनी सजीवता और जीवंत बनाया

है कि अश्लील जैसे लगने के बवजूद वे अश्लील साबित नहीं होते। मनौवैज्ञानिक स्तर पर स्त्री के व्यक्तित्व की तलाश करना सचमुच आधुनिक नाटककार की प्रयोग ही है। 'सूर्य के अंतिम किरण से सूर्य की पहली किरण तक', द्रौपदी, आठवाँ सर्ग, आधे अधूरे, योर्स फेथफुली आदि नाटकों में स्त्री पुरुश संबंधों के प्रति एक नई दृष्टि का इस युग के नाटकों में सूत्रपात होता है। खुलकर अनेक विषय इस काल के नाटककारों द्वारा पूरा प्रयोग किया गया है। इस संदर्भ में नरनारायण राय लिखते हैं कि -

"मुद्राराक्षस के योर्स फेथफुली में अफसर और कंचन रूपा के संभोग करन से संबंध दृश्य 'तेदुआ' में माली की जननेन्दर्यों को अत्तेजित करने के लिए खेला गया कुलीन स्त्रियों का रोमांचक खेल, रमेश बक्षी के 'देवयानी का कहना है' में उन्मुक्त यैन संबंधों की हिमायत, 'वामाचार' में निगेटिव का अपनी कथाकथित कजिन के साथ यौन संपर्क और 'तीसरा हाथी' में नपुंसकता और आब्सेसन तथा गधे, घोडे के नये अनुभन के नाम पर स्त्री द्वारा गधे-घोडे के साथ भी सोने की तैय्यारी कुछ ऐसे ही उदाहरण है।" [45]

समसामयिक परिवेश और परिवर्तनशील मानवीय अभिरूपियो की तरह वह अपना रूप, शैली, शिल्प और अन्तर्वस्तु स्वयं ग्रहण कर लेता है। सातवें, आठवें दशक में संधिकालीन दौर में अपनी स्वतंत्र पहचान के साथ उभरा नाट्य रूप नुक्कड नाटक है। वस्तुतः नुक्कड नाटक समकालीन जीवन की समस्याओं से उत्पन्न संघर्ष की प्रेरणा के परिणाम उभरा है। नुक्कड नाटक समाज की कुरीतियों, आडंबरों, अन्धविश्वासों में जकडी हुई सामाजिक व्यवस्था का असली रूप दिखाते हैं औ उसी तरह पूँजीवादी सामंतीय ढाँचे की आर्थिक राजनीतिक धार्मिक विषमताओं में फँसे हुए जीवन का चित्र हमारे सामने रखते है। भारतीय समाज के लिए एक नये प्रयोग के रूप में जन्मा हुआ यह नुक्कड नाटक आज की भ्रष्ट राजनीति, धूर्तनेताओंके चरित्र, स्त्री अस्मिता से जुडे हुए समस्याओं का पक्ष लेकर जनसाधारण में भटकाव से बचाने की दिशा में एक सार्थक आवाज उठाता है।

नुक्कड नाटक जन्म के पीचे राजनीतिक, आर्थिक एवं सांस्कृतिक परिस्थितियाँ ही नहीं दर्शक की माँग भी जुडी हुई है। समाज को नाटकों में दिखाना एक काम है और आगे आनेवाले सामाज के लिए जमीन तैय्यार करना दूसरा काम है। दूसरे को ही नुक्कड नाटक ने विशेष महत्व दिया है। चन्द्रेश के शब्दों में - ***"अब तक नाटकों में नायकों या पात्रों या व्यक्तियों की मुख्यतया रही था। ठीक उसके विपरीत नुक्कड नाटकों में समूह उभरता, नजर आता हा, जिसमें व्यक्ति गौण है।"*** [46]

बीसवीं सदी में भारतीयता का चेहरा जितनी तीव्रगति से बदला है वह गति और परिवर्तन दोनों ही चौंकानेवाले हैं। परिवर्तन द्विविधा की सी स्थिति उत्पन्न कर रहे है। जहाँ कुछ लोग इन परिवर्तनों को प्रगति मानकर इनके प्रति अत्यधिक उत्साही है, वही कुछ लोग इन परिवर्तनों को भारतीय सांस्कृतिक गरिमा के वुरुद्ध मानकर इनको नकारने लगे हैं। इन सबके पीछे आधुनिकता छिपी हुई है। रामधारी सिंह दिनकर के अनुसार - ***"आधुनिकता एक प्रक्रिया का नाम है। यह प्रक्रिया अंधविश्वासों से बाहर निकालने की प्रक्रिया है। यह प्रक्रिया नैतिकता में उदारता बनतने की प्रक्रिया है। यह प्रक्रिया बुद्धिवादी बनने की प्रक्रिया है। यह प्रक्रिया धर्म के सही रूप पर पहुँचने की प्रक्रिया है। आधुनिक वह है जो मनुष्य की ऊँचाई, उसकी जाति या गोत्र से नहीं बल्कि उसके कर्म से नापता है। आधुनिकता वह है जो मनुष्य मनुष्य को समान समझता है।"***[47] उन लक्षणों से भरे आधुनिक मानव की सृजन हिन्दी नाटककारों द्वारा हुआ है। नंद, कालिदास, हानुश, कबीर, द्रौपदी आदि पात्र आधुनिक ही है। आधुनिक मूल्य स्थापित करने के लिए नाटककार ने अनेक प्रयोग करके नये मनुष्य का सृजन किया है।

साहित्य में साहित्यकार अपने वर्ग की बात कहकर अपने लिए एक समाज निर्माण करता है। आज दलित प्रयोग सभी साहित्य प्रक्रियाओं का विषय बन गया है। यह दलित आत्मगौरव साहित्य का आंदोलन महराष्ट्र में प्रारंभ हुआ। अब तक निषेधित किया गया साहित्य बाहर आने लगी। क्रांतिकारी भूमिका के साथ अनेक साहित्यकार ने इस दलित व्यथाओं को अपने नाटकों में साक्षात्कार किये है। डॉ. माता प्रसाद, नाग बोडस, एन, आर, सागर अपने नाटकों में, अपने साहित्य में सभी वर्गों को समानता, शिक्षा और गौरव दिलाना चाहते है। माता प्रसाद के अनुसार - ***"दलित साहित्य केवल दलितों का नहीं है बल्कि जिन्होंने भी दलित पीडा का अनुभव करके उन पर साहित्य सृजन किया है, वह सृजन दलित श्रेणी में आता है।"***[48]

आधुनिक समाज में सूक्ष्म की प्राधान्य बढ गया है। आज साहित्य का मक्सद बदल गया है। दलित साहित्य केवल पीडा और दमन का साहित्य ही नहीं वह मुक्ति का साहित्य है। माता प्रसाद जैसे साहित्यकार हिन्दी नाटक को दलित संवेदनाओं से उजागर किया है। एक लंबी प्रक्रिया में दलित साहित्य शुरुआत में ही है इस के अनेक प्रयोग और संभवनाएँ आगामी वर्षो में देखने को मिलते हैं।

साहित्यकारों के सोच केलिए कोई परिधी नहीं होती है। वे अपन सोच को चाहे विशाल बना सकते हैं, चाहे कुचल सकते हैं। लेकिन साहित्य साधना की कसौटी यह हो सकती है कि वह मनुष्य का हित साधना करता है या नही। इन

पचास सालों में ऐसा ही हवा बही है कि हर संवेदना को आधुनिक नाटक का कथ्य बनाया गया। निष्कर्ष पर पहुँचकर हम यह कह सकते है कि स्वातंत्र्योत्तर हिन्दी नाटक में पीडा और करुणा निश्चित रूप से आक्रोश बनकर संप्रेषित किया गया है।

1.5.5.2 विधापरक प्रयोग

जो कला या विधा अपने आप से अनायास ही अवतरित नहीं होती है। हर प्रक्रिया के उदय के पीछे प्रयोग अवश्य निहित है। पचासोत्तर हिन्दी नाटक विधा परक अनेक प्रयोगों से निहित है। इन विधापरक प्रयोगों के कारण हिन्दी नाट्य जगत अपने लोक धर्मी प्रवृत्ति को बढाकर अपने हदों को पार करके गतिमान है। अपना स्वतंत्र अस्तित्व के साथ पनपनेवाली इन विधाओं के अंतर्गत संपूर्णमानव के जीवन संक्षिप्त में वर्णित है।

पचास के बाद के परिवेश और मनुष्य दोनों बदलने के लिए आतुर हैं। पचासोत्तर नाटक में अपने परिवेश के प्रति विद्रोह और प्रतिक्रिया का भाव मिलता है। परिवेश से सकारात्कम संबंध रखने के कारण पचासोत्तर नाटककार अनेक कथ्यगत विधापरक प्रयोग करते हैं। अंधायुग नाटक गीति नाट्य विधा में लिखित प्रयोगधर्मी नाटक है। इस नाटक में उपयोग किया गया मुक्त छन्द और तुक संबंधी शब्द हिन्दी साहित्य को प्रयोगों द्वारा मिलने वाले उपलब्धियाँ हैं। इस प्रयोग को दृष्टि में रखकर नेमिचन्द्र जैन इस प्रकार लिखते है कि - ***"अधायुग सहज ही .युद्धोत्तर हिन्दी कविता का सबसे महत्वपूर्ण, गहन और सार्थक वक्तव्य है और यह आकस्मिक नहीं कि वह वक्तव्य नाटक के रूप में प्रस्तुत हुआ है।"***[49]

हमारे कुछ नाटककारों ने लोक शैली को अपनाया और इस लिए समकालीन हिन्दी नाटक के शिल्प पक्ष पर लोक नाट्य का अधिक प्रभाव पडा। लोक नाटक एक विधा के रूप में समकालीन भारतीय नाट्य जत पर उभरकर बाहर आता है। सामूहिक चेतना का प्रभाव को प्रस्तुत करने के लिए समकालीन हिन्दी नाटककारों का एक वर्ग जमीन से जुडने की चिंता में ही, लोक नाट्यों की ओर गया। इस प्रक्रिया में बकरी नाटक सत्तर प्रतिशत उस अशिक्षित, अल्पबुद्ध, धर्मभीरू, आदमी की कहानी है, जिन्हें लूठने की साजिश वे रचते है, जो खुद को जनता का सेवक कहते हैं। इसी प्रक्रिया में मुद्राराक्षस के आलाअफसर, हबीब तन्वीर के आगरा बाजार एक सत्य हरिचन्द्र नाटक नें अनेक प्रयोगों के लिए जमीन तैय्यार किए है।

स्वतंत्र्योत्तर सामाजिक परिदृश्य को स्पष्ट रूप से दिखाने के लिए नुक्कड नाटक उभरकर बाहर आता है। यह नुक्कड नाटक प्रक्रिया पूरे के पूरे प्रयोगों से भरा हुआ है। ***"जहाँ तक जबान की बुनावट का सवाल है नुक्कड नाटक जनता की जबान है। जनता में प्रचलित बोली अपने पूरे तेवर के साथ इन नाटकों में विद्यामान है। मंचीय नाटकों की अभजात्य पूर्ण भाषा से भिन्न देशी कहावतों, मुहावरों बोली- गाली से नुक्कड नाटकों की जबान बनती है। इस में देशी जबान का मिठास पूर्ण अपनापन तथा आक्रामक तेजी, दोनों है."***[50]

रंगमंच को नाकारकर, बिना रंग-सज्जा युक्त, केवल अभिनय पर आधारित नुक्कड नाटक हिन्दी विकास क्रम में अनेक प्रयोगों से प्रभावित है। जनता के बीच, जनता के समस्याओं को लेकर नाटक प्रदर्शित करके उन्हें सोचने के लिए विवश करते हैं। इस वशिष्ट प्रयोग के बारे में नरनारायण राय इस प्रकार लिखते है कि - " ***स्वतंत्र्योत्तर हिन्दी नाटकों की एक महत्वपूर्ण उपलब्धी यह रही है इन दिनों नाटकों विशिष्ट दर्शक वर्ग और रंगशाला की दीवारों से आजाद कर उसे सही अर्थों में जन जीवन से जोडने की कोशिश की जा रही है कि यह नाटक उनका ही है, उन्ही के बीच से जाता है, और उन्ही तक वापस पहुँचाया जाता है।"***[51]

पचास के बाद रंगमंच की तीव्र गति, प्रयोगशीलता और उत्साह नें नवीन कृतियों, नवीन संभावनाओं की तलाश की और विभिन्न देशी-विदशी कृतियों के अनुवाद और उनके नाट्य रूपांतरण पर लोगों का ध्यान केन्दित हुआ। प्रसिद्ध हिन्दी उपन्यास गोदान, मैलाआँचल, महाभोज, रागदर्बारी इत्यादि को नाटक के रूप में परिवर्तित करके प्रभाव पूर्ण प्रयोग मिलते है और उसी तरह प्रसिद्ध कहानियाँ परमात्मा का कुत्ता, कसाई बाडा, नंगी आवाजों आदि को भी नाट्य रूपांतरण करके हिन्दी रंगमंच की नये नये प्रयोगों के शिकार बनाए हैं। पचास के बाद मुख्यतः कहानी और उपन्यासों के नाट्यांतरों को देखने भीड आने लगी और सफल प्रयोगों प्रदर्शनों के साथ अनेक प्रश्न और प्रतिक्रियाएँ जहाँ दर्शकों -आलोचकों- साहित्यकार और रंगकर्मियों को मन में उठने लगी।

एक भाषा में रचनात्मक आकुलता को दूसरे भाषा में कृतित्व देने के लिए अनुवाद किया जाता है। पचास के बाद हिन्दी भाषा में अग्रेजी, जर्मनी भाषाओं के नाटक ही नहीं भारतीय भाषाओं के कन्नड, बंगाल, मराठी भाषा से भी अनुवाद किया गया है। बादल सरकार के 'बाकी इतिहास', गिरीश कर्नाड के 'हयवदन', तुगलक, विजय तेन्दुलकर के घासीराम कोतवाल, इत्यादि नाट्य कृतियों के अनुवाद हिन्दी

नाटक और रंगमंच पर आयी और हिन्दी के श्रेष्ठ नाटक और रंगशैलियों में भारतीय रंगमंच को प्रभावित किया।

इस प्रकार हिन्दी रंगजगत को प्रयोग भरित विधाओं नें शुशोभित किया गया है। इसने देश-विदेश के श्रेष्ठ नाटकों के स्तरीय प्रस्तुतीकरण करके नये हिन्दी रंगांदोलन के उद्‌भव एवं विकास में एक महत्वपूर्ण भूमिका निभाई। अतः स्पष्ट है कि इन तमान प्रभावों, दबावों, प्रयोगों और रचनात्मक चुनौतियों के भीतर से हमारा समकालीन रंगकर्मी एक भारतीय, आधुनिक, प्रासंगिक, सार्थक रंगशैली की तलाश कर रहा है। इससे यह स्पष्ट होता है तलाश से ही प्रयोग करने कै लिए हम तैय्यार रहते हैं।

1.5.5.3 मंच और शिल्प परक प्रयोग

कथ्य के साथ साथ पचास के बाद शिल्प में भी अनेक प्रयोग किये गये हैं। सबसे पहले अर्थ- प्रकृतियाँ एवं अंक दृश्य योजना के बंधन से नाटक मुक्त हुए। नाटककार रंगमंच को ध्यान में रखकर या दृश्यों का निर्माण करने लगे। अंक योजना छोडकर दृश्य योजना द्वारा नाटक को शुशोभित किया गया है। दृश्य भी छोटे-छोटे रखा गया है। 'युवर्स फेथफुली' जैसे नाटकों में अंक ही नहीं है। नाटक शुरू होने के बाद फिर अंत तक एक ही दृश्य बनाया गया है।

पचास के बाद नाटकीय शिल्प में ज्यादातर भाषागत प्रयोग और संवाद शैली में ज्यादा प्रयोग देखने को मिलते है। देशकाल की सामाजिक - सांस्कृतिक स्थिति, चेतना और संवेदना का निर्धारण भाषा द्वारा ही कर सकते हैं। भाशा सहज अभिव्यक्ति है। सामान्य जीवन का चित्रण करते समय शिक्षित समूह की भाषा की परिधी से बाहर आकर जहाँ कहीं आवश्यक है, वहाँ क्षेत्रीय बोलियों के शब्दों का प्रयोग भी आधुनिक नाटककारों द्वारा हुआ है। विशेषकर राकेश और सुरेन्द्र वर्मा, भीष्म साहनी, हबीब तन्वीर अपने भाव नहीं भाषा की दृष्टि से ही मशहूर हुए हैं।

भाषा निरंतर परिवर्तित होती रहती है। भाषा में हमें कहीं स्थिरत्व का अनुभव नहीं होता। यथार्थ से संपर्क करने के प्रयत्न में जन मानस की भाषा की प्रयोग अनिवार्य लगता है। भाषा को रचना का केन्द्रीय तत्व मानकर पचासोत्तर नाटककार ने नाटक के शिल्प प्रभावित करने में सक्षम हुए हैं। धर्म वीर भारती भाषा के संदर्भ में कहते है कि - ***"अब यह वह भाषा है जो हमारे नाट्य लेखन को, संवादों की वह प्रामाणिक जीवंतता दे सकती है, जिस के लिए पिराण्डलो ने कहा था कि हमारे शब्द***

न कठिन है, न आसान, वे बस ऐसे है जिन का उपयोग अनिवार्य है, जिनके अलावा अन्य शब्द उस स्थिति में उस भाव को व्यक्त नहीं कर सकते।"[52]

पुरानी भाषा के धरातल को चकनाचूर करके मोहन राकेश अनुभव रूपी संवादनायुक्त जन मानस की भाषा प्रस्तुतीकरण करते हैं। मोहन राकेश मंच पर उच्चारण करने केलिए एक सशक्त भाषा की तलाश में - ***" अषाढ का एक दिन और लहरों के राजहंस ऐतिहासिक कथानक के कारण अपने भाषा का स्वरूप एक विशिष्ट प्रकार से निर्धारित करते हैं। 'आधे अधूरे' के भाषा कथ्य के अनुरूप नयी संवेदना से जुडी है; किन्तु भाषा के संदर्भ में नवीनतम प्रयोग उन्होंने अपने 'बीज' नाटकों में किए थे।"[53]***

नाटक का लिखे जाने के बाद रंगमंच पर प्रेक्षकों के सामने प्रदर्शन करना पडता है। भाषा सही माइने में संप्रेषित होने से ही नाटक दर्शकों तक पहुँच पाता है। इस संदर्भ में आधुनिक नाटककार ने अनेक प्रयोग किए हैं। उस समय के शब्द वस्तुतः कई ऐसे शब्द है जैसे वे पात्रों के अंतर्मानस में कई संदर्भों में आगार बने हैं। एक एक शब्द मनःस्थितियों का पुंज सा बना हुआ अवचेतन में पडा है, जबान पर आते ही वह अर्थ के कई स्तरों को खोलने लगते हैं। आधे अधूरे में व्यंग्य पूरित संवादों में अंतर्निहित अर्थ का प्रयोग ध्वनित होते हैं। प्रतीक, बिंब, व्यंग्य आदि प्रक्रियाओं को भी लेकर आधुनिक नटककार ने प्रयोग किए हैं।

आधुनिक नाटककार दर्शक को एक मनुष्य अंग के रूप में लेते है। बिना दर्शक से नाटक की संप्रेषण में अर्थ ही नहीं है। दर्शकों को यह यहसास कराने के लिए कि नाटक उन्हीं केलिए, उन्ही की समस्याओं को उन्ही के द्वारा अभिव्यक्त करता है, एक नया शिल्प प्रयोग कुछ नाटकों में किया गया, पात्रों का दर्शक समूह में से निकल कर रंगमंच पर उनकी भूमिका निभाने केलिए आना और भूमिका निभाकर फिर उन्ही में वापिस चले जाना। इस शिल्प की दृष्टि से सुशील कुमार 'सिंह का सिंहासन खाली है', गंगा प्रसाद विमल का 'आज नहीं कल' उल्लेखनीय नाटक है।

पचासोत्तर नाटक में नृत्य नाट्य शैली भी एक नयी शैली के रूप में उभरी है। अधायुग इस काव्य नाटक प्रयोग के प्रथम कृति है। नारायण राय के शब्दों में - ***"नृत्य मुद्राओं की भाषा में भाव-नाट्य वस्तु का संप्रेषण करने वाली नृत्य नाट्य शैली का आविर्भाव और एक सांस्कृतिक एवं कलापूर्ण माध्यम के रूप में इसकी स्वीकृति भी स्वतेत्र्योत्तर हिन्दी नाटक और रंगमंच की भी उपलब्धी कहीं जाएगी।"[54]***

नुक्कड नाटक के आगमण के बाद नाटकों का शिल्प विधान अमूलाग्र प्रयोगभरित हो गया। नुक्कड नाटक ने मंच, रंग सज्जा, वस्त्र आदि से मुक्त होकर सामान्य नुक्कडों तक नाटकों को ले गया है। स्थानीय लोक भाषा का प्रयोग भी नुक्कड नाटक में होता है। महानगरीय जनजीवन से इतर देहातों, बस्तियों, कस्बों, छोटे शहरों के प्रेक्षक को ध्यान में रखते हुए वही की भाषा और स्थानीय बोलियों की प्रयोग नुक्कड नाटक के लिए अनिवार्य हो जाता है जिससे संप्रेषण में किसी प्रकार की बाधा न हो और जीवंत बन सके।

इस प्रकार पचासोत्तर शिल्प विधान में प्रयोग एक अनिवार्य अंग बन गया है। मंच, शिल्प, भाषा, शैली के स्तर पर जितने प्रयोग हुए - ये सब दर्शकीय चेतना के विकास पर आधारित है। जैसे - " ***........ तीन घंटे के दीर्घ नाटक की सीमावधि को घटाकर एक घंटे के लघु नाटक - क्योंकि व्यस्थ एवं भागमभाग के जीवन में दर्शक तीन 'घंटे' न निकल पाने के कारण नाटक नहीं देख पाते। भाषा का पात्रओं के अनुकूल होना, दर्शकों को रंग प्रक्रिया में शामिल करने का एहसास देने के लिए तलबत्तियों के चलन को समाप्त करना, नाटक के पात्रों का दर्शकों के बीच में से आकर नाटक में भाग लेना, नाटक की बंध प्रेक्षागृकों से बाहर निकल कर गली, मुहल्ले और सैकडों पर दर्शकों के बीच में बिना साज-सज्जा, मेकअप, बिना रंगउपकरणों के प्रस्तुत करना आदि सभी प्रयोग नाटक और रंगमंच के भारतीय स्वरूप की तलाश के साथ साथ नाटककार के दर्शकीय चेतना के विकास की ओर इशारा करते हैं।***"[55]

निष्कर्ष

हर युग की भिन्न परिस्थिति होते हुए भी, व्यक्ति की कुछ अंतर्वृत्तियाँ ऐसी होती हैं जो युग के साथ नहीं बदलती हैं। वे वेश बदलकर युग के व्यक्ति में विद्यमान रहती हैं। पचासोत्तरी नाटक और रंगमंच मूलतः प्रयोग धर्मी रहा है। समसामयिक जीवन में उत्पन्न होने वाली विभिन्न जीवन परिस्थितियों का कटु साक्षात्कार इन प्रोयोगों का लक्ष्य रहा। अतः पचासोत्तर नाटक में व्यक्ति और समाज नये संदर्भो की व्यापक तलाश करने लगा। हर युग में समय और संदर्भ के साथ साथ व्यक्ति और समाज के सह संबंधों में परिवर्तन व बदलाव लक्षित किया जा सकता है। जहाँ एक ओर व्यक्ति युग की चेतना के अनुकूल संघर्ष शील प्राणी के रूप में दिखाई देता है, वहीं दूसरी ओर अतीत में वर्तमान की समस्याओं का समाधान भी ढूँढने लगता हैं।

प्रत्येक व्यक्ति समाज के साथ साथ अपनी सीमाओं से संघर्ष करता रहता है। उस संघर्ष साहित्यकारों को कुछ ज्यादा करना पडता है। संघर्ष से ही बेहतर स्थिति प्राप्त करने की सुविधा रहती है। संघर्ष को छोडने से आम आदमी हो या साहित्यकार नये प्रयोग नहीं कर सकता है। इसीलिए प्रयोगों के लिए संघर्ष एक आवश्यक भूमिका निभाती है। आधुनिक नाटककार इस संघर्ष तत्व को अपने प्रतिपाध्य विषय बनाकर अनेक रचनाएँ किए हैं। - ***"अनेक नये नाटकारों ने अपने-अपने ढंग से समाज को देखा, राजनीतिक भ्रष्टता को अनुभव किया, व्यक्ति के अंतर्मन में प्रवेश कर उसकी मानसिकता एवं वैचारिक क्षमता को परखा तथा उसे अपनी कुशल भाषा शैली और व्यापक संदर्भ के साथ हूबहू अपने नाटकों में अंकित किया। इन नाटकारों की नजरों से जीवन का कोई भी पक्ष अछूता नहीं रहा।"***[56]

अपने समाज से जो ताजगी हमं मिलती है वह गंध और पारंपरिक नाट्य रूपों को नये संदर्भ में आधुनिक चेतना से देखते -समझते और प्रयोग में लाने की रचनात्मक कोशिश आधुनिक नाटककारों द्वारा की गयी। इसीलिए आधुनिक हिन्दी नाट्य लेखन की दिशा बदलने में हिन्दी रंगमंच को बदलते हुए रूप में अधिक विकसित, कल्पनाशील. व्यापक और उन्मुक्त बनने में, उसे नयेपन और लोक जीवन प्रतिबिंबित करने में आधुनिक नाट्य चेतना महत्वपूर्ण भूमिका निभाई है।

साहित्य को परखने के लिए कोई सीमा नहीं होती है। लेकिन प्रवृत्तियों को समझने के लिए कालावधि की आवश्यकता होती है। 1950 से 2000 तक का समय परिवेश और प्रयोग के स्तर पर बडा क्रान्ती पूर्वक समय कहा जाता है। अनेक समस्याओं से मसलते हुए परिवेश को नये सोच और ढंच से सजाकर आधुनिक नाटक ने बडा सुन्दर प्रतिरूप बनाने के लिए प्रयत्न किए हैं। कथ्य और शिल्प एवं मंचीय संदर्भों से देखने से हम इस नतीजे तक पहुँचते है कि आधुनिक नाटक निरंतर प्रयोगों से गुजरा है।

संदर्भ सूची

1. नाट्य प्रयोजन (लेख) - सिद्धनाथ कुमार - समकालीन भारतीय साहित्य जनवरी-फरवरी - 2000
2.मुक्तिबोध रचनावली - भाग- 4 - पृ -80
3. The Necessity of Art - Brettch - pg -10
4.भारतेन्दु ग्रन्थावली - भाग -2 परिशिष्ठ - पृ - 421 -422
5.नागरी पत्रिका - मार्च - अप्रैल - 1968 - डॉ. लक्ष्मीनारायण लाला - पृ- 49
6.रंगदर्शन - नेमिचन्द्र जैन - पृ - 37
7.The Art of Poetry - Aristotie - pg - -35
8 Theory of Drama - Nicoll - pg - 65
9.रंगमंच - बलवंत गार्गी - पृ- 262
10.भारतेन्दु युगीन नाटक - डॉ. सुशील धीर - पृ- 63
11. हिन्दी नाटक : सिद्धांत और विवेचन - डॉ. गिरीश रस्तोगी - पृ- 63
12. भारतेन्दू हरिश्चन्द्र - डॉ. रामविलास शर्मा - पृ- 76
13.प्रसाद के नाटक: स्वरूप और संरचना - डॉ. गोविन्द चातक - पृ-21
14. हिन्दी नाटक : सिद्धांत और विवेचन - डॉ. गिरीश रस्तोगी - पृ- 249
15.स्वतंत्र्योत्तर युगीन परिप्रेक्ष्य और नुक्कड नाटक : एक मूल्यांकन - पृ-61
16.संकट के बावजूद - मैनेजर पाण्डे - पृ- 10
17.भारतीय समाज में कार्यशील महिलाएँ - सविता नागर - पृ- 14-1
18.स्वतंत्र्योत्तर हिन्दी नाटक समस्या और समाधान - डॉ. दिनेश चन्द्र शर्मा - पृ- 15
19.हिन्दी नाटक और लक्ष्मीनारायण लाल की रंगयात्रा - डॉ. चन्द्रशेखर -14
20. स्वतंत्र्योत्तर हिन्दी नाटक : विचार तत्व- अवधेश्वर चन्द्र गुप्त - पृ- 165
21. आधुनिक परिवेश और नवलेखन - सिवनाथ सिंह - पृ- 7
22.हिन्दी उपन्यास : सामाजिक परिवर्तन की प्रक्रिया और स्वरूप - प्रभावर्मा - पृ- 89
23. द्वतीय महायुद्धोतर हिन्दी साहित्य का इतिहास - डॉ. लक्ष्मीसागर वाबैय - पृ- 45
24.आधुनिक हिन्दी नाटकों में नायक -डॉ. श्याम शर्मा - पृ- 69-70
25.हिन्दी नाटक और लक्ष्मीनारायण लाल की रंगयात्रा - डॉ. चन्द्रशेखर - 14
26.भारतीय राजनीतिक व्यवस्था - गोविन्द राम वर्मा - पृ- 18
27नया पथ - अक्तूबर - दिसंबर - 1992
28.नया पथ - अक्तूबर - दिसंबर - 1992
29. आलोचना - डॉ. जगदीश गुप्ता - अंक -3 वर्ष -2 - पृ- 56
30. आधुनिक भारत-एल.पी. शर्मा - पृ- 437
31.आज का हिन्दी नाटक : प्रगति और प्रतिमान - डॉ. दशरद ओजा - पृ-35
32.संकट के बावजूद - मैनेजर पाण्डेय - पृ-26
33. आधुनिक हिन्दी काव्य में परंपरा तथा प्रयोग - गोपाल दत्त सारस्वत (वक्तव्य से)

34. हिन्दी उपन्यास : परंपरा और प्रयोग - डॉ. सुभद्रा सुकुडा - पृ- 18
35.नई कविता के प्रतिमान - लक्ष्मीकांत वर्मा - पृ- 192
36.आधुनिक हिन्दी काव्य में परंपरा तथा प्रयोग - गोपाल दत्त सारस्वत - पृ- 62
37.नई कविता प्रयोग की समस्या - डॉ. शंभूनाथ सिंह - पृ- 66
38.दूसरा सप्तक - अज्ञेय पृ- 8
39. An Essesment of twentieth Centuty Literaturer - j. Isaq pg-137
40. नटरंग विवेक - नरनारायण राय - पृ- 14
41.समकालीन हिन्दी नाटक सृष्टि और दृष्टि - लवकुमार लवलीन - पृ- 76
42. नटरंग विवेक - नरनारायण राय - पृ- 15
43.समकालीन हिन्दी नाटककार - गिरीश रस्तोगी - पृ- 224
44. मोहन राकेश : रंगशिल्प और प्रदर्शन - डॉ. जयदेव तनेजा - पृ- 224
45.नटरंग विवेक - नरनारायण राय - पृ- 17
46.नुक्कड नाटक - चन्देश - (भूमिका से) पृ- 11
47.आधुनिक बोध और विद्रोह - डॉ. हर दयाल - पृ- 17
48.संचेतना - मार्च-जून - 1998 - पृ- 38
49. अंधायुग- पाठ और प्रदर्शन - डॉ. जयदेव तनेजा - पृ- 29
50, हिन्दुस्थानी - सनत कुमार -अंक - 2-4 - पृ- 155
51. नटरंग विवेक - नरनारायण राय - पृ- 20
52.अंधायुग- पाठ और प्रदर्शन - डॉ. जयदेव तनेजा - पृ-23
53.आधुनिक नाटक का मसीहा - मोहन राकेश - गोविन्द चातक - पृ- 142
54. नटरंग विवेक - नरनारायण राय - पृ- 22
55.साठोत्तरी हिन्दी नाटकों का रंगमंचीय अध्ययन - राकेश वत्स - पृ- 136
56.साठोत्तरी हिन्दी नाटकार - लवकुमार लवलीन - पृ- 71

द्वितीय अध्याय

2. हिन्दी नाटक : परिवर्तन के आयाम : कथ्य

2.1 रचना का प्राण तत्व : परिवेश

2.1.1 समाज और परिवेश की सहयोगिता : पचासोत्तर नाट्य सृजन

2.1.2 परिवेशगत सजगता : छद्‌म राजनीति का पर्दापाश

1.2.3 सामाजिक विसंगतियों का सार्थक चित्रण

2.2 नाटक की जीवंतता के संवाहक : प्रतीक

2.2.1 भाषिक शक्ति के संवर्धक : प्रतीक

2.2.2 संघर्षशील अभिव्यक्ति के माध्यम

2.3 आधुनिक मानव की सार्थक तलाश : पचासोत्तर नाटक

2.3.1 अनभिज्ञ मानसिकता का आविष्कार

2.3.2 जागरूकता का प्रतीक : आधुनिक मनुष्य

2.4 व्यवस्था का निर्णायक अंग : मध्यवर्ग

2.4.1 नये मूल्यों की तलाश

2.5 चरमराती राजनीति का दस्तावेज : पचासोत्तर नाटक

2.5.1 दूसरी स्वतंत्रता का एहसास

2.6 मनुष्य के संचालन की व्यवस्था : काम

2.6.1 स्त्री एवं पुरुष के संबंधों का नया मोड

2.6.2 काम रहस्यमय क्रीडा नहीं है

2.7 जनचेतना का पर्याय : नुक्कड नाटक

2.7.1 राजनीति बनाम सत्ता

2.8 एक जहरीली संस्कृति : सांप्रदायिकता

2.9 आधुनिक नारी का प्रतिरूप : पचासोत्तर नाटक

2.10 वैचारिक क्रांति : दलित नाटक

निष्कर्ष

2. हिन्दी नाटक : परिवर्तन के आयाम : कथ्य

पचास के बाद साहित्य जन जीवन की जिन आनुभूतियों से प्रकट हुआ था, उनमें पर्याप्त विविधता है। अतः वह एक भीड था वर्ग का साहित्य नहीं है, अपितु एक सचेतन परिवर्तित समाज की सहज स्थितियों से उत्पन्न साहित्य है। यही कारण है कि उसमें जीवन की विभिन्न दशाओं और स्वच्छन्द प्रवृत्तियों के विविध चित्र मिलते हैं। कथ्य की दृष्टि से इस शती कालीन साहित्य में एक साथ कई परंपराओं का उदय दिखाई देता है। समाज की विभिन्न स्थितियों पर दृष्टिपात करते हुए अनेक रंगकर्मियों ने अपने चेतनापूर्वक कथ्य जोडकर एक नयी रंगजगत की आविष्कार किये हैं।

आजादी से पूर्व के नाटकों की वस्तु ऐतिहासिक-पौराणिक थी। यह पंरपरा अब भी बनी रही, किन्तु इतिहास या पुराण की घटनाएँ लेकर नाटक के माध्यम से ऐतिहासिक घटनाओं, पात्रों के उदात्त रूप का वर्णन करना नाटककार का लक्ष्य नहीं रहा। 50 के बाद भी यही प्रवृत्ति मिलती है। यहाँ इतिहास के माध्यम से समसामयिक संवेदना और समस्याओं को उभारा गया है। जो पात्र ऐतिहासिक दृष्टिकोण से संयोजन किया गया उसके माध्यम से नवीन मानव की सवेदना का सही साक्षात्कार मिलता है। इस संदर्भ में नरनारायण राय अपने 'नटरंगविवेक' में लिखते है - ***"इतिहास और पुराण से लिए गए वस्तु विधान का उपयोग संदर्भ के रूप में किया जाने लगा और उनके माध्यम से विभिन्न जीवन स्थितियों का लक्षणा या व्यंजना से संकेत किया जाने लगा।"***[1] जिनमें से धर्मवीर भारती का 'अधायुग' तथा मोहन राकेश का 'आषाढ का एक दिन' सुरेन्द्र वर्मा का 'द्रौपदी' भीष्म साहनी का 'कबिरा खडा बाजार' में आदि नाटक को हम गिन सकते हैं।

स्त्री-पुरुष संबंधों के प्रति एक नयी दृष्टि का इस युग के नाटकों में सूत्रपात होता है। केवल स्त्री-पुरुष संबंध ही नहीं काम संबंधों की अभिव्यक्ति पहली बार इतनी खुलकर नाटकों में आती है। वस्तुतः काम संबंधों की विकृति को इस काल के नाटकों में रेखांकित किया गया है। हरेक नाटक में स्त्री-पुरुष का संबंध का चित्रण कई कोणों से द्रष्टव्य है। स्त्री-पुरुष संबंधों को नाटकीय तथ्य में समेटते हुए संवेदना, टूटकर बिखरी अनुभुति, कुलीन स्त्रियों का रोमांचक खेल, नपुंसकता, पति पत्नी संबंधों में जठिलता आदि को रूपान्वित किया गया है। यही नहीं, सुरेन्द्र वर्मा के 'सूर्य की अंतिम किरण से सूर्य की पहली किरण तक' नाटक में शीलवती यह स्पष्ट घोषिण करती है कि 'नारीत्व की सार्थकता मातृत्व में नहीं, पुरुष की सशक्त और उत्तप्त बातों में अपने आपको खो देने में है'।

रंगमंचीय दृष्टि से और कथ्य परक संभावनाओं को परखने पर भी मोहन राकेश हमीदुल्ला, सुरेन्द्र वर्मा, डॉ. लक्ष्मीनारायण लाल, मुद्रा राक्षस स्त्री पुरुष संबंधों को परिवर्तित रूप से दिखाते हैं। पौराणिक प्रसंगों और पात्रों की सहायता से सामयिक विसंगति, अनियमित काम संबंधों को चित्रित करने का प्रयास प्रासंगिक है। इस वर्ग के नाटकों में प्रतीक विधान भी महत्वपूर्ण है। नाटकों में अब जीवन की जठिलता और व्यक्ति के भीतर बाहर के कई चेहरों, शासन के विविध पक्षों को अभिव्यक्त करने के लिए 'प्लाटफार्म' का इंतजाम किया गया है। उदाहरण के लिए भीष्म साहनी का नाटक 'हानुश' जो - ***"एक स्तर पर एक गठबंधन की दुर्दमनीय सिसृक्षा का नाटक है, दूसरे स्तर पर धर्म और शासन के गठबंधन से सामाजिक संघर्ष का नाटक है। तीसरे धरातल पर मध्ययुगीन परिवेश में एक मानवीय स्थिति का निरूपण है।"***[2]

आजादी के बाद जनता का अपने शासकों से जो मोहभंग हुआ उसके कारण जनता विशेषकर मध्यम और निम्न वर्ग में जिस कुंठा, निराशा, मूल्यविहीनता, भ्रष्टाचार का संचार हुआ उसी का बदलते हुए रूप दिखाये गये है। मनुष्य में निरंतर बढते हुए पशुप्रवृत्ति को प्रतिबिंबित करते हुए अभिव्यक्ति देन के लिए नाटकों में पशु प्रतीकों का प्रयोग किया जाने लगा। तेंदुआ, तीसरा हाथी, बकरी आदि शीर्षकों से कई नाटक आए। हिन्दी के अलावा अन्य भाषाओं में भी उनके काफी प्रयोग हुये। गिरीश कर्नाड से लिखित 'हयवदन' हिन्दी में अनूदित होकर भी आए। लोक नाट्यों की यह प्रवृत्ति को हिन्दी रंगजगत में लाकर प्रतीक के रूप में उनका अर्थगत बिंब को नाटकों में दिखाना निश्चय ही विशिष्ट प्रयोग है।

नाटक में नाटककार जो बात कहना चाहता है उसे वह दृश्य बनाकर पेश करता है। पचास के बाद के नाटकों में कथ्य को और भी प्रभावपूर्वक बनाने के लिए 'मंचीय साक्ष्य' के साथ द्रष्टव्य प्रदान किया गया है। 'हानुश' में 'दरबार', 'योर्स फेथफुली' में दफतर, 'तोता झूठ नहीं बोलता' में सरकस आदि को अच्छी तरह दृश्यबंध किया गया है। इस संदर्भ में श्री नरनारायण राय बकरी नाटक को दृष्टि में रखकर लिखते है कि - ***"बकरी नाटक में बकरी को रस गायन और नृत्य बंदूक और दान-पेटी, चुनाव अभियान और गांधी बाबा की बकरी के नाम पर मतदान आदि विभिन्न दृश्य अवयव एक लय में संगठित होते हुए ग्रामीन जीवन के वर्तमान को आजादी से जोडकर उस प्रजातंत्र व्यंग्य को उभारता है-वस्तुतः नाटककार जिसे संप्रेषण करना चाहता है।"***[3]

समसामयिक परिवेश और आग्रह के अनुरूप नाटक अपनी विकास यात्रा के दोरान अनेक रूप धारण करता रहा है। स्वातंत्रेयोत्तर परिवेश में अन्य रूपों के साथ साथ सातवें - आठवें दशक में हिन्दी नाटक को एक बहुचर्चित और लोकप्रिय रूप बाहर निकला है जिसे नुक्कड नाटक नाम से जाना जाता है,नुक्कड नाटक स्वतंत्रता के बाद से अविरत रूप से हो रहे सामाजिक, आर्थिक धार्मिक एवं सांस्कृतिक मूल्यों में परिवर्तन और लम्बी प्रक्रिया का परिणाम है। आधुनिक राजनैतिक नुक्कड नाटक एक सामाजिक जरूरी की पैदाइश है। जनवादी आंदोलन से जो जन संस्कृति पैदा होती है, नुक्कड नाटक उसी का एक अंग है।

प्रयोग धर्मिता के इसी दौर में कई महिला नाटककारों भी सामने आये। जिन्होने अपनी विशिष्ट नाट्यकृतियों द्वारा हिन्दी नाटक में प्रयोगात्मकता की प्रवृत्ति को पुष्ट किया। मन्नु भण्डारी, मुदुला गर्ग, मुणाल पाण्डेय के साथ साथ कुसुम कुमार के नाटक भी प्रयोग के स्तर पर काफी सफल और चर्चित रहे। इन नाटकों में प्रयोगधर्मिता के कई आयाम स्थापित होते हैं। कथ्यगत और शिल्पगत प्रयोग नाटकों को एक विशिष्ट गरिमा प्रदान करते हैं, साथ ही प्रयोग के स्तर पर पाठक-दर्शक को कुछ सोचने-समझने के लिए मजबूर भी करते हैं।

दलित भारतीय समाज का अंग है। लेकिन यह हिन्दु समाज में उनका सम्मान पूर्वक जीवन देखने को नहीं मिलता है। अनेक ग्रामों में अछूत कहकर उनको बहिष्कार कर दिया जा रहा है। स्वतंत्रता पाने के बाद भी दलितों को सही रूप में राजनीतिक और आर्थिक आजादी के फल नहीं मिल रहे हैं। इसी बीच में अम्बेडकर धर्म परिवर्तन की घोषणा करते हैं। इससे भी अनेक नई समस्याओं का जन्म हुआ है। उन सबको दृष्टि में रखकर माता प्रसाद , नाग बोडस आदि नाटककार 'दलित वणी' को अपने नाटकों के द्वारा अभिव्यक्तीकरण किये हैं। दलित समाज की आज जो भी समस्याएँ है प्रायः उन सभी को इन नाटकों में कुशलतापूर्वक चित्रण किया गया है। अपने अलग कथ्य को साथ लेकर नये प्रयोगों के साथ दलित नाटक चेहरा बदलकर हमारे सामने आया है।

आजादी के बाद बदली हुई परिस्थितियों में नाटक और रंगमंच की मैत्री शुरू हुआ। नाटक और रंगमंच नाट्यकला के दो भिन्न किन्तु अन्योंन्याश्रित भाग है। इन पचास वर्ष में जितने भी प्रयोग हुआ है उन सब का जिक्र मैनें इस शोध में प्रस्तुत करने का विनम्र प्रयास किया है। आज नाटककार के लिए यह अनिवार्य है कि बिना प्रयोग के साथ किसी कथ्य को बाहर मान्यता प्रप्त नहीं होता है। सम्प्रेषण के लिए हर नाटककार अपने-अपने स्तर पर कथ्य को बीच में रखकर अनेक परिवर्तित प्रयोग किए हैं उनकी दशा और दिशा को दर्शाने की कोशिश मैनें की है।

2.1 रचना का प्राण तत्व :परिवेश

परिवेश शब्द सामान्य अर्थों में किसी काल खण्ड का द्योतक है। लेकिन व्यापक अर्थ में परिवेश एक वैशिष्ट्य का संचालक है। साहित्य और परिवेश के बीच अटूट संबंध है। इन दोनों को अलग करके नहीं देखा जा सकता है। क्योंकि कोई भी साहित्यकार कभी भी अपना परिवेश तिरस्कृत नहीं कर सकता है। परिवेश ही उसकी रचना का स्त्रोत है और परिवेश ही उसकी रचना में अभिव्यक्ति पाता है। इसलिए परिवेस रचना का प्राणतत्व है।

परिवेश एक तरह से काल का अंश है, जो समकालीन अथवा वर्तमान है। परिवेश में अपनापन की गंध आती है। अर्थ विशेष की दृष्टि से परिवेश अर्वाचीन, आधुनिक परिदृश्य का बोध करता है। उसके लिए कोई अवधि नहीं है। कोई काल सीमा के परिवेश के लिए निर्धारित नहीं होती है। जीवन के प्रत्येक क्षेत्र में जीवन मूल्यों से निर्मित एवं प्रभावित एक सजीव वातावरण है।

डॉ. गोविंद चातक के शब्दों में - ***"परिवेश को हम ऐतिहासिक, सामाजिक, राजनीतिक,आर्थिक एवं सांस्कृतिक गतिविधियों तथा स्थितियों से निर्मित एक प्रकार के वातावरण को कह सकते हैं। जिसमें व्यक्ति अपने आपको देख पाता है। और उसकी तीव्रतम अनुभूतियाँ उसे आलोकित किए बिना नहीं रहती, जो उसके निर्माण और कारण बनती है।"***[4] भाव यह है कि एक ऐसी माहौल व वातावरण जिसमें साहित्य सृजन होता है, जिसमें नैतिक मान्यताओं के रूप में कुछ मूल्य निहित रहते हैं, और जिसमें वर्तमान या समकालीन का बोध होता है।

रचनाकार के साथ परिवेश भी प्रतिबिंबित होता है। समाज तथा परिवेश के सहचरत्व के बिना किसी भी प्रकार का सृजन सम्भव नहीं है। साहित्यकार परिवेश से अपनी रचना के लिए श्रोत लेता है पुन: उसे परिवेश को दे देता है। इस सारी प्रक्रिया में रचना और परिवेश का रिश्ता इस प्रकार तय होता है-परिवेश से रचनाकार, रचनाकार से रचना और रचना से पुन:परिवेश। जो लोग साहित्य के साथ परिवेश को नहीं मानते हैं उसके साहित्य खाली अनुभूति रहित बन जाती है।

लेखक के परिवेश और रचना के संबंध पर सबसे ज्यादा बल मार्क्सवादी आलोचक देते हैं। मार्क्स के अनुसार समाज की अर्थ व्यवस्था आधार होती है और कानून, राजनीति,धर्म,कला अथवा दर्शन उसकी ऊपरी ढाँचा। परिणामत: जैसे-जैसे आधार बदलता है, ऊपरी ढाँचा भी बदलता जाता है। लेखक अनिवार्य रूप से अपने परिवेश से प्रभावित होता है। वह अपनी रचना के लिए विषय वस्तु और भाषा ही नहीं

रूप भी अपने परिवेश से ही प्राप्त करता है। जिस तरह वस्तु और चेतना का संबंध एक सरल संबंध न हो कर अत्यंत जटिल संबंध होता है, उसी तरह लेखक के परिवेश और रचना का संबंध भी सरल न होकर अत्यंत जटिल होता है।

आधुनिक आदमी अपने परिवेश के साथ जीता है। उसीमें उसका निर्माण और विकास होता है। लेखक सामान्य मनुष्य से अलग नहीं है। उसके ऊपर भी उन सबका प्रभाव एक साथ पडता है। तब वह वस्तुतःअपने परिवेश का चित्रण मात्र नहीं करता, बल्कि उसका निर्माण भी करता है। इस क्रम में परिवेश परिवर्तित हो जाता है। लेखक उसमें कुछ जोड देता है और उससे कुछ घटा भी देता है। लेकिन आस्थावान होकर अपने परिवेश के प्रति स्थिरता स्थापित करता है।

1950 से 2000 के बीच में नाटककार ने परिवेश के प्रति अधिक सूक्ष्मता और गहराई के साथ अपनी भावनाओं को व्यक्त किया है। सही परिवेश का चित्रण परिवेशगत विसंगतियों तथा ह्रासशील शक्तियों के प्रति विरोध मूलक आवाज भी उठाया गया है। असंगत और अमानवीय तत्वों के विरुद्ध भी काल्पनिक परिवेश का भी चित्रण पचासोत्तर नाटकों में मिलता है। आधुनिक नाटककार के परिवेश व्यापक है उस लिए उनकी संवेदनाएँ उतनी ही गहरी और व्यापक है। इन पचास वर्षों में राजनीतिक, आर्थिक, समाजिक, सांस्कृतिक परिवेश पर विचार करने से ही आधुनिक नाटकों में परिवश को समझ सकते हैं।

आजादी के बाद परिस्थितियाँ इतनी बदल गयी हैं कि उनका सामना करने के लिए नाटककार को नई दृष्टि और नये सिरे से सोचने के लिए विवश होना पड़ा। इस संदर्भ में डॉ. दशरथ ओझा का मंतव्य द्रष्टव्य है - ***"नवीन रंग दृष्टि और रंगमंच के विकास ने नाटककारों को समाज तथा व्यक्ति जीवन से जुडे हुए नाटक लिखने को जीवन की जटिलता, व्यवस्था विरोध, सत्ता के दबाव और अर्थ हीन संबंधों से उपजी निराशा, बदलते जीवन मूल्यों के फलस्वरूप पारिवारिक विघटन, पीढी-संघर्ष,व्यक्तित्व बिखराव और परिवेश की विसंगता का बोध उद्‌घटित हुआ है।"***[5] अंततः स्वातंत्र्योत्तर परिवेश के तहत हिन्दी आधुनिक नाटक मूल्य विघटन के परिणाम स्वरूप उत्पन्न समस्याओं का प्रस्फुटन किया। इसके साथ आधुनिक परिवेश से प्रभावित नाटककार अपने साहित्य को सम्प्रेषणीयता से आगे ले जाकर साहित्यिक पद की गरिमा प्रदान किये हैं।

2.1.1 समाज और परिवेश की सहयोगिता : पचासोत्तर नाट्य सृजन

अंधायुग में धर्मवीर भारती इस युग को अंधायुग कहते हैं। नाटककार के सामने व्यक्ति का जीवन संकट के रूप में आता है, पर सब मिलकर वह एक अंतराल है। इस अंतराल में मानसिक स्थितियों, मनोवृत्तियों, आत्माओं की विकृति से बनाया गया परिवेश हमें मिलता है। नाटककार लिखते हैं -

"धर्म, अर्थ ह्रासोन्मुख होंगे
क्षय होगा धीरे-धीरे सारी धरती का
सत्ता होगी उनकी
जिनकी पूँजी होगी।
जिनकी नकली चहरे होंगे
केवल उन्हें महत्व मिलेगा।
राजशक्तियाँ लोलुप होगीं,
जनता उनसे पीडित होकर
गहन गुफाओं में छिप-छिप कर दिन काटेंगे।"[6]

क्षयग्रस्तता, मूल्यांधता, मर्यादाहीनता, स्वार्थपरता, चरित्रहीनता,संशय चाहे महाभारत काल की ही, चाहे प्रथम और द्वितीय विश्व युद्ध काल की या आज की इसमें कोई अंतर नहीं पड़ता है। परिवेश का निजी साक्षात्कार करते हुए भारती लिखते हैं कि -

"युद्धोपरांत,
यह अंधायुग अवतरित हुआ
जिसमें स्थितियाँ, मनोंवृत्तियाँ, आत्माएँ सब विकृत हैं
है एक बहुत पतली डोरी मर्यादा की
पर वह भी उलझी है दोंनो पक्षों में "[7]

आशा, विश्वास, आस्था और मर्यादा का नाश हुआ है। सब कुछ गायब हो गया है। वहाँ धृतराष्ट्र केवल अंधे नहीं आधुनिक मानवीय परिवेश अंधा है उसका कथ्य भी उसी अंधता के ही प्रतिरूप है,जिनके विषय में भरती का कथन है -

"दोनों पक्षों को खोना हीं खोना है
अन्धों से शोभित था युग का सिंहासन
दोनों ही पक्षों में विवेक ही हारा

दोनों ही पक्षों में जीता अन्धापन
भय का अन्धापन, ममता का अन्धापन
अधिकारों का अन्धापन जीत गया
जो कुछ सुंदर था, शुभ या कोमलमय था
वह हार गया........................"[8]

वह युग भले ही बीत गया हो, परन्तु वह अन्धापन आज भी जीवित है। खाली जीवित ही नहीं आधुनिक मानव को और परिवेश को घेरकर रखा है। अंधायुगीन परिवेश एक ऐसा वातावरण का सृजन कियाहै, जिसमें नैतिक मान्यताओं के रूप में कुछ मूल्य निहित रहते हैं जिसमें वर्तमान या समकालीन का बोध होता है।

2.1.2 परिवेशगत सजगता : छद्म राजनीति का पर्दाफाश

भारत में स्वतंत्रता के पश्चात परिवेश का ही आधुनिक विघटन के लिए प्रमुख रूप से उत्तरदायी है जीवन का हर क्षेत्र चाहे वह सामाजिक हो या सांस्कृतिक, धार्मिक हो या आर्थिक राजनीति से प्रभावित होता है। आजादी के बाद लोकतांत्रिक व्यवस्था को अपनाया तो गया परंतु जिसको कुर्सी का अधिकार मिला, उसने उसका दुरुपयोग ही किया। कुर्सी से चिपके रहने की भूख तो शासक को राजनैतिक भ्रष्टाचार का संवाधदाता बनाया गया है।इसी परिवेश को दृष्टि में रखकर श्री सुशील कुमार सिंह अपने नाटक में लिखते हैं -

"मुझे एक सुपात्र की तलाश है। सुपात्र जो इस सिंहासन पर बैठ सके। मनुष्य का इतिहास सिंहासन पर बैठने का इतिहास है। यह न होता तो शायद मनुष्य के इतिहास का निर्माण भी न होता। अनादि काल में सिंहासन खाली नहीं रहा।.....लेकिन आज....आज यह सिंहासन खाली है....अभी अभी खाली हो गया क्योंकि इस पर बैठनोवाला राजा सत्य अहिंसा और न्याय की हत्या करके भाग गया है।"[9]

आज की राजनेतागण किसी प्रकार की मान्यताओं को अपने प्रयोजनों के लिए उपयोग कर रहे हैं और चुनाओं में जोर -जबर्दस्ती, जातिवाद, वर्ग संघर्ष, जनता से

झूठे वायदे आदि का साधारण रूप से प्रयोग किया जा रहा है। सच पूछा जाय तो आज राजनीति एक ऐसी मोड़ ली है जिसमें नैतिकता का क्रमशः रूप परिवर्तन होता चला जा रहा है -

"एक : हम सिंहासन चाहते हैं।
दो : नहीं मिलेगा तो शक्ति का प्रयोग भी करेंगे।
तीन : हमारी आस्था असत्य में है।
एक : हिंसा पर हमें विश्वास है।
दो : अन्याय पर हमें गर्व है।
तीन : हम सिंहासन चाहते हैं।"[10]

राजनीतिक पर्यावरण पवित्रता को त्याग कर स्वार्थ प्राप्ती के लिए प्रयासरत होने लगा है। 'बकरी' नाटक के द्वारा श्री सर्वेशवरदयाल सक्सेना आधुनिक राजनीति का सही परिवेश का रूप हमारे सामने रखते हैं -

"कैसी अमीरी कैसी गरीबी
प्यारी लगे नटनी।
जा मेरी तेरी न पटनी...
थोड़ी दिलास बाकी निराशा
सारी उमर खटनी
जा मेरी तेरी न पटनी...
लोकतंत्र की ले के पतुरिया
भाग गयी जटनी।
जा मेरी तेरी न पटनी...
हिंसा तेरी अहिंसा मेरी
रस्सी है बटनी।"[11]

2.1.3 सामाजिक विसंगतियों का सार्थक चित्रण

हर आदमी अपनी वर्तमान जिंदगी से बेहत्तर जिंदगी जीना चाहता है लेकिन उसके जीवन की विससंगतियाँ उसे अपनी वर्तमान स्थिति से बाहर आने नहीं देती, उसे बार-बार उसी स्थिति में रहने के लिए विवश करती रहती है। आदमी जो चाहता है, वह उसे पूरा का पूरा प्राप्त नहीं होता। इसलिए इच्छा और प्राप्य के बीच दूरी बढती जाती है और व्यक्ति इसे सुलझाने के क्रम में प्रयत्न करता रहता है लेकिन

अंततः विसंगतियाँ उनके जीवन में दोष रह जाती है। इसी विसंगतियों को दृष्टि में रखकर भीष्म साहनी हानुश में अपने पात्र हानिश के साथ सामाजिक परिवेश का बिंब हमें बताते हैं -

"बड़ी अजीब बात है, कात्या ! अब मुझे कभी-कभी बिल्कुल
भूल जाता है कि मैं अन्धा हूँ। अब इस वक्त मैं घर में बैठा हूँ,
मुझे लगता है, मैं सब कुछ देख रहा हूँ -कौन सी
चीज कहाँ पर है। अंधों की दुनिया इतनी अंधियारी नहीं
होती, कात्या। हम नाहक उनके बारे में परेशान होते रहते हैं।"[12]

आज समाज अनेक समस्याओं से सहजीवन कर रही है। समाज,शासन और सत्ता जब जगह दलित अन्याय के शिकार बनाये जा रहें हैं। इस पचास साल बीत जाने पर भी उनका आरक्षण कोटा अभी तक पूरा नहीं किया गया। केवल सरकारी सुविधाओं के बल पर दलितों का उत्तान नहीं होता है।जातिवाद दलितों को चैन से जीना नहीं दे रही है। आज का परिवेश कोई भी सभ्यता को छोड़ नहीं देती है। इस प्रयत्न को जारी रखने के लिए माताप्रसाद, नाग बोड्स, मणि मधुकर आदि दलित परिवेश को हमारे सामने रखते हैं --

"शोषित अपमानित रहे, बहुत दिनन अस्पृश्य।
वही दलित कहला रहे, बदल रहा अब दृश्य ।।
भीमराव अम्बेडकर, लडे दलित अधिकार ।
उसके बल सब कुछ बडे, बाधक बने हजार।।"[13]

वस्तुतः स्वतंत्रता के उपरांत नाटक ने अपने को समसामयिक परिवेश से पूरी तरह से जोडने का प्रयास किया है। इस परिवेश में जिस कथ्य को लेकर वह विकसित हुआ है वह सामान्य जन जीवन से ही लिया गया है। यदि कहीं पौराणिक परिवेश को नाट्य सृजन का आधार भी बनाया गया है तो वह आधुनिकता से जोड़ने की सफल कोशिश भी हुई है। 1950 से 2000 तक की यह परिवेश व्यक्ति की न होकर युग की रही है और साहित्य के क्षेत्र में स्पष्ट रूप से इसका परिवर्तित कथ्य हम पा सकते हैं।

2.2 नाटक की जीवंतता के संवाहक : प्रतीक

प्रतीक अमूर्त अनुभूतियों का सक्षम दर्पण बनकर उन अमूर्त अनुभूतियों को चेतना में मूर्तित कर देता है। वस्तुत: कल्पना या मन की अनुभूति को चित्रित करने का प्रतीक एक गोचर माध्यम है। अपने निहित कथ्य से अधिक अभिव्यंजित करते हुए भी बहुत कुछ रहस्य रहने देता है। जीवन जगत के प्रत्येक क्षेत्र में अनुभव की अभिव्यक्ति से प्रतीकों का स्भाविक और गहन संबंध है। विविध समस्याओं एवं युगीन विसंगतियों को प्रतीकात्मक रूप तथा अनुभूति प्रधान करना स्वातंत्र्योत्तर नाट्यकला की विशिष्ट लक्षण है।

जब भाव और विचार कभी-कभी अपने शब्दों में समाहित नहीं कर पाते तो सर्जक कलाकार अपनी मन:स्थिति को वाणी देने के लिए प्रतीकों का आश्रय लेकर अपनी भावधारा और विचार को सहेतुक बनाने का प्रयास करता है। प्रतीक की मोड में विभिन्न अर्थों की अमित संभावनाएँ उभरकर आती हैं,उसको हम किसी निश्चित अर्थ में नहीं बाँध सकते, वह अपने आप में ही एक जिज्ञासा और कुतूहल का विषय है। अर्थ की अनिश्चित में अर्थ चमत्कार की सम्भावना को खुला रखती है जिससे उसमें नवीन अर्थ की सृष्टि होती रहती है।

प्रतीक शब्द 'प्रति' पूर्वक गमनार्थक 'इण' धातु से बना है। इसका अर्थ चलना, प्राप्त या पहुँचना और ज्ञान होना है। गीता के व्याख्याता लोकमान्य तिलक के अनुसार प्रतीक की व्युत्पत्ति इस प्रकार माना जाता है - ***"जब किसी वस्तु का कोई एक भाग पहले गोचर हो और फिर आगे उस वस्तु का ज्ञान हो, तब उस भाग को प्रतीक कहते हैं।"***[14] हिन्दी साहित्य कोश में प्रतीक शब्द का अर्थ इस प्रकार दिया गया है - ***"प्रतीक शब्द का प्रयोग उस दृश्य (अथवा गोचर) वस्तु के लिए किया जाता है जो किसी अदृश्य (अगोचर या अप्रस्तुत) विषय का प्रति विधान उसके साथ अपने साहचर्य के कारण करती है। अथवा कहा जा सकता है कि किसी अन्य स्तर की समानुरूप वस्तु द्वारा किसी अन्य स्तर के विषय का प्रतिनिधित्व करनेवाला वस्तु प्रतीक है। अमूर्त, अदृश्य, अश्रव्य, अप्रस्तुत विषय का प्रतीक प्रतिविधान मूर्त,दृश्य,श्रव्य, प्रस्तुत विषय द्वारा करता है।"***[15]

अंग्रेजी में प्रतीक के लिए सिम्बल (***Symbol***) शब्द का प्रयोग होता है। एन्साइक्लोपीडिया ब्रिटेनिका में सिम्बल का अर्थ इस प्रकार दिया गया है - The term given to a visible object representing to the mind the sembalnce of something which is not shown but realised by association with it .

अर्थात् प्रतीक शब्द का प्रयोग उस दृश्यमान पदार्थ के लिए किया जाता है जो किसी वस्तु के रूप, गुण अथवा क्रिया का प्रतिनिधित्व करता है।

2.2.1 भाषिक शक्ति के संवर्धक : प्रतीक

प्रतीक केवल चिन्ह या संकेत मात्र नहीं है, और न ही उपमान है यह तो भाषा को शक्ति प्रधान करनेवाला उपकरण है। जहाँ भाषा भवों की अभव्यक्ति में असफल रहती है वहाँ प्रतीक उन्हें सफलतापूर्वक व्यक्त करने का कार्य करते हैं। अत: प्रतीक संकेत तक ही सीमित नहीं है वह बहुत कुछ है, उसका अर्थ व्यापक है। लाग्वेज अंड रियालिटी नामक पुस्तक में अर्बन ने इस प्रकार लिखा है - ***"A symbol is always a sign but it is much more than a sign."***[16]

प्रतीक संकेत के रूप में किसी चित्र, आकृति या प्रतिमा के प्रति भावों को उद्धीप्त करता है। जिस प्रकार सर्वेश्वर दयाल सक्सेना 'बकरी' शब्द से उसके चार पैर, पूँछ, रंग के साथ-साथ गाँधी, भारतीयता, भारतीय का भी तुरंत आभास कराते हैं। इसलिए प्रतीक मात्र संकेत या चिन्ह ही नहीं होते अचेतन ग्रन्थियों का प्रकाशन कला द्वारा होता है। इन्ही प्रक्रियाओं के मध्य प्रतीकों का जन्म होता है।

जन जीवन के विधि जीविका के संबंधी क्षेत्रो में प्रयोग होनेवाले उपकरणों को ही हम प्रतीक के रूप में लेते हैं। प्रतीक हमारी संस्कृति तथा परंपरा से सुदीर्घ काल से चलते आ रहे हैं। प्राचीन काल से ही मानव जीवन ने मृत्यु और जीवन ये दोनों महा सत्यों की अभिव्यक्ति प्रतीकों के माध्यम से प्रस्तुत की है। इन दो सत्यों में सदा द्वन्द्व चलता रहा है। मानव इस संघर्ष की अभिव्यक्ति के लए सशक्त शब्दों का सहारा प्रतीक के रूप में लिया है। अतः प्रतीकों का संबंध मुख्यतः परंपरा अथवा संस्कृति से होता है। उनमें जातीय भावों और विश्वासों की प्रधानता होती है।

'अंधायुग' की रचनाकार डॉ. धर्मवीर भारती ने साहित्यकार के दायित्व की कसौटी को जीवित रखा। उन्होंने पौराणिक कथा-प्रतीकों को माध्यम बनाकर आज के समाज में व्याप्त कुण्ठा, निराशा, विकृतियों की टूटन विषमताओं से उत्पन्न व्यक्तित्व को विघटित करती मनोवृत्तियाँ, द्वन्द्व और असंतुलन आदि को चित्रित कर उसके परिहार और परिस्कार को रूपायित करने की चेष्टा की जिस में प्रतीकों के माध्यम से युग सत्य को प्रस्तुत किया गया है। उन्होंने नाटक के अंत में लिखा है कि -

"उस दिन जो अंधायुग अवतरित हुआ जग पर
बीतना नहीं रह रहकर दोहराता है

हर श्रण होती है प्रभु की मृत्यु कहीं न कहीं
हर क्षण अंधियारा गहरा होता जाता है
हम सब के मन में गहरा उतर गया है युग
अंधियारा है, अश्वत्थामा है, संजय है
है दास वृत्ति उन दोनों वृद्ध प्रहरियों की
अंधा संशय है, लज्जा जनक पराजय है।"[17]

भारती ने नाटक का नाम अंधायुग प्रतीकात्मक दृष्टि से ही रखा। द्वितीय युद्ध के बाद की स्थितियों ने राजनीति और साहित्य के आकाश को अंधकार से आच्छादित कर दिया। भूत, वर्तमान काल ही नहीं भविष्यत् काल भी अंधकार का शिकार बनने वाली है -

"यह है अनिवार्य
और वह है अनिवार्य
और यह तो स्वयं होगा
वह तो स्वयं होगा
आद इस पराजय की वेला में
सिद्ध हुआ
झूठी थी सारी अनिवार्यता भविष्य की।
केवल कर्म सत्य है
मानव जो करता है, इसी समय
उसी में निहित है भविष्य
युग-युग तक का।"[18]

राजनीति क्रम रूप में इस संसार को हडप ली है। आज भी भारत में शासन सत्ता कुछ अनोखे ही रूप हमारे समक्ष प्रस्तुत कर रहीं है। संकट की स्थिति में देश और प्रजा दोनों पूरी तरह डूब गये हैं। अनिश्चयता का राज चल रहा है। दोलायमान का आज देश, विदेश, साहित्य, राजनीति का प्रतीक है अंधायुग। गांधारी की उद्घोषणा में इसी तथ्य को परिलक्षित किया गया है -

"...... अंधी नहीं थी मैं।
मैंने यह बाहर का वस्तु जगत अच्छी तरह जाना था

धर्म, नीति, मर्यादा, यह सब है केवल आडंबर मात्र,
मैंने यह बार-बार देखा था
निर्णय के क्षण में विवेक और मर्यादा
व्यर्थ सिद्ध होते आये हैं सदा
हम सबके मन में कहीं एक अंधा गहवर है।"[19]

आज के जटिल जीवन में मनुष्य चुप कर जी रहा है। उसकी अंतरात्मा, मनोवृत्ति चरम त्रास और द्वन्द्व में परिणति हो पाती है, उसकी आत्म जर्जर विकृति हो गई है। अंधायुग की कथा प्रत्येक महासमर के उपरांत किसी भी युद्ध -संस्कृति, अमानवीय विघटित विकृत मूल्यों, विकलांग, कुण्ठित और जीर्ण-शीर्ण, घायल तन-मन की कथा की प्रतीकात्मक अभिव्यक्ति है। अंधायुग के सशक्त पात्र अश्वत्थामा को हम नाजीवादी भावना का प्रतीक मान सकते हैं जो मनुष्य के यथार्थ को मान्यता नहीं देता है। अश्वत्थामा मरणोन्मुख संस्कृति का भी पूर्ण प्रतिनिधित्व करता है। वह अपनी पराजय और पिता की अमानुष क्रूर हत्या से प्रक्षित होकर मानसिक रोगी बन जाता है। यहाँ आकर अश्वत्थामा आज के आधुनिक मानव का प्रतीक बन जाता है। अतः उसके स्वयं के शब्द उसके व्यक्तित्व को उद्‌घाटित करते है -

"किन्तु नहीं।
जीवित रहूँगा मैं
अंधे बर्बर पशु-सा.......
x x x x
वध, केवल, वध, केवल वध
अंतिम अर्थ बने
मेरे अस्तित्व का।"[20]

धर्मवीर भारती के अनुसार ***'अंधायुग'*** अंधों के माध्यम से ज्योति की कथा है। प्रतीकात्मक शब्दों और स्थितियों का सटीक उपयोग अच्छी तरह किया गया है। नाटक लिखने का उद्धेश्य भी प्रतीकात्मकता दिखाती है। इस नाटक में विश्व युद्ध और द्वन्द्वों के मध्य चलते रहे वर्तमान युग को ज्योति और विश्वास देने का प्रयास किया है।

श्री लाल शुल्क द्वारा लिखा गया 'राग दरबारी' उपन्यास का गरीश रस्तोगी द्वारा नाट्यांतर किया गया है। यह भी सशक्त प्रतीकात्मक रूपांतर है। नेता गण इस

प्रकार अपने 'वाद' निर्मित करते हैं और अपने विरोधी गण को किस प्रकार कुचल देते हैं आदि विषय प्रतीकात्मक व्यक्तीकरण में ही किया गया है -

> ***"न न न, विरोधी से भी सम्मान पूर्ण व्यवहार करना चाहिए। देखो न, प्रत्येक बडे नेता ने अपना अपना विरोधी पकड रखा है। यह जनतंत्र का सिद्धात है। विरोधी गण अपनी बात बकते रहते हैं और नेता गण चुप चाप अपनी चाल चलते रहते हैं। कोई किसी से प्रभावित नहीं होता। यहीं आदर्श विरोध है।"***[21]

'राग दरबारी' में प्रयोगात्मक प्रवृत्ति, प्रतीकात्मकता तथा तीखे व्यंग्य पूर्ण संदर्भ को पुष्ट करती है। इस में प्रतीकों द्वारा आधुनिक युग जीवन की शिथिलता, विवशता और संकटापन्न और मानव अस्तित्व को अपने नाटकों में चित्रित कर उसे विभिन्न दृश्य माध्यमों से जिखाने का प्रयत्न किया गया है। कालेज को प्रतीक बनाकर देश के भष्टाचार को यहाँ हमें प्रतीकों के माध्यम से दर्शाते हैं -

"यही आज का युग धर्म है। जो सब करते हैं वहीं प्रिन्सपाल भी करता है। कहाँ ले जाय बेचारा अपना रिश्तेदारों को? (खन्ना से) तुम तो इतिहास पढाते हो न?..... अपने मुल्क का यही हाल है, मास्टर साहब! जो यहाँ अपनी जगह चिपका बैठा है, टस से मस नहीं होता। उसे चाहे जितना कोंचो, चाहे जितना दुर-दुराओं, वह अपनी जगह चिपका रहेगा और उसके नाते - रिश्तेदार उसकी दुम के सहारे सडासड चढते जाएगें। कालिज को ही क्यों बदनाम करते हो? यह बात कहाँ नहीं है?"[22]

'लहरों के राज हंस' राकेश का प्रतीक-बहुल नाटक है। प्रत्येक घटना, स्थिति, मनः स्थिति के साथ यह उससे पहले संकेतात्मक रूप में लेखक एक न एक प्रतीक प्रस्तुत कर देता है। नाटक का प्रधान पात्र नंद को नाटककार ने एक संशय ग्रस्त व्यक्ति- एक प्रश्न चिह्न के रूप में चित्रित किया है। राकेश के ही शब्दों में - ***"नंद का ऐतिहासिक रूप जो भी हो, मेरे लिए वह एक ऐसे मन का प्रतीक है जो निरंतर अपने अंतर्द्वन्द्व से पीढित है। वह जीवन को उसकी समग्रता में जानना और जीना चाहता है। वह जिस आसक्ती में जीता है, वह आसक्ति उसके लिए चलना या भ्रांति नहीं, अपने अस्तित्व बोध की अनिवार्यता है-परंतु उस आसक्ति में जीकर वह जितना अधूरा है उससे बचकर भी अपने को उतना ही आधूरा अनुभव करता है।"***[23]

नंद एक साथ पौराणिक भी है, ऐतिहासिक और समकालीन भी। आधुनिक मानव जैसा नंद भी संपूर्णता की तलाश मे पडता है। वह भोग और योग के भीतर से किसी तीसरे रास्ते को खोजना चाहता है। अंत में नंद पराजित होकर सच्चे जीवन की तलाश में मुक्त होकर चला जाता है। बुद्ध और सुन्दरी दोनों ओर से विच्छिन्न होकर नितांत असहाय, अकेला और विक्षुब्द रह जाता है -

"मैं कब से जानता हुँ कि मैं पूरा यहाँ जीने के लिए नहीं हूँ। यह भी कि पूरा यहाँ से हट कर जीने के लिए भी नहीं हूँ। कहाँ, कितना, किस बिंदु पर जीने के लिए हूँ, इसका उत्तर मैं आज तक अपने को नहीं दे पाया। मैं जानता हूँ तुम्हें यह सब सुनना सह्य नहीं है। इस लिए सह्य नहीं है कि तुम समझती हो तुम ही वह केन्द्र हो जिसके वृत्त में मैं एक नक्षत्र की तरह घूमता हूँ। परन्तु मैं अपने को एक ऐसे टूटे हुए नक्षत्र की तरह पाता हूँ जिसका कहीं वृत्त नहीं है, जिसका कोई धुरा नहीं हूँ।" [24]

'आषाढ का एक दिन' में भी राकेश ने कालिदास को आज के लेखक का प्रतीक बनाया है। राकेश ने कालिदास का नहीं आज के लेखक की दुविधा को चित्रित किया है। लेखक को राजाश्रय लेना है या अपनी प्रतिबद्धता पर अडे रहना है, इस दुविधा में कालिदास राजाश्रय लेता है और स्वयं सत्ताधिकारी भी बन बैठता है। कलाकार और सत्ता के इस पारस्परिक संबंध में आंतरिक तनाव एवं संघर्ष का नाटकीय प्रस्तुतीकरण इस पात्र में मिलता है। राकेश कालिदास को मूल में रखकर एक रचनाकार व्यक्तित्व की स्वतंत्रता के प्रश्न को रेखांकित करने का प्रयत्न करते है

"मैं तब तुम से मिलने के लिए नहीं आया क्यों कि भय था तुम्हारी आँखे मेरे अस्थिर मन को और अस्थिर कर देगी। मैं इस से बचना चाहता था।.........यह नहीं सोचा कि द्वन्द्व एक ही व्यक्ति तक सीमित नहीं होता, परिवर्तन एक ही दिशा को व्याप्त नहीं करता।" [25]

'बकरी' नाटक में सर्वेश्वर दयाल सक्सेना बकरी द्वारा एक प्रयोग धर्मी राजनीतिक व्यंग्य को हमारे सामने रखते हैं। स्वतंत्रता पूर्व गाँधी जी जैसे जिन महान नेताओं ने सत्य और अहिंसा पर आधारित राजनीतिक मूल्य स्थापित किये हैं उनको 'बकरी' बनाकर परवर्ति नेताओं ने इस समाज का दोहन करके लोगों के साथ

विश्वास घात किये। 'बकरी' यहाँ कोई और नहीं गाँधी जी है और लोगों को धोखा देने केलिए एक उपाय बनकर बाहर निकाली गयी है -

"सिपाही : बकरी

दुर्जन : किस की बकरी

सिपाही : गाँव के हरिजन की,

दुर्जन : नहीं, बिल्कुल गलत।

सिपाही : फिर?

दुर्जन : यह गाँधी जी की बकरी है

सिपाही : गाँधी जी की?

दुर्जन : हाँ, हाँ, महात्मा गाँधी की, मोनदास करमचन्द गाँधी।"[26]

जनता को शोषित करने के लिए नेताओं को एक न एक विषय मिलता ही है लेकिन सारे जनता को बकरी का रूप समझते हुए इस नाटक में सक्सेना ने अच्छी प्रतीकात्मकता की अभिव्यक्तीकरण दी है। आज के नेतागण लोगों को ओट की नजरिए से ही देख रहे हैं। उनको ओट बैंक की जरूरत है। इसके लिए जो चाहे वो वक्तत्व देने के लिए वे तैय्यार रहते हैं -

"दर्जन : भाइयों यह हमारा सौभग्य है कि हमें गाँधीजी की बकरी मिल गयी। कुछ मिलना कुछ खोना भी होता है। हम जितना खोने को तैय्यार रहते हैं उस में पता चलता है कि हम कितना पाना चाहते हैं। इस बकरी ने हमेशा दिया है आप को आजादी दी, एकता दी, प्रेम दिया। आज भी बहुत कुछ देने को मुंतजिर है। पर आप लेना भूल गये हैं। क्योंकि आप देना भूल गये हैं।"[27]

सुरेंद्र वर्मा के नाटक द्रौपदी में बदलते परिवेश में स्त्री पुरुष के काम संबंधों को विभिन्न संदर्भों और दृष्टिकोणों में देखने का प्रयास किया गया है। इस नाटक की नायिका द्रौपदी वस्तुतः पौराणिक कालीन द्रौपदी न होकर वर्तमान की सुरेखा है किन्तु दोनों की स्थिति एक ही है। पौराणिक कालीन द्रौपदी के पाँच पति थे और इन पाँचों के बीच द्रौपदी अकेली पाँच भागों में विभक्त थी। ठीक इसी प्रकार द्रौपदी नाटक की नायिका सुरेखा भी यद्यपि अपने पति मनमोहन के पाँच प्रतिरूपों को झलने के

लिए विवश थी -

"सुरेखा :(क्रोध पूर्वक) इस तरह किसी के घर में घुस जाने का क्या तात्पर्य है?

चारों : (शांति से) हम किसी के घर में नहीं घुसे, अपने ही घर में घुसे हैं।

सुरेखा : यह क्या प्रलाप है?- कौन हो तुम लोग?

चारों : हम वही हैं, जो (मनमोहन की ओर संकेत सहित) ये हैं।

सुरेखा : (खीझी हुई) लज्जा नहीं आती तुम लोगों को? ये मेरे पति है।

चारों : हम भी वहीं हैं।"[28]

2.2.2 संघर्षशील अभिव्यक्ति के माध्यम

निरंतर संघर्षों का सामना कलाकारों को करना पड़ता है। कलाकार की व्यथा की अनुभूति को दर्शकों तक पहुँचाने का प्रयत्न अपने 'कबिरा खड़ा बाजार में' और 'हानुश' नाटकों में भीष्म साहनी चित्रित करते हैं। दोनों नाटक संपूर्ण मध्ययुगीन परिवेश में घटित होते हैं। 'हानुश' और कबीर दोनों आधुनिक कलाकार जैसे मानवीय मूल्यों के प्रति हमेशा संघर्षशील रहते हैं। सामाजिक अन्याय, शोषितों और दलितों की असहाय स्थिति एवं धर्मिक असहिष्णुता के बीच कबीर उस समय जिन्दा था आज के परिवेश में भी उनके व्यक्तित्व की महक है। जब तक यह अत्याचार का अंत नहीं होगा तब तक कबीर जीवित रहेगें। सामाजिक अन्याय, जातिगत भेदभाव,धर्मान्धता से जिस प्रकार कबीर जीवन बिताते हैं उसी प्रकार आज का व्यक्ति भी तड़परहा है - ***"माँ भी समझती है कि मैं ही लोगों को परेशान करता फिरता हूँ। माँ को मेरे पीट पर पडे घाव तो नजर आते हैं, लेकिन मेरा दिल कैसा छलनी हो रहा है, कोई नहीं देख पाता। सभी समझते हैं, मैं आवारा हूँ, लोगों से उलझता फिरता हूँ। मेरी यह भटकन कब खत्म होगी, मेरे मालिक?क्या फिर वन में निकल जाऊँ? मुझे शांति नहीं चाहिए, मुझे इस अंधेरे में रोशनी की लौ चाहिए। हर समय एक ही सवाल मेरे मन में घूमता रहता है, अगर यह सब झूठ है, तो फिर सच क्या है? मैं भी तेरे बन्दा हूँ, मालिक, फिर मेरी ठौर कहाँ पर है?"[29]***

आज दलित समाज अनेक समस्याओं से ग्रस्त है। अग्रवर्णों की शोषण से राजनीतिक पार्टियाँ केवल दलितों को वोट बैंक समझती है। केवल सरकारी सुविधाओं से काम नहीं होता। सारा का सारा समाज में परिवर्तन आना चाहिए। अपने अधिकार

के लिए आज दलित लड़ाई करने के लिए भी पीछे नहीं हठ रहे हैं। माता प्रसाद ने अपने नाटक 'तडप मुक्ति की' में मनोज कुमार पात्र का सृजन किया था। योग्य और सक्षम दलित आरक्षण को त्यागकर अपने अंदर यह विश्वास पैदा करना है कि हम किसी से कम नहीं है।मनोज कुमार अपने जाति को इस शोषण से मुक्ति दिलाना चाहता है और दलितों को इस समाज का हिस्सा बनाना चाहता है। मनोज कुमार केवल इस नाटक का पात्र नहीं सारे दलित आंदोलन और चेतना के प्रतीक है। उनकी वाणी शोषितों की वाणी है - ***"दलितो में जितनी जागृति हो रही है, स्वार्थी वर्ण उतना ही उनको दबाना चाहता है, उनको उत्पीडन कर रहा है। दलित समुदाय के क्लास वन और क्लास टू के अफसरों का प्रतिकूल प्रविष्टियाँ दी जा रही है, जिससे उनका प्रमोशन न हो सके। उनकी पोस्टिंग ऐसे जगहों पर की जा रही है जो बहुत खराब समझी जाती है। पहले जिलों में एस. पी. और जिलाधिकारी तथा प्रदेश सचिवालय में अनुसूचित जाति के पर्याप्त मात्र में अधिकारी इस वर्ग के होते थे, अब चुन-चुन कर उनको इन जगहों से हटाकर महत्वहीन पदों पर भेज दिया गया है, जहाँ न गाडी है न अन्य सुविधाएँ इस को सोच कर जो मैं पी.सी.यस में बैठ पर अनुसूचित जाति की कोटे में नहीं बैठा। जनरल सीट से बैठा हूँ।"*** [30]

देशकाल के माध्यम से ही परम्पराओं और संसेकारों से चले आते प्रतीक अपनी अर्थ व्यंजना के द्वारा जीवनानुभवों को सुरक्षित रखने के लिए आधार प्राप्त करते हैं। पचास के बाद अंधायुग से लेकर आज तक का वातावरण को चित्रित करने में प्रतीकों का ही उपयोग किया गया है। आधुनिक नाटकों के कथ्य में अनेक तरह के प्रयोग और परिवर्तन हम प्राप्त कर सकते हैं उनमें से प्रतीको को उच्च्य स्थान देना समीचीन होगा।

काव्य में प्रतीक निर्माण की अनिवार्यता तथा सहत्व की ओर संकेत करते हुए अज्ञेय ने 'आत्मनेपद' मेंलिखते हैं कि- ***"कोई भी स्वस्थ काव्य साहित्य प्रतीकों की, नये प्रतीकों की, सृष्टि करता है और जब ऐसा करना बन्द कर देता है तब जड़ हो जाता है।"*** [31] अज्ञेय ने काव्य के संदर्भ में जो बात कहे हैं उसे हम सीधा नाटकों पर लागू कर सकते हैं।अपने साहित्य में मानवीय मूल्यो को स्थापित करके जनता की साझेदारी करने में आधुनिक नाटककार अपना दायित्व निभाते हैं। उन्होंने समस्याओं का समाधान के लिए पौराणिक और काल्पनिक प्रतीकों के माध्यम से अभिव्यक्त करते हैं। सचमुच आधुनिक नाटककार के प्रतीक वर्तमान युग को रोशनी और विश्वास देने का प्रयत्न करते हैं।

2.3. आधुनिक मानव की सार्थक तलाश : पचासोत्तर नाटक

आधुनिकता का अर्थ वैज्ञानिक और तकनीकी प्रगति के साथ ही नहीं मानव संवेदनाओं के साथ ही अनिवार्य रूप से जुड़ा हुआ है। आधुनिकता 'नयापन' का महशूस कराती है। आज भी जो है उसे आधुनिक कहते हैं, अपने काल विशेष से जो भी विषय आगे व्यक्त होता है उसे आधुनिक कहते हैं। बीसवीं सदी के मानवतावादी विचारों की मुख्य चिंता यह रही कि आधुनिकता का अर्थ केवल भौतिक उन्नती से नहीं, आदमी की चेतना के विकास के साथ भी जुड़े और साहित्य तथा कलाओं में उसका पक्ष स्पष्ट और सश्क्त उभरे।

आधुनिक शब्द का सामान्यतः तीन अर्थों में प्रयोग होता है। एक अर्थ तो समय की दृष्टि से देखा जा सकता है। आधुनिक भारत की रूपरेखा 1857 से शुरू हुई है। सांस्कृतिक पुनर्जागरण के साथ-साथ विज्ञान के विकास के बाद स्पष्ट रूप से आधुनिकता का आरंभ दिखाई देता है। दूसरा अर्थ तो वर्तमान की धारणा से है। हम इस विषय पर दृष्टि रखना है कि आधुनिकता का रूप प्रत्येक युग में बदलता रहता है। प्राचीन काल में अनेक विषय आधुनिक रहें होंगे जो आज प्रचान बन गये हैं - बौद्धकाल आज प्रचीनकाल है, परन्तु अपने युग में वह निश्चय ही आधुनिक था।तीसरा अर्थ विचार परक है।मध्ययुगीन विचार से भिन्न, एक नये जीवन दर्शन का वाचक है।

आधुनिकता अनिवार्य विषय है। जब इतिहास की चेतना का विकास होता है तब आधुनिकता का नींव जरूर डाला जाता है। आधुनिकता एक ही माइने से नहीं हर क्षेत्र में अपनी वैचारिकता दिखाती है। - ***"आधुनिक मनुष्य का जन्म उस समय हुआ जब वह अपने देश काल के प्रति, अपने युग और इतिहास के प्रति, प्रबुद्ध हुआ। इस प्रबुद्धता के परिणाम स्वरूप आधुनिक जीवन दृष्टि में सामाजिक चेतना और आरंभिक चरण में राष्ट्रीय चेतना का भी स्वतः ही समावेश हो गया था। कल्पना और आदर्श का आकर्षण कम हो गया था। जीवन दृष्टि व्यावहारिक एवं यथार्थ परक हो रही थी। भावुकता के स्थान पर विवेक का नियन्त्रण बढ़ चला था और विज्ञान का वर्धमान प्रभाव के कारण सामान्य दृष्टिकोण क्रमशः बौद्धिक होता जा रहा था।"***[32]

आधुनिकता के लिए कोई सर्वमान्य अवधारणा नहीं है। बौद्धिक व्यापार में सूक्ष्म अवधारणों को निरंतर समझते-समझाते चलना अनिवार्य होता है। डॉ. धर्मवीर भारती आधुनिक बोध को 'संकट बोध' मानते है। डॉ.रघुवंश ने इसे असंपृक्त याथार्थ दृष्टि के रूप में स्वीकार किया है। डॉ.कुवर नारायण आधुनिकता को एक मूल्य मानते हैं

उन्होंने आधुनिकता में नौतिकता की तड़प सुनाते हैं। केदारनाथ अग्रवाल ने आधुनिकता को खण्डित मानोदशा की खण्डित अभिव्यक्ति बताया है। डॉ.नरेन्द्र मोहन की मान्यता है कि - आधुनिकता एक प्रश्नाकुल मानसिकता है जो हर बंधी-बंधायी व्यवस्था या मर्यादा या धारणा तोडती है। कुबेरनाथ राय यह मानते हैं कि आधुनिकता की कोई परिभाषा नहीं हो सकती, तथापि आधुनिता की एक काम चलाऊ यह हो सकती है कि प्रश्णगर्भी मानसिकता के प्रति सचेतना को आधुनिकता कहते हैं। इससे हमे स्पष्ट होता है कि आधुनिकता को परिभाषा में बांधना अत्यंत दुष्कर कार्य है।

बीसवीं सदी के अंतिम चरणों में भारतीयता के चेहरे अनेक रंगों से बदले हुये हैं। समाज के अधःपतन, द्वन्द्व की मानसिकता का स्पष्ट रूप हमें दिखाई देता है।इस आधुनिक समाज, मनुष्य पीछे बीसवीं सदी के अंत में किए गए आर्थिक सुधार और संचार क्राति है। इस बात में कुछ हद तक सच्चाई भी है, किन्तु गौर करने पर बात इससे भी आगे जाती है। यह तो मानना ही पड़ेगा कि संचार क्रांति और आर्थिक सुधारकों के कारण इस सामाजिक परिवर्तन में तो तीव्रगति आई है। इन सब के पीछे आधुनिकता छिपी हुई है।

व्यक्तिवाद, यंत्रवाद, परिवर्तनवाद ये तीन आधुनिता के सर्वप्रथम विशेषताएँ हैं। हमारे देश के पहले आधुनिकवादी बुद्ध को मान सकते हैं। आज के आधुनिक मनुष्य की जो दृष्टि है वही दृष्टि गौतम बुद्ध के पास है। लेकिन हमारे देश में व्याप्त आधुनिकता एक अंधानुकरण मात्र होकर रह गयी है। आधुनिकता में हमारी संस्कृति और सांस्कृतिक पहचान दाँव पर लगे हुए हैं। हमें आधुनिक बनते हुए अपने राष्ट्रीय पहचान और सांस्कृतिक गरिमा को रक्षा करनी है।

आधुनिकता एक विशिष्ट मनुष्य की सृजन की है। आधुनिक मनुष्य के लिए परम्परागत शक्तियाँ और सीमाएँ हैं। अनेक आयाम, रूपों में देखने से ही आधुनिक मानव में समकालीन चेतना की अभिव्यक्ति सही मिलती है। विच्छिन्नता अपनी मूलभूत लक्षण बनाकर आधुनिक मानव ने अपने लिए विशिष्ट समाज का निर्माण करते हैं। सामूहिक प्रतिवादी क्षमताओं को सामान्य गति से विस्फोटक की भाँति चौंकाना आधुनिकता का लक्षण है।

आधुनिक मानव के जन्म और विकास के पीछे हमारे यहाँ का परिवेश, विशेष रूप से स्वातंत्र्योत्तर परिवेश निहित है। मनुष्य को एक ओर स्वातंत्र्योत्तर की चुनौतियों

ने हमारे मूल्यों को विघटिन किया है वहीं दूसरी ओर सांस्कृतिक संकट भी दिनों दिन बढता ही चला गया है। इस सांस्कृतिक संकट दिन-बदिन बढता गया और समूचे मनुष्य जाति को अपनी गिरफ्तार में लेने के लिए प्रयत्न हो रहा है। आजादी से पूर्व कुछ आदर्श भी थे, जिन को जीवित रखने की प्रयत्न स्वातंत्र्य सेनानियों ने अच्छी तरह की है। लेकिन स्वातंत्र के बाद मूल्य विघटन और व्यक्ति अपने आपको पहचानने में बडे कष्ट झेल रहा है। स्वातंत्र्य के बाद आदर्श तिरोहित होने लगे और इस के साथ व्यक्तिवाद, अवसरवाद, स्वार्थपरता जैसी प्रवृत्तियाँ जन्म लेने लगी। इस के परिणाम आम व्यक्ति ने अपने परिवेश को छोड कर भाग जाना शुरू किया है। इस परिवर्तित व्यक्ति की तलाश आधुनिक नाटककारों ने की है।

किसी भी व्यक्ति की चरित्र को परखने के लिए उसकी मानसिकता और परिवेश के साथ तत्कालीन राजनीतिक, सामाजिक, आर्थिक और साहित्यिक परिस्थितियों की निर्णायक भूमिका रहती है। आज के आधुनिक जटिल व्यक्ति के चिरित्र को देखने से उसमें बहुरंगी, बहुस्तरीय विस्तार है कि उसको सीमाओं में बांध कर अलग अलग विचार करना लगभग संभव ही नहीं है। फिर भी जैसा कि आचार्य रामचन्द्र शुक्ल ने कहा है - 'एक मनुष्य की आकृति से दूसरे मनुष्य की आकृति नहीं मिलती, पर जब मनुष्यों की आकृतियों को एक साथ ले तो एक ऐसी सामान्य आकृति-भावना भी बंधती है जिस के कारण हम सबको मनुष्य कहते हैं। इस प्रकार सबकी रुचि और प्रकृति में भिन्नता होने पर भी कुछ ऐसी अतर्भूमियाँ हैं जहाँ पहुँचने पर अभिन्नता है।' इसलिए मनुष्य की तलाश से उसकी सही रूप पाना असंभ ही लगता है लेकिन पचासोत्तर नाटककार जीवन के हर पहलुओं को सीधे सीधे व्यावहारिक धरातल पर संप्रेषित करने के लिए प्रयत्न करते हैं।

अधायुग धर्मवीर भारती का प्रतिनिधित्व नाटक है। इस नाटक में कृष्ण, संजय, अश्वत्थामा, युयुत्स, कृपाचार्य सब आधुनिक मनुष्य के प्रतिनिधि ही हैं। सब के सब द्वन्द्व में ही रहते हैं। सब को आधुनिक आम आदमी की संत्रास भोगना पडता है। अंधायुग के केन्द्रीय व्यक्तित्व कृष्ण ही है। कृष्ण के माध्यम से नाटककार ने मनव के गौरव की प्रतिष्ठा भी की है। अश्वत्थामा पात्र को भारती ने इसलिए सृजित किया है कि आधुनिक मानव अपने प्रतिबिंब को स्वयं देख लें। पराजय का शिकार बनकर आज मानव अपने को ढूँढ रहा है जैसा अश्वत्थामा ने ढूँढा है -

"मैं क्या करूँगा

हाय मैं क्या करूँगा?

वर्तमान में जिसकी
मैं हूँ और मेरी प्रति हिंसा है !
एक अर्थ सत्य ने युधिष्ठर के
मेरे भविष्य की हत्या कर डाली है।
किन्तु, नहीं ;
जीवित रहूँगा मैं
पहले ही मेरे पक्ष में
नहीं है निर्धारित भविष्य अगर
तो वह तटस्थ है
शत्रु है अगर वह तटस्थ है।"[33]

और एक जह अश्वत्थामा अपने ने स्थिति को दृष्टि में रखकर स्वयं कहता है कि-

"था मैं नहीं पशु
मुझको युधिष्ठर ने बना दिया।"[34]

अश्वत्थामा पशु नहीं है, परिस्थितियाँ उसमें 'पशु का उदय' कराती हैं। इस के चरित्र में आधुनिक मानव जैसा अंतर्द्वन्द्व है और संघर्ष के अनेक स्वर देखने को मिलते हैं। आस्था और विश्वास के टूटने की स्थिति, मोहभंग होने की स्थिति, व्यक्ति को जितना असहाय अरक्षित और खण्डित करती है इसका सही उदाहरण अश्वत्थामा ही है। आधुनिक मानव भी अश्वत्थामा जैसा मुक्ती हिंसा में ही पा रहा है -

"मेरा था पाप
किया मैंने वध
किन्तु हाय मेरे नहीं थे वे
हृदय मेरा नहीं था वह
अंधायुग बैठ गया था मेरी नस-नस में
....
जख्म है वदन पर मेरे

लेकिन पीडा सब शांत हो गई बिल्कुल

मैं दण्डित

लेकिन मुक्त हूँ।"[35]

स्वातंत्र्योत्तर भारत मनुष्य की गिरती नैतिकता और उसके भीतर के खोखलेपन को प्रकाश में लाने के लिए मोहन राकेश अनेक प्रयास करते हैं। 'आषाढ का एक दिन' नाटक में केन्द्रीय पात्र कालिदास होने पर मल्लिका और विलोम ही प्रमुख हो गए हैं। यहाँ कालिदास पुरातन कालिदास नहीं आधुनिक विसंगतियों से झेलते हुए जीनेवाला कालिदास है। वह एक व्यक्ति नहीं है, सृजनात्मक शक्तियों का प्रतीक है। आधुनिक मानव जैसा कालिदास भावुक और अंतर्द्वन्द्व ग्रस्तता और पलायनवादी है। कालिदास दर्भल नहीं हैं, अस्थिर और अंतर्द्वन्द्व से पीडित है। नीचे दिए गये उदाहरण से हमें यह पता चलता है कि कालिदास और आधुनिक मानव में बहुत से साम्य है - ***"मुझे अपने पर विश्वास नहीं था। मैं नहीं जानता था कि अभाव और भर्त्सना का जीवन व्यतीत करने के बाद प्रतिष्ठा और सम्मान के वातावरण में जाकर मैं कैसा अनुभव करूँगा। मन में कहीं यह आकांक्षा थी की वह वातावरण मुझे छा लेगा और मेरे जीवन की दिशा बदल देगा..... और वह आशंका निराधार नहीं थी।"[36]***

2.3.1 अनभिज्ञ मानसिकता का आविष्कार

कालिदास के मुखौटा द्वारा नाटककार संघर्ष के विविध आयामों को प्रस्पुटित करने का प्रयत्न करते हैं। जीवन की त्रासदी को लोकप्रिय बनाने में और त्याग के महत्व बताने में आधुनिक मानव की अनभिज्ञ मासिकता का आविष्कार करते हैं। अभावपूर्ण जीवन आधुनिक पुरुष का लक्षण है उसी लक्षण कालिदास में भी हम पा सकते हैं -

"मैं सुखी नहीं हो सकता। मैंने बारबार अपने को विश्वास दिलाना चाहा कि कमी उस वातावरण में नहीं है मुझमें है। मैं अपने को बदल लूँ, तो सुखी हो सकता हूँ। परन्तु ऐसा नहीं हुआ। न तो मैं बदल सका, न सुखी हो सका। अधिकार मिला, सम्मान बहुत मिला, जो कुछ मैंने लिखा उसकी प्रतिलिपियाँ देशभर में पहुँच गयी, परन्तु मैं सुखी नहीं हुआ। किसी और केलिए वह वातावरण और जीवन स्वाभाविक हो सकता था, मेरे लिए नहीं था।"[37]

राकेश ने केवल कालिदास को ही नहीं नंद और जगमोहन को भी आधुनिक मानव की तलाश में गढा है। आधुनिक मानव जैसा संशय ग्रस्त व्यक्ति का चित्रण राकेश ने अपने आषाढ का एक दिन नाटक में किया है। राकेश के ही शब्दों में -

"नंद का ऐतिहासिक रूप जो भी हो, मेरे लिए वह एक मन का प्रतीक है जो निरंतर अपने अंतर्द्वन्द्व से पीडित है। वह जीवन को उसकी समग्रता में जानना और जीना चाहता है - इस लिए बुद्ध और सुन्दरी, दोनों की जीवन - दृष्टियाँ उसके लिए एकांगी है, वह जिस आसक्ती में जीता है, वह आसक्ती उसके लिए छलना या भ्रान्ति नहीं, अपने अस्तित्व बोध की अनिवार्यता है -परन्तु उस आसक्ती में जी कर वह जितना अधूरा है उससे बचकर भी अपने को उतना ही अधूरा अनुभव करता है; और क्योंकि अपने अधूरेपन को भी स्वीकार नहीं कर पाता, इस लिए अंत तक उसकी छटपटाहट ज्यों का त्यों बनी रहती है। यह परिणतिहीन परिणति उसके जीवन की विडंबना भी है, सच्चाई भी।"[38] आधुनिक मानव अतर्मुखी, उद्विग्न और चिंताक्रांत चरित्र में छिपा है। संकोच, सहानुभूति, पीडा आदि गुण आधुनिक मानव की वहीं गुण का समाहार स्वयं नंद में भी है। अपने को खोकर फिर से ढूँढना आधुनिक प्रवृत्ति है। उसी का समाहार राकेश ने नंद के मुह से कहलवाया है -

> ***"मैं कब से जानता हूँ कि मैं पूरा यहाँ जीने के लिए नहीं हूँ।***
> ***यह भी कि पूरा यहाँ से हट कर जीने के लिए भी नहीं हूँ।***
> ***कहाँ, कितना, किस बिंदु पर जीने के लिए हूँ, इस का उत्तर मैं आज तक अपने को नहीं दे पाता।"***[39]

और वास्तविकता के पास जाते हुए जोर से कहते है कि - ***"मैं चौराहे पर खडा नंगा व्यक्ती हूँ जिसे सभी दिशाएँ लील लेना चाहती है, और अपने को ढकने के लिए जिसके पास आवरण नहीं है। जिस किसी की ओर पैर बढाता हूँ, लगता वह दिशा स्वयं अपने ध्रुव पर डगमगा रहीं है, और मै पीछे हट जाता हूँ।"***[40]

परिणति का प्रश्न तब उठता है जब मनुष्य संशय, अनास्था और अप्रतिबद्धता का शिकार बन जाता है। हर रास्ता सिर्फ एक तलाश है, कभी न समाप्त होने वाली एक लंबी यात्रा। लहर जैसे परिस्थितियों से बाहर आना हंस जैसा नंद को और आधुनिक मानव को उतना सुलभ नहीं है। अधूरापन का अनुभव आधुनिक मनुष्य को ही नही नंद को भी भोगना पडा। अपनी संपूर्णता के लिए नंद, सुन्दरी और बुद्ध के बीच एक संतुलन बिंदु की तलाश में रहता है, वह तलाश कभी पूरा नहीं होती, जैसा कि नंद सुन्दरी से कहते हैं -

"......तुम्हारे सामने हूँ, तो मन कहीं और के लिए व्याकुल है। क्योंकि यहाँ हो या वहाँ, सब जगह मैं अपने को एक-सा अधूरा अनुभव करता हूँ। क्योंकि तुम हो या वे, कोई भी मेरी इस वास्तविकता को स्वीकार नहीं कर सकता। क्योंकि इस रूप में हो या उस रूप में, अब किसी भी रूप में मैं अपने को झुठलाकर नहीं जी

सकता। क्योंकि मैं यह भी हूँ और वह भी......इन में से कोई एक नहीं, जैसा कि तुम सब अलग अलग से विश्वास करना चाहते हो कि मैं हूँ.........।" [41]

आधुनिक मूल्य विहीनता मनुष्य को खण्डित कर देखने की धारणा को हमारे सामने रखती है। अपूर्त महत्वाकांक्षाओं, असफलताओं और अनजाने डरों, टूटन, आक्रोश का प्रतिबिंब महेन्द्र नाथ है। जीवन से पलायनता, आत्म-सम्मान आधुनिक मानव के लक्षण महेन्द्र नाथ में भी है। मध्यवर्गीय भावना मध्यवर्गीय विचार से लदे हुए सूक्ष्म जटिल अनुभवों की सही अभिव्यक्ति 'आधे अधूरे' में मिलती है। टूटे हुए मनुष्य की वास्तविक बिखराव का जटिल चित्रण, आधुनिक मनुष्य की दृष्टि का सही मेल मिलाप निम्न उद्धरण से पता चलता है।

"मैं वास्तव में कौन हूँ? - यह एक ऐसा सवाल है जिसका सामना करना इधर आके मैंने छोड़ दिया है। जो मैं इस मंच पर हूँ, वह यहाँ से बाहर नहीं हूँ और जो बाहर हूँ..... खैर, इसमें आपकी क्या दिलचस्पी हो सकती है कि मैं यहाँ से बाहर क्या हूँ ? शायद अपने बारे में इतना कह देना ही काफी है कि सड़क के फुटपात पर चढ़ने पर अचानक जिस आदमी से टकरा जाते हैं, वह आदमी मैं हूँ।" [42]

आधुनिक मानव भीष्म साहनी के 'हानुष' नाटक से एक सृजन कलाकार के रूप में हमारे सामने आता है। शासन से समझौता करने केलिए आज का मानव तैय्यार नहीं है इस केलिए जो कीमत चुकाने पडे उसको चुकाने के लिए आधुनिक मानव तैय्यार है। हर युग में कीमतें बदलती रहीं, पर कीमत हमेशा चुकानी पडी। हानुश को भी घडी बनाने के बाद कीमत के रूप में आँखों को खोना पडा। अंधा बनने के बाद भी हानुश अपने विश्वास को कायम रखकर जीना चाहता है। आधुनिक आजमी की स्थिति भी हानुश जैसी है।

2.3.2 जागरूकता का प्रतीक : आधुनिक मनुष्य

सामाजिक अन्याय, धर्मिक अहिष्णुता, संत्रास के बीच कबीर उस समय जिन्दा था आज आधुनिक मनुष्य उसी स्थिति में अपने जीवन यापन कर रहा है। व्यवस्था जब तक संतुलित नहीं होती तब तक मनुष्य भी अपने आप से समझौता नहीं कर पाता। मानवतावादी दृष्टिकोण कबीर को ही नहीं आधुनिक मानव को भी है। 'कबिरा खड़ा बाजार में' नाटक का परिवेश मध्ययुगीन होते हुए भी उसके जरिये भीष्म साहनी आधुनिक क्रांतिकारी मानव को गढ़ा है। बडी संवेदना से कबीर इस प्रकार

कहते हैं - ***"मैं इन्सान को हिन्दु और तुर्क की नजर से नहीं देखता, मैं उसे केवल इन्सान की नजर से, खुदा के बन्दे की नजर से देखता हूँ। जन्म से सभी इन्सान होते हैं। वरन् ब्राम्हण का बेटा माँ के पेट से ही तिलक लगाकर निकलता और तुर्क का बेटा कतनी करवाकर निकलता।.....मुझे दूर जाना ही नहीं है, मुझे केवल मालिक के चरणों तक जाना है। एक इन्सान से दूसरे इन्सान के दिल तक जाना है।"*** [43]

स्वतंत्रता के बाद राजनीतिक स्थिति ने लोगों के साथ विश्वासघात किया। गाँधीवादी आदर्शों को बकरी बनाकर नेता इस समाज का शोषण कर रहे हैं। मूल्य विहीनता बढ गयी है। नेता के इशारे पर लोग नाचने लगे। लोगों को दिशा दिखाने और सही राजनीतिक मूल्य स्थापित करने के लिए सर्वेश्वर जयाल सक्सेना ने आधुनिक मनुष्य के प्रतिनिधि के रूप में 'युवक' को गढ़ा है। बकरी नाटक में युवक आधुनिक मानव का प्रतिरूप है। इस भ्रष्ट राजनीतिक तंत्र में वह एक और बकरी बनना नहीं चाहता है। क्योकि युवक जागरूकता का प्रतीक है जो आधुनिकता का एक विशिष्ट लक्षण है -

> ***"युवक : जानता हूँ। आप बकरी की पूजा इसलिए कराते हो***
> ***ताकि सब बकरी बन जाएं। मैं बकरी नहीं हूँ। किसी***
> ***की बकरी नहीं बनूगा।"*** [44]

सच बोलने के लिए आज मनुष्य उत्सुक है। लेकिन इस समाज उसे सच बोलने नहीं देता आधुनिक जीवन मनुष्य को कायर बना दिया है। अपने अंतर्गत उद्विगनो को सम्प्रेषित करने में मनुष्य डरता है। अपने अंदर देखने में आज मनुष्य हितकता है। 'करफ्यू' नाटक में श्री लक्ष्मीनारायण लाल आधुनिक मानव को रूपांतरित करने में सफल हुए हैं। अपने पुरुष पात्रों द्वारा नरक के रहस्य को उद्घाटित करने की कोशिश करते हैं। आधुनिक व्यक्ति अपने सामाजिक समस्याओं से भागना चाहता है। इस नाटक में गौतम अपनी पत्नी से पहली बार अपने को बिना छिपाये बात करता है - ***"मैं कितना डरा हूँ.... फिर मेरी कायरता। छी-छी-छी। हे ईश्वर मुझे सच बोलने का सहारा दो...। मैंने उसके साथ बलात्कार करना चाहा, क्योंकि उसके अलावा और कुछ कर ही क्या सकता था। वह मुझे इसी तलवार से आरपार बेधकर चली गई। मैं आदि से अंत तक झूठ, केवल झूठ बोलता रहा। जैसे केवल वही मेरी बुनियाद थी, वही मेरे भीतर......वही मेरे बाहर। वह फिर लौटी....मुझे जगाया। मैं थर-थर कांप रहा था। उसने कहा, यही कमरा पूरा शहर है....शहर भर में जो लूट, फूँक, हत्या, बलात्कार हुए हैं, वे इन्हीं अंधेरे कमरों में से निकलकर शहर की सडकों-गलियों में गए हैं। ...जो सहज है, मनोवांचित है, उस पर इतनी पाबंदी क्यों ? इतना डर क्यों ? जो अपने भीतर का करफ्यू नहीं तोडते,***

वहीं बाहर करफ्यू लगाते हैं......और तोडने के लिए अपराध करते हैं।"[45]

आधुनिक मानव को अपनी समस्या का समाधान ढूढ़ना बहुत ही पीड़ा जनक बिषय बन गई है। आज मनुष्य अकेला रहना चाहता है। खुशनसीबी बोध उसको चैन से जीने नहीं देती। 'वीरगति' नाटक में असगर वाजहत अपने पात्र' सुकुमार' को इन भावनाओं का रूप बनाया है। आज मनुष्य दौलत से सुख प्राप्त करने के लिए तैय्यार नहीं है। आज के दुनिया में लोग कुछ पाकर मजा लेते हैं तो कुछ खोकर खुश होते हैं। सुकुमार अपनी अंतर्गत वेदना को इस प्रकार व्यक्त करता है कि - ***"....काश मैं कुछ कह देता !.....जबान खोलता हूँ तो ऐसा लगता है, कि पत्तर से बातें कर रहा हूँ। पेड़ पौधे मेरी बात का जवाब देंगे ?.....मैं खुद अपने सवालात के अंधेरे में डुबकियाँ लगा रहा हूँ।.....लेकिन हाय, एक बेकली है जो मुझे तडपाती है, एक चिनगारी है जो मुझे जलाती है, एक दीवानगी है जो मुझे पागल बनाती है।....न कुछ बता सकता हूँ, और न दिखा सकता हूँ। न हँसी आती है और न रोना। न निगलते बनता है, न उगलते चैन है।"***[46]

वर्ण व्यवस्था, जाति व्यवस्था दोनों आधुनिक समाज को पीछे ले जाने वाले तत्व है। आज उग्रवाद ही नहीं अग्रवाद भी अपने राज चला रही है। समानता के लिए अनेक दलित नेता संघर्ष कर रहे हैं लेकिन उसका फल भोगने वाले उसको सही तरह उपयोग में नहीं ला रहे हैं। जिस जातिवाद के प्रतिक्रिया में संघर्ष कर रहे हैं उसी के चंगुल में फसते जा रहे हैं। इस विषय पर तडप मुक्ति की नाटक में श्री माता प्रसाद मनोज कुमार के मुँह से इस आधुनिक वक्तव्य को सुनाते हैं - ***"राजनीतिज्ञों में भी ब्राम्हणवाद दिखाई पड़ रहा है। कुछ राजनीतिज्ञ मनुवाद को कोसकर दलितों का वोट तो माँगते हैं, किन्तु उन्हीं के दल के मन्त्री या विधायक उनके पास जाते हैं तो वे खुद तो कुर्सी पर बैठते हैं। जब दलित के नेता ही दलित के साथ समानता के व्यवहार नहीं करते हैं, तो दूसरे को क्यों मनुवादी कहा जाता है ? क्या यह मनुवाद नहीं है ! इस प्रवृत्ति का भी हमें विरोध करना चाहिए तभी दूसरों की मनोवृत्ति के विरोध करने में हम सक्षम होगें।"***[47]

इस प्रकार आधुनिक मानव में अपने तमाम अंतर्द्वन्दों, संशय, अनिश्चय, अनिर्णय और दुख के बावजूद अपने मूल्यों, विश्वासों के लिए लडने की हिम्मत थी। अपनी शर्तो पर जिंदा रहने की तडप, आत्म सम्मान, खोज, प्रखर बौद्धिकता की चमक आधुनिक मानव में मिलता है। मनुष्य सदा के लिए आदर्श और यथार्थ के द्वन्द्व में रहता है। आधुनिक परिवेश मानव को नजदीक से परखने के कारण नाटककार भी

अपने पात्रों को वास्तविक जीवन के पास ही रखे हैं। विविशता मनुष्य को सही रूप प्रधान करने में बाधा पहुँचाती है लेकिन उस प्रवृत्ति को भी पाकर आधुनिक व्यक्ति का आवाज सही रूप से सम्प्रेषित किया गया है।

पचासोत्तर नाटकों की जो भी कथ्य हो, लेकिन उस नाटकों में आधुनिक मानव जीवन की चरित्र और व्यक्तित्व का सफल चित्रीकरण हुआ है। एक जगह टूटे हुए व्यक्तित्व को और एक जगह बिखरे हुए जीवन को प्रस्फुटित कराने में आधुनिक नाटककारों ने सराहनीय भूमिका निभाई है। इस व्यवस्था व्यक्ति को निरंतर संघर्षों का शिकार बना देती है। लेकिन अपने सीमित सीमाओं के होते हुए भी आधुनिक नाटककारों ने व्यक्ति की व्यथा की कथा को सुनाने में सक्षम हुए हैं। प्रसाद युगीन पुरुष पात्रों से परिवर्तित रूप पाकर आधुनिक व्यक्ति ज्यादातर अपने परिवेश से और समस्याओं से जुडे हुए हैं। आज के व्यक्ति स्वपक्षीय बनाकर भी समूहगत दृष्टि को नजर अंदाज नहीं कर पाता है। इसी प्रवृत्ति का सही चित्रण आधुनिक नाटककार अपने नाटकों में चित्रित करते हैं।

2.4 व्यवस्था का निर्णायक अंग : मध्यवर्ग

मानव ने अपनी विभिन्न जैविक तथा मानसिक आवश्यकताओं की पूर्ति हेतु सामाजिक व्यवस्था का आविष्कार किया है। यह मानव समाज नित्य परिवर्तनशील, संश्लिष्ट और जठिल होता है। अपने विकास के समय से लेकर यह मानव समाज अनेक छोटे बडे समूहों, वर्गों, जातियों, दलों आदि में विभक्त भी दिखाई पड़ती है। ***"यदी हम विश्व की संस्कृति पर दृष्टिपात करे तो ज्ञात होता है कि कोई भी समाज वर्गहीन स्तरहीन नहीं है।"***[48] जैसे मानव समाज नित्य परिवर्तमशील होता है, उसमें मौजूद असंख्य स्तरीकरण भी नित्य परिवर्तनशील होते हैं। स्थान, समय, लक्ष्य ऐसी अनेक भौतिक परिस्थितियाँ हैं जिन के असर से विभिन्न प्रकार के, समाजिक स्थरीकरणों का आविर्भाव होता है।

इस विशाल मानव समाज में मौजूद समूहों को समाजशास्त्रियों ने अपने अपने मंतव्य से वर्गीकरण प्रकट किये हैं। प्लेटो ने समाज के सभी सदस्यों को योग्यता के आधर पर, अरस्तू ने जन्म, समर्थ और संपत्ति के आधार पर विभक्त किये हैं। कार्ल मार्क्स ने अधिक वैज्ञानिक दृष्टि से सिद्ध किया था कि सामाजिक स्तरीकरण का प्रमुख तत्व आर्थिक होता है। उनके अनुसार किसी भी व्यक्ति की सामाजिक प्रतिष्ठा और वर्ग सदस्यता उनकी आर्थिक स्थिति पर नर्भर होती है। आर्थिक स्थिति निश्चय

ही सामाजिक उत्पादन के क्षेत्र में व्यक्ति के स्थान तथा स्वामित्व के आधार पर निश्चय होती है। मार्क्स इस निष्कर्ष तक हमें पहुँचाते है कि आज तक का सामाजिक इतिहास वर्ग संघर्ष का इतिहास होता है।

आज संसार की व्यापकता, विशालता और सक्रियता की दृष्टि से मध्यवर्ग समाज का प्रमुख वर्ग है। यह वर्ग पूँजी तथा श्रम के दो विरोधी तत्वों के बीच सुरक्षिकत दीवार की तरह खडी है। आधुनिक काल में आर्थिक शक्ति पूँजीपति में केन्द्रित हो जाने से मध्यवर्ग की आर्थिक स्थिति अत्यंत जटिल होती गयी है। मुद्रा स्थिति के कारण मध्यवर्गीय की क्रिया शक्ति पर पर्याप्त असर पडा है, जिससे मध्यवर्ग का जीवन स्तर गिर गया है। शिक्षित वर्ग में बेकारी तथा धनाभाव की प्रमुख समस्याएँ उत्पन्न हो गयी हैं। यह महत्वपूर्ण तथ्य है कि जटिल आर्थिक परिस्थितियों से उत्पन्न कुण्ठा, एकाकीपन की घुटन तथा निरुद्धेश्य मध्यवर्गीय व्यक्ति की परिस्थितियों को मोडने तथा निर्माण करने को प्रेरित नहीं करती, वरन् अंतर्मुखी होकर विवाद पूर्ण मानसिक स्थिति में समाज का ही विध्वंस करने के लिए आकृत रहती है। अपनी कुण्ठाओं, घुटन, एकाकीपन, निरुद्धेश्यता तथा असफलता जनित निराशा का कारण यह सामाजिक बंधन समझने लगता है, अतः उन बंधनों के समूल विध्वंस में ही वह अपनी स्वतंत्रता देखता है। सामाजिक एवं आर्थिक संघर्ष की स्थिति में शिक्षित मध्यवर्ग सबसे अधिक क्षुब्धावस्था में है। अतः नैतिक मूल्यों एवं जीवन के आदर्शों के प्रति सबसे अधिक आस्थाहीन यही वर्ग है।

मध्यवर्ग के लोग नैतिक मूल्यों के प्रति आस्थाहीन होकर किसी भी काम करने के लिए तैय्यार हो जाते है। वे अपनी महत्वाकांक्षाओं को पूरा करने के लिए रिश्वत, सिफारिश, भ्रष्टाचार तथा यौन विकृतियों का सहारा लेने से भी नहीं हिचकते। मध्यवर्ग हमेशा अवसरवादी होता है जो अवसर अपने पास गुजरता है उसे खोना नहीं चाहता। कुछ समय मध्यवर्ग अपने लिए अवसर को स्वयं निर्मित करता है उसके अनुसार अपने को परिकल्पित भी करता है।

मध्यवर्गीय नैतिकता तथा लोकाचार अपनी कर्कशता और अनुदारता के लिए कुप्रसिद्ध है। इनमें कई परस्पर विरोधी होते हैं, और दुर्व्यवहार भी। विवाह, स्त्री-पुरुष संबंध और सेक्स सदाचार आदि से संबंधित मध्यवर्गीय मान्यताएँ इसके लिए सफल उदाहरण है। इस के पालन में जान बूझकर लग जानेवाला व्यक्ति अक्सर कई मानसिक ग्रन्थियों व कुण्ठाओं के शिकार हो जाते हैं। अन्य दोनों वर्गों की मान्यताएँ इस शिलशिले में अधिक उधार और ढीली है। उन वर्गों की अपेक्षा मनोरोगियों तथा

दर्बल मनोविज्ञान के लोगों की संख्या मध्यवर्ग में ज्यादा होने का एक कारण यह है। मनोवैज्ञानिकों का कहना है कि दुर्वह और परस्पर विरोधी मध्यवर्गीय सेक्स संबंधी मान्यताएँ भविष्य की शुभ - कल्पना में वर्तमान की कामनाओं की दमन करने के लिए लोगों को मजबूर बनाती है।

डॉ. पी. थामस का कहना है कि - ***"अपनी वर्तमान परिस्थितियों तथा सफलताओं से मध्यवर्ग की भी संतुष्ट नहीं है। आर्थिक क्षमता, सुख सुविधाएँ, सामाजिक प्रतिष्ठा आदि कार्यों में सफलता प्राप्त करके ऊपर उठने की धुन में मध्यवर्ग का मन हमेशा अशान्त रहता है। अगली पीढी को अपने से अच्छे ओहढों पर देखने की अभिलाषा मध्यवर्ग को अपने बच्चों को सख्त अनुशासन में रखने और उच्चतर शिक्षा दिलाने की प्रेरणा देती है। बाल मनोनविज्ञान पर इन प्रयत्नों की विपरीत असर पर आजकल मनोवैज्ञानिक चेतावनी दे रही है।"***[49]

आज वर्तमान परिस्थितियों से अतृप्त रहने से मध्यवर्ग हमेशा क्रान्तिकारी दर्शनों व परिवर्तनों का समर्थक होता है। दुनिया की वर्तमान परिस्थितियों में सुधार लाने की मध्यवर्गा की उत्कण्ठा के पीछे निज स्थिति सुधारने का स्वार्थ भी प्रायः निहित होता है। प्रायः सभी सामाजिक, सांस्कृतिक, राजनैतिक और सुधारवादी संस्थाओं के प्रमुख प्रवर्तक सत्तामोही एवं स्वार्थी मध्यवर्गीय व्यक्ति होते हैं। मध्यवर्ग अपने आविर्भाव के समय से व्यक्तिवादी सिद्धांतों का समर्थक रहा है और किसी भी क्षेत्र में वह तानाशाही प्रवृत्तियों तथा एकाधिकार को बर्दाशत नहीं करेगा।

आत्म सम्मान की भावना अहंबोध आदि भी मध्यवर्गीय मनोविज्ञान की विशेषताएँ हैं। हीनता ग्रन्थी से पीढित होने से मध्यव्रग प्रायः कटु आलोचक, अंतर्मुखी, निराशा और निर्दय रहता है। मध्यवर्गीय व्यक्ति साधारण तथा अधिक व्यावहारितक और समझौतावादी होता है। वह मेहनती, आशावादी तथा साहसी भी है। परन्तु फलेच्छा से वह बेहद उत्कण्ठित है और इस लिए जल्दी ही मोह भंग और निराशा का शिकार हो जाता है। मध्यवर्गीय व्यक्ति का मन सदैव संघर्ष पूर्ण और अशांत है यह भावना को भी आधुनिक नाटककार अपने नाटकीय विषय बनाये हैं।

पचास के बाद के नाटकों में मध्यवर्गीय पारिवारिक जीवन और संत्रास का चित्रण विभिन्न विधाओं में हुआ है। जब परिवार में परिवर्तन आता है तब उससे राजनीतिक, सामाजिक, आर्थिक और सांस्कृतिक स्थितियों में भी परिवर्तन पाया जाता

है। उसकी अनुरूप व्यक्ति के रहन सहन, समाजिक व्यवहार और पारिवारिक उत्तरदायित्व में भी परिवर्तन होता रहता है, फलतः मध्यवर्गीय जीवन मूल्यों में भी परिवर्तन होता रहता है।

वर्तमान अर्थ व्यवस्था की असमानताएँ जन जीवन को पूरी तरह से अपने कब्जे में ले ली है। अधिक से अधिक सुख सुविधाओं को प्राप्त करने की इच्छा एक विषमता को जन्म दे चुकी है। आज अक अमीर निरंतर अमीर हो रहा है और गरीब निरंतर गरीब। इस चक्की में सबसे ज्यादा मध्यवर्ग पिस रहा है। अनेक नाटक भ्रष्टाचार, बेरोजगारी, महंगाई, मूल्यहीनता,गरीबीऔर व्यवस्थागत विसंगतियों पर दृष्टि रखकर लिखे गये हैं। पचास के बाद के नाटकों में भारतीय परिवार का हर पहलू संबंधों के अभाव में मूल्यहीन जीवन का दस्तावेज है। यहाँ लवकुमार लवलीन की दृष्टि सही लगती है - ***"हिन्दी नाटकों में विशेषकर साठोत्तर हिन्दी नाटकों में मूल्य निरूपण की प्रवृत्तिप्रधान रही है। अनेक नये नाटककारों ने अपने अपने ढ़ंग से समाज को देखा, राजनीतिक भ्रष्टता को अनुभव किया, व्यक्ति के अंतर्मन में प्रवेश कर उसकी मानसिकता एवं वैचारिक क्षमता को परखा तथा उसे अपनी कुशल भाषा शैली और व्यापक संदर्भ के साथ हूबहू अपने नाटक में अंकित किया। इन नाटककारों की नजरों से जीवन का कोई भी पक्ष अछूता नहीं रहा। साठोत्तर हिन्दी नाटकों की यह महत्वपूर्ण उपलब्धि मानी जाएगी कि एक साथ कई नाटककारों ने अपनी नाट्य रचनाओं द्वारा जीवन मूल्यों के विभिन्न आयामओं को अभिव्यक्ति दी और दर्शक / पाठक की अपनी मूल्यहीनता का एहसास कराया।"***[50]

मोहन राकेश द्वारा लिखा गया 'आधे-अधूरे' मध्यवर्गीय परिवार के सामान्य चरित्र है। इसमें सभी पात्र महत्वकांक्षी, अतृप्त,असंतुष्ट, आक्रोश, अभिशप्त तथा अजनबी जान पडते हैं। स्त्री, पुरुष, लडका, बडी लडकी, छोटी लडकी सभी पात्र तनावऔर अंतर्द्वन्द्व सहित है। इस नाटक के केवल केन्द्र स्त्री-पुरुष ही नहीं सारे मध्यवर्गीय परिवार के प्रतीक मालूम पडते हैं। पारिवारिक विघटना की गाथा को मोहन राकेश बडी सशक्त दिखाने का प्रयत्न करते हैं -

"पुरुष एक : ....जब-जब किसी नये आदमी का आना जाना शुरू होता है यहाँ, मैं हमेशा शुक्र मनाता हूँ। पहले जगमोहन आया करता था। फिर मनोज आने लगा था......!

स्त्री : (स्थिर दृष्टि से उसे देखती) और क्या क्या बात रह गई है कहने को बाकी? वह भी कह डालो जल्दी से।

पुरुष एक : क्यों ...जगमोहन का नाम मेरी जबान पर आया नहीं कि तुम्हारे हवास गुम होने शुरू हो गए।

स्त्री : (गहरी वितृष्णा के साथ) जितने नाशुक्रे आदमी तुम हो, उससे तो मन करता है कि आज ही मैं.......।"[51]

आधुनिक परिवार में स्त्री पुरुष के संबंध बहुत सामान्य हो गये हैं लेकिन इस 'आधे अधूरे' में पुरुष की बेकारी के कारण यह परिवार विशिष्ट जैसा लगता है। व्यक्तिगत त्रासदी से महेन्द्र नाथ बहुत परेशान रहता है। इनकी स्थिति पर पारिवारिक तृष्णा और मानसिक संझौता का प्रभाव दिखाई देता है। इनके ही शब्दों में - ***"जहाँ इस समय मैं खडा हूँ, वहाँ मेरी जगह आप भी हो सकते थे-दो टकराने वाले व्यक्ति होने के नाते आपमें और मुझमें, बहुत बडी समानता है। यही समानता आपमें और उसमें, उसमें और उस दूसरे में, उस दूसरे में और मुझ में..... बहरहाल इस गणित की पहेली में कुछ नहीं रखा है। बात इतनी ही है कि विभाजित हो कर मैं किसी-न-किसी अंश में आपस में हर-एक व्यक्ति हूँ और यहीं कारण है कि नाटक के बाहर हो या अंदर, मेरी कोई भी एक निश्चित भूमिका नहीं है।"***[52]

आधे आधूरे में मध्यवर्गीय पुरुष ही नहीं स्त्री की भी सही चित्रण राकेश द्वारा हुआ है। सावित्री को कितने समय तलाश करने पर भी 'पूरा आदमी' नहीं मिलता है। सबके सब अलग अलग और सबमें अधूरेपन का महसूस होता है। लेकिन सबको एक ही सावित्री एक ही नजर से देखती है और उनकी ही शब्दों में - ***"बस ! सब-के-सब.....सब-के-सब.......एक-से ! बिल्कुल एक-से हैं आप लोग ! अलग-अलग मुखौटे, पर चेहरा?.....चेहरा सब का एक ही !"***[53]

पचास के बाद नाटककारों ने अपनी अपनी नजर से समाज को देखा, राजनीतिक भ्रष्टाचार को अनुभव किया, मध्यवर्गीय संत्रास की सामना करना पडा, सामाजिक अंधेरा को भोगना पडा। मध्यवर्गीय जीवन में अनेक मुसीबतों को झेलना पडता है। आखिर पानी के लिए भी मध्यवर्ग को तडपना पड रहा है। सुशील कुमार सिंह अपने नाटक 'सिंहासन खाली है' में सही लिखते हैं कि -

"क्या मुशीबत है। राशन नहीं मिलेगा, बिजली नहीं मिलेगी, पानी नहीं मिलेगा, इंदन नहीं मिलेगा........ यह नीं मिलोगा.......वह नहीं मिलेगा... ....अच्छी

आजादी मिली है.....गुलामों से भी बदतर हो गये.......

सब कुछ अपना और अपना कहने लायक कुछ भी नहीं।"[54]

मध्यवर्गीय युवक शिक्षा प्राप्त करने के बाद अपने मुखौटे बदल रहे हैं। शिक्षा के क्षेत्र में व्याप्त भ्रष्टाचार अनेकता नाटक की वस्तु का आधार बन गया है। 'रागदरबारी' उपन्यास को गिरीश रस्तोगी द्वारा पूरांतरित किया गया नाटक में इस विषय पर चर्चा की गयी है। मध्यवर्गीय युवक की अनुभूतियों और बहु आयामी वैविध्यपूर्ण स्थितियों का वर्णन पचास के बाद के नाटकों में ज्यादातर मिलता है। युवा पीढी के अस्वीकार, पलायन, आक्रोष तथा द्वन्द्व आदि लक्षण नीचे वक्तव्य से साबित होते है -

"जो भी क ख ग घ पढ लेता है, उर्दू भूँकने लगता है। कल्ले

में जब बूता नहीं, तभी इन्सानियत के लिए जी हुडकता है।

देखो आजकल के लडकों को। दोपहारी भर जुआ खेलते हैं।

और हारने पर इन्सानियत का दावा करते हैं।"[55]

2.4.1 नये मूल्यों की तलाश

मध्यवर्गीय जीवन में मूल्य महत्वपूर्ण है। पचास के बाद के नाटकों में पारिवारिक मूल्यों को एक नयी दृष्टि से देखने और दिखाने का प्रयास किया गया है। आर्थिक विषमताओं का कारण लोगों के पास धन और धनार्जन के मार्ग में रुकावट आना है। इसको केवल आर्थिक ही नहीं राजनीतिक नजर से भी देखना पडता है - ***"स्वातंत्र्योत्तर भारत में सामाजिक मूल्यों में हुई गिरावट और आर्थिक विषमता के कारण तीसरी दुनिया के लोगों को विशेष रूप से मूल्य संक्रमण की दौर से गुजरना पडा। उनेके जीवन में टूटते सामाजिक, पारिवारिक और राजनीतिक मूल्य उन्हें उस स्थिति तक पहुँचने नहीं देते, जहाँ पहुँचकर वे अपनी क्षुद्र मानसिकता के दायरे से निकल कर बृहत्तर जीवन मूल्यों के बारे में सोच सकें तथा समाज-परिवार और देश की मूल्य व्यवस्था पर कुछ विचार कर सकें।"[56]***

पचास के बाद के नाटककार अपनी नाटकों के माध्यम से जीवन मूल्यों को देखने की कोशिश करते हैं। मध्यवर्गीय नजरिये से समस्या को देखना बहुत मुश्किल है, क्योंकि मध्यवर्ग का दृष्टिकोण निरंतर परिवर्तनशील है। उस परिवर्तन में विद्रोह का भी स्वर मिलता है। द्रौपदी नाटक में अंजना इस विद्रोही मूल्य को प्रस्फुटित

करती है -

"....... सबको कुछ न कुछ चाहिए। एक चीज मिल गयी है, तो दूसरी चाहिए। दूसरे मिल गयी, तो तीसरी चाहिए, तीसरी भी मिल गयी तो, पहले से बेहतर चाहिए। पहले से बेहतर मिल गयी, तो उससे भी बहतर चाहिए। उससे भी बेहतर मिल गयी, तो फिर सबसे बेहतर चाहिए। इस रफतार का कहीं खत्म नहीं, इस पागलपन से कभी छुटकारा नहीं- (रूँधे स्वर में) पर अब मुझसे वर्दाश नहीं होता - बिना किसी सहरे से यह लंबी लडाई, चौबीस घंटों का यह नसों का तनाव, दिन रात की दौड की यह आपाधापी।"[57]

सर्वेश्वर दयाल सक्सेना द्वारा लिखित 'बकरी' में नाटककार ने राजनीतिक भ्रष्टाचार, निम्न और मध्यवर्ग की यातनाओं का सही संप्रेषण मिलता है। इस देश सब को लूटने के लिए केवल गरीब व्यक्ति ही बहुत सस्ते में मिलते हैं। भारतीय सुरक्षा कानून के अंतर्गत ही यहाँ लूटनेवाले सब कुछ करते हैं। जिस अन्याय और अत्याचार केलिए जवाबदार रहना है वह राजनेता वर्ग चुप चाप खडे रहकर सामान्य की उम्मीद रहित जीवन को देख रही हैं। गाँव में रहनेवाले भारतीय मध्यवर्ग के किस प्रकार लूट रहे हैं एक नये कथ्य के साथ सक्सेना अपनी नाटक बकरी में बताते है -

"सत्यवीर : गरीबी (हँसता है) इस बकरी में तुझे नहीं बताया कि गरीबी केवल मन की होती है, गरीबी केवल विचारों की होती है दृष्टि की होती है। जानती है औरत, गाँधी जी केवल छः पैसे में गुजर करते थे।

औरत : हम नहीं जानत हुजूर।

कर्मवीर : क्यों नहीं जानती? यदि यह नहीं जानती तो आजाद देश में रहने का हक तुझे क्या है?"[58]

पचासोत्तर नाटक उस हर निराश आदमी का चित्रण करता है जिसके सपने और यथार्थ जीवन संकट के तालाब में तैरता हुआ नित्य कुण्ठाओं से जी रहा है। इस व्यवस्था में सही रूप से कमाई भी नहीं है। अर्थ व्यवस्था में रुपयें का मूल्य निरंतर घटता जा रहा है। हर परिवार को सुबह से पहले भूख जगाती है रात भर भूख रोती रहती है। मध्यवर्ग अगर व्यापार करने से भी फायदा नहीं मिलता है। भीष्म साहनी 'कबिरा खडा बाजारा में' नाटक में मध्यवर्गीय जीवन को स्पष्ट कराने का प्रयत्न

करते हैं। दुलाहों की बस्ती में उनके जीवन और तनाव की सही संप्रेषण नीचे द्रष्टव्य है -

"नूरा : बहुत जल्दी बहुरे बाजार से।

जुलाहा : सभी दुकानदार कहते है अभी पहला ही माल नहीं बिका तो और माल लेकर क्या करेंगे।

नूरा : कुछ कमाई तो कर लाये होंगे?

जुलाहा : एक फूटी कौडी नहीं मिली, इसरार करों तो कहते हैं, तम्हारा माल धरा है उठाकर ले जाओं, हमें नहीं बेचना है। ऐसी मन्दी आयी है कुछ पूछो नहीं, बाजार में उल्लू बोल रहे हैं।"[59]

इस नियंत्रित आर्थिक स्थिति से सामान्य को निरन्तर धन पर ही दृष्टि लगी रहती है। पचास के बाद के नाटकों में मधय्वर्गीय से निम्नवर्गीय स्तर पर आए हुए शहरी या सही कहें तो मध्यवर्गीय परिवार की कडुवाहट भरा चित्रण हुआ है। धन लिप्सा के कारण किस तरह पारिवारिक संबंधों में दरार पड रहीं है। किन कारणों से सामाजिक स्तर पर लोग क्षुब्द हो रहे है आदि विषयों को लक्ष्य करके नाग बोड्स 'वसीयत' नाटक लिखते हैं। कमाई की नजर से आज किस प्रकार मानवीय संबंधओं गुजर रहे है इस नाटक में अभिव्यक्ति देने का प्रयास हुआ है -

"रत्नमाला - ......बात है, सारा मन धंधे में लगने की। कमाई, बस कमाई। इसके पीछे न खुद को चैन, न दूसरों को!.......मेरे दोनों बेटे पढाई में होशियार। हमेशा अव्वल रहे ! पर इनके लिए (नकल उतारकर) एक भाई पढाई के चक्कर में गवाँ दिया, बेटों को नहीं गावाँऊँगा।"[60]

मानव जीवन परिवर्तनशील है। प्रकृति के अनुसार उस जीवन के स्वभाव संस्कार आचार में भी परिवर्तन होते रहते है। सही आर्थिक संबंध ही मनुष्य को सही रास्ते में चलने के लिए उत्सुक करती है। लेकिन मध्यवर्गीय परिवार में इस आर्थिक संबंधों बिखर गए है। जब आर्थिक संबंधों में दूरी आती है तब उसका प्रभाव राजनीतिक और सास्कृतिक पहलुओं को नहीं छोडती। पारिवारिक मान मर्यादाएँ और

भाव संबंध क्षीण होकर मध्य और निम्नवर्ग मूल्यहीन जीवन जी रहे हैं।

व्यापक विचारयुक्त पचासोत्तर नाटककार अपने सृजन में इस बात को नहीं भूले कि देश की आर्थिक स्थिति निराशा और कुण्ठाग्रस्त है। आर्थिक भ्रष्टाचार का भी व्यापक स्तर पर चित्रिण किया गया है। आम रूप से यह भ्रष्टाचार आज समाज में व्याप्त है। शोषितों की गरीबी मूलतः आर्थिक और सामाजिक बुनियाद पर टिकी है जुसके पीछे अप्रत्यक्ष रूप से राजनीति का हाथ है। आज जो मानवीय संबंधों में दरार और मूल्यों में परिवर्तन तथा विघटन दृष्टिगोचर होता है उसके मूल्यों में भी 'अर्थ' ने ही अपनी सकारात्मक भूमिका अदा की है। इसी भूमिका को अपने कथ्य बनाकर आधुनिक नाटककार प्रयोगधर्मिता के स्वर हमे सुनाने में ज्यादा हद तक सफल हुए है।

2.5 चरमराती राजनीति का दस्तावेज : पचासोत्तर नाटक

आधुनिक समाज में अनेक विचारधाराओं का विकास हुआ है और उनके बीच हमेशा संघर्ष की स्थिति दिखाई पडती है। इस संघर्ष का एक परिणाम यह हुआ कि समकालीन साहित्य अब राजनीति और राजनीति के संस्कारों से गहरे तौर पर जुड गया है। एक तरह से यह अच्छा ही हुआ है कि मानव जीवन और राजनीति को अब अलग करके देखने की जरूरत नहीं है। आज राजनीति से संबंध तोडकर कोई भी व्यक्ति इस समाज में रह नहीं सकता । उतना घनिष्ट संबंध राजनीति और समाज के बीच लगा हुआ है।

एक साफ सुधार और स्वस्थ व्यवस्था का आशा हर भारतीय के मन में आजादी के पहले थी, लेकिन वह साकार नहीं हो पाया। राजनीति एक शतरंग के खेल हो गई जिस में आम जनता एक मोहरे के रूप में ,राजनेताओं के हाथ की कठपुतली बनकर रह गया। जीवन मूल्यों को स्वतंत्र्योत्तर राजनिति विकृत कर दिया गया है। डॉ. श्याम शर्मा के शब्दों में - ***"स्वतंत्रता के बाद देश की राजनीति में जीवन की प्रक्रिया को विकृत, विषमता, सडांध से भर दिया है। राजनिति में शैशव का दरवाजा खटखटाती पीढी के मालिक में बदबू भर दी और व्यक्ति को जीवन मूल्यों से अलग अलग कर उसे ईर्ष्या, द्वेष, स्वार्थादि भवों में बांध दिया है। देश को आजादि तो मिली पर उसके भोग का अधिकार राजनेताओं, पूँजीपतियों और नौकरशाहों ने अपने लिए सुरक्षित कर लिया है और आम आदमी के नाम पर शोषण का दमन चक्र चलाकर मानव जीवन को खोखला कर दिया है।"***[61]

राजनीति के समानार्थ 'पालिटिक्स' शब्द का प्रयोग अंग्रेजी में करते हैं। ग्रीक शब्द 'पोलिटिया' का प्रयोग नागरिकता अथवा राज्य या सरकार के प्रशासन के अर्थ में हुआ है। 'पोलिटिया' जो लैटिन शब्द है वह भी राज्य या प्रशासन या सभ्यता के अर्थ में प्रयोग में आया है। फ्रेन्च भाषा में भी इससे मिलता-जुलता एक शब्द जिसे पोलिस (Polis) कहते है और इस का उपयोग नगर या पुरी के रूप में हुआ है। ग्रीक शब्द 'पालिटी' से पालिटिक्स शब्द बना हुआ है। पालिटी शब्द का प्रयोग किसी शासन पद्धती के अंतर्गत संघटित जन समुदाय अर्थात राजनैतिक रूप से घटित समुदाय अर्थात राज्य एवं संविदान या राज्य शासन केलिए हुआ है।

व्यक्ति में उसके पूर्ण मानव की प्रतिष्टा करना ही समाज और राज्य का उद्धेश्य है। मनुष्य में पूर्ण मानव की प्रतिष्ठा तभी हो सकती है जबकि उसके जीवन यापन की दशाओं में परिवर्तन किया जाता है। राज्या का क्षेत्र बहुत अधुक विस्तृत रहता है। राजनीति समाज की दिशा निर्धारित करती है और समाज राजनीति की। राज्य और राजनीति की मूल उद्धेश्य को विलियम बेवरिड्ज इस प्रकार व्यक्त करते हैं - ***"The object of government in peace and in war is not the glory of the common man"***[62]

प्रजातंत्र के बारे में अब्रहाम लिंकन द्वारा कहा गया वक्तव्य To the people, for the people and by the people को Two the people, far the people and buy the people बनाया गया है। प्रजातंत्र लोगों को वर्गों में विभाजित कर देता है, लोगों से दूर ले जाता और लोगो को बेचने के लिए भी हिचकता नहीं है। जिन महान उद्धेश्यों से राजनीति पनपा है वे उद्धेश्य आज नहीं है। जब देश पराधीन था तब विदेशी राजनीति एक प्रकार की थी तो आज की देशीय राजनीति एक प्रकार की है। अग्रेजों की नीति खुद की उन्नती के लिए थी और शोषण का तो अलग से उल्लेख करने की जरूरत नहीं है। क्योंकि परतंत्रता से देश शोषण का शिकार होना स्वाभाविक ही है। लेकिन आजाद भारत की आज भी वही स्थिति रही जो पहले थी, कोई ज्यादा सुधार नहीं आया। स्वदेशी नीति में ही जनता परतंत्रता को महसूस कर रहीं है।

देश की राजनीति इतनी कलुषित बन गयी है कि हर रोज एक नये राजनीतिक पार्टी जन्म लेती है। अनेक नेता सत्ता पर चढ रहे हैं और उतर रहे हैं लेकिन गरीब जनता के बारे में सोचने का समय किसी के पास नहीं है। नेताओं की नजर सिर्फ कुर्सी पर ही टिकी रहती है जनताओं के बारे में सोचना उनकी बस की बात नहीं है। सब अपने अपने स्वार्थ साधना में मग्न है। समाज में हर क्षेत्र में भ्रष्टाचार फैली हुई है जिसके पीछे नेताओं का हाथ है। नेता की कुर्सी पर उसके बाद

या तो उसकी संतान में से कोई एक बैठता है या उसके बाई बतीजे बैठते हैं। अनेक घोटालाओं के पीछे नेताओं का हाथ है, पर कोई पकड नहीं जाता है। कानून के नियम ही ऐसे नेताओं को कुछ नहीं कर पा रहे हैं। कोई नेता यदि पकडा भी गया तो उसको सजा मिलने में अनेक वर्ष लग जाते है। इतने में वह पैसा देकर सब गवाहों को खरीदता है और सजा से बच जाता है। आज के राजनेताओं में आधा से ज्यादा इसी प्रकार के हैं।

आज कल के नेता के लिए कोई एक निश्चित नीति और विचार धारा नहीं है। जिस पार्टी में फायदा है उस पार्टी में शामिल हो जाते हैं। ऐसे चरित्र हीन नेताओं पर आधुनिक हिन्दी नाटकों में ज्यादातर चर्चा की गयी है। राजनीति की तमाम विसंगतियों के खिलाफ समय समय पर रचनाकारों की आवाज बुलंद होती रहती है। आधुनिक नाटकों में ऐसे राजनीतिक संदर्भ खुले और स्पष्ट रूप से सामने आते हैं।

कोई भी व्यक्ति आजकल राजनीति से बचकर नहीं जा सकता है। शोषण राजनीति से जुडा हुआ है। राजनीतिक समस्याओं के कारण नाटकों की वस्तु के मूल में, अधिक से अधिक रूप में, राजनीतिक विश्लेषण किया जाता है। जीवन मूल्यों को अधिक प्रभावित करनेवाला यह क्षेत्र ही अनेक समस्याओं का कारण है। आज की राजनीति जनता की आँखों पर पट्टियाँ बाँध कर आँख मिचौली खेल रहीं है। आज सत्ता पर लोगों का विश्वास उड गया है। अपने बच्चे को भूखी शेरनी कैसे खाती है उसी तरह नेता जनता को खा रहे हैं। रक्षक ही बक्षक बन गए हैं। आज की भ्रष्ट राजनीति के हाथों में फँसे हुए जनता के आक्रोश को आधुनिक नाटककार ने अपने नाटकों में एक रूप दिए है।

2.5.1 दूसरी स्वतंत्रता का एहसास

राजनीति किसी भी राष्ट्र का एक अत्यंत महत्वपूर्ण अंग है जो उस राष्ट्र की सशक्त व्यवस्था है। हर देश की विशिष्ट राजनीति होती है जिसकी छाया में ही देश की उन्नति अवनति की नींव पडती है। हर राजनीति का अपना विधान-सम्मत व्याकरण होता है एक सीमा होती है, लेकिन जब विधिविधान के व्याकरण की अपेक्षा होती है तब उसकी सीमा का अतिक्रमण किया जाता है। जीवन का हर क्षेत्र चाहे वह सामाजिक हो या सांस्कृतिक, धार्मिक हो या आर्थिक राजनितिक से प्रभावित होता है।

भारत स्वाधीनता प्राप्त करने के बाद भारतीय संविधान का निर्माण हुआ। इस संविधान के अंतर्गत हर नागरिक को जीने का अधिकार और स्वतंत्ररूप से बोलने का अधिकार प्राप्त हुआ था। देश-वासियों को आत्मनिर्भरता प्रगतिशील और सुसंपन्न बनाने के लिए अनेक कानून बनाएँ गए। आर्थिक, सामाजिक, धार्मिक, सांस्कृतिक मत भेदों को दूर करने के लिए अनेक अधिनियम बनाये गये। इन सबकी वजह से भारतीय नागरिक को हर क्षेत्र में आत्मनिर्भर, सम्पन्न व जागृत करने के प्रयास किए गए। स्वाधीनता जनता की रही लेकिन स्वाधीन भारत में भोग का अधिकार एक विशिष्ट वर्ग ही अपने हस्तगत कर लिया और यह वर्ग राजनेता, जन-प्रतिनिधि, पूँजीपति और सामन्तों की वर्ग है।

पचास के बाद देश की राजनीति का रूप बदल गया है। जिसके पास पूँजी है उनके हाथों में सत्ता केन्द्रित है। केवल राजनीति ही नहीं हर क्षेत्र में ह्रासोन्मुखता दिखाई पडती है। आनेवाले युग को धर्मवीर भारती सही प्रकार नाम रखा है - अंधायुग। इस युग मे लोग अंधे हो गए हैं लेकिन नेता नहीं। सबका सब पतनोन्मुख की ओर दिशाहीन हो रहे हैं -

"उस भविष्य में
धर्म-अर्थ ह्रासोन्मुख होंगे
क्षय होगा धीरे धीरे सारी धरती का
सत्ता होगी उनकी
जिनकी पूँजी होगी,
जिनकी नकली चेहरे होंगे
केवल उन्हें महत्व मिलेगा
राजशक्तियाँ लोलुप होंगी
जनती उनसे पीडित होकर
गहन गुफाओं में छिप-छिपकर दिन काटेगी।"[63]

आजादी के बाद लोक तांत्रिक व्यवस्था को अपनाया तो गया लेकिन जिसको कुर्सी मिली उसने उसका दुरुपयोग ही किया। प्रजातंत्र के लिए प्रत्येक नेता अपने अर्थ देने लगे है। राजनेताओं को देश सेवा करने के लिए समय नहीं मिल रहा है। नेता समय समय पर देश में घटित होनेवाली घटनाओं को राजनैतिक रंग देकर एक दूसरे पर आरोपों की प्रमाणिकता में ही अपने समय बिता रहे हैं। उनकी दृष्टि में

प्रजातंत्र का अर्थ 'रागदरबारी' में परिवर्तित रूप में बताया गया है -

"हाँ........ प्रजातंत्र का नया अर्थ है कि चूँकि चुनाव लडनेवाले प्रायःघटिया आदमी होते हैं, इसलिए एक नये घटिया अदमी दूसरे पुराने घटिया आदमी को, जिसके घटियापन को लोगों ने पहले से ही समझ बूझ लिया है उखाडना नहीं चाहिए। प्रजातंत्र की इस नयी थ्योरी में नया आदमी कुछ करना भी चाहे तो क्या करेगा? कोई कुछ करने देगा"[64]

पचासोत्तर हिन्दी नाटककारों में मंचीय प्रस्तुती के लिए प्रधान रूप से राजनीतिक व्यंग्य नाटक लिखी गयी हैं। राजनीतिक और सामाजिक परिवेश और परिस्थितियों पर ही दृष्टि लगाकर सुशील कुमार सिंह, सर्वेश्वर दयाल सक्सेना आदि नाटककार प्रतिबद्ध होकर लिखते हैं। स्वातंत्र्य प्राप्ति के लिए अनेक प्रकार की कुर्बानियाँ दी गई है लेकिन वह स्वतंत्रता अधिक सुखदायी प्रतीत नहीं हुई। 'सिंहासन खाली है' नाटक में नेता के व्यक्तित्व का सही रूप हमें दिखाने का प्रयत्न नाटककार करते हैं। नेता लोग अक्सर ये कहते है कि मैं आपका सेवक हूँ, मैं तो आपके बीच का आदमी हूँ। लेकिन वह सब सत्यदूर है। लोगों को फसाने के लिए वे इस प्रकार कहते हैं - ***"देश की पीडित और शोषित जनता ! गरीबी, भुखमारी और बेरोजगारी से कराहते हुए देशवासियों ! यह तुच्छ सेवक ह-दय से आप सबका आभारी है। इतने बडे दयित्व का भार मेरे कन्धों पर रखकर आपने मुझे अपने अपूर्व स्नेह, श्रद्धा और सम्मान के बोझ से दबा दिया है। मैं अपको विश्वास दिलाता हूँ कि आपकी उन्नती और तरक्की के लिए मैं नये नये कल-कारखानों का उद्घाटन करूँगा। भारी लागतों के बडे-बडे बांधों का शिलान्यास करूँगा।.......विदेशों से भारी सहायता प्राप्त करूँगा.......धरती पर स्वर्ग उतार दूँगा...।"***[65]

और एक जगह वहीं नेता अपनी ही मुँह से कहता है कि -

"राजा बनाया नहीं जाता। राजा अपनी शक्ति और सामर्थ्य
से बनता है। राजा को सिंहासन दिया नहीं जाता, राजा
उसे अपने बाहुबल और बुद्धि-कौशल से प्राप्त करता है।"[66]

देश की भ्रष्ट राजनीतिक व्यवस्था के कारण सामाजिक स्थिति का अस्तित्व संकट में पडा। आधुनिक नाटकों में राजनीति का चित्रण, नेताओं की स्वार्थन्धता और उनकी दुधारी नीतियों का चित्रण होने लगा। अनके नाटककारों ने अपनी नाट्य रचनाओं में इस भ्रष्टाचार का चित्रण किया और राजनितिक व्यंग्य नाटकों की

परंपराओं को सबल बनाया। इनको देखकर लोग खूब उत्तेजित हुए और उसके द्वारा नाटक की नींव और ज्यादा मजबूत बनायी गयी।

राजनैतिक भ्रष्टाचार के व्यापक प्रभाव के कारण से आम जनता किसी न किसी रूप में शिखरी बन रहे हैं। स्वतंत्रता के बाद भारतीय जन जीवन इससे कितने अंशों में प्रभावित हुआ इसका ठिकाना ही नहीं है। नेता देशभक्ति के मुखौटा पहनकर लोगों को लूटने लगे है। नेता को कोई नैतिक सिद्धांत ही नहीं है। अधिकाधिक रूप में धन संचय उनकी प्रवृत्ति बन गयी है,विदेशी बैंकों में खाते राजनैतिक संपन्नता के मानदंड हो गये हैं। 'सिंहासन खाली है' नाटक में सिंहासन को नाटककार ने प्रतीक के रूप में उपस्थिति करते हैं। जिस पर बैठकर हमारे नेता असत्य, हिंसा और अन्याय आदि अमानवीय स्थितियों की प्रतिष्ठा करते हैं। जहाँ भी सत्ता के विरुद्ध कोई आवाज उठाने से उसे दबाने तक सत्ता नींद भी नहीं लेती। 'सिंहासन खाली है' नाटक में एक महिला इस लुटेरा राजनीति को इस प्रकार सम्बोधित करती है -

"किस किस का मुँह बंद करोगी तुम? सभी कह रहे है, राजा, राजा बनते ही लुटेरा हो गया....डाकू हो गया। हमने एक लुटेरे को राजा बनाया.....एक डाकू को सिंहासन दिया, ताकि वह हमारा सब कुछ छीनकर.......हमें बेघरबार कर दे? हमारी इज्जत-आबरू लूटकर हमें नदी में फिंकवा दे?..........कब मिलेगा छुटकारा इस पापी से......इस अत्याचारी, दुराचारी से? हे भगवान हमने इसे राजा क्यों बनवाया......क्यों बनवाया ?"[67]

नेताओं को दृष्टि में रखकर सर्वेस्वर दयाल सक्सेना ने 'बकरी' नाटक लिखा है। यह एक प्रयोगधर्मी राजनैतिक व्यंग्य नाटक है, जो तत्कालीन भ्रष्ट राजनीति के स्वार्थी एवं हास्यास्पद चरित्र को प्रतिबिंबित करता है। यह सिर्फ राजनीतिक व्यग्य नाटक ही नहीं है बल्कि स्वतंत्र्योत्तर भारतीय राजनीति की गिरती हुई नैतिकता, मूल्यहीनता दिशाहीनता, स्वार्थ और सांप्रदायिक दंगों का चित्र है। इस देश की सही रेखा चित्र हमारे सामने इस प्रकार नाटककार रखते हैं -

"धर्म, ईश्वर, भाग्य सबकी ऊँगलियों से घूमता
आदमी मिट्टी का लोदा चाक पर है झूमता।

नेकी, सच्चाई, शराफत घर के सब कुछ ताक पर
थोडे नकरे भी यहाँ इतरा रहे हैं नाक पर।
एक नारा ढलता है हर नयी बरबादी के बाद
आसरम ही आसरम खुल गये आजादी के बाद।
............सेवा यहाँ पर स्वार्थ है
औ स्वार्थ ही परमार्थ है
कोई किसी से है न कम
है देश के फटे करम।"[68]

गाँधी जी भारतीय राजनीति की एक सशक्ति रूप है। गाँधी का मतलब एक व्यक्ति नहीं अहिंसा, सत्य का प्रतीक माना जाता है। भ्रष्ट राजनीतिज्ञ उसके नाम का किस प्रकार दुरुपयोग कर रहे हैं और गाँधी जी द्वारा समाज में व्याप्त होकर राज करनेवाले विषयों को अपने स्वार्थ के लिए इस्तेमाल कर रहे हैं आदि विषयों को स्पष्ट करते हुए इस नाटक में सर्वेश्वर दयाल सक्सेना व्यंग्य पूर्वक रेखांकित करते हैं। जो मूल्य उन महान नेताओं द्वारा स्थापित किया गया है उनका रूप बकरी बनाकर परवर्ती नेता लोगों से विश्वासघात कर रहे हैं। 'बकरी' नाटक द्वारा यही स्पष्ट किया जाता है -

"हर ऐश करा जायेगी यह गाँधी जी की बकरी
हर खाता भरा जायेगी यह गाँधी जी की बकरी
हर सच्च को हरा जाएगी यह गाँधी जी की बकरी
वैतरणी तरह जाएगी यह गाँधी जी की बकरी"[69]

आज कल के नेता के लिए कोई निश्चित नीति और विचारधारा नहीं है। जिस पार्टी में फाइदा है उस पार्टी में शामिल हो जाते हैं। केवल वोट की नजरिये से लोंगों को देखने की संस्कृति बढ गयी है। सरकार की नीतियाँ भी इसी वोट बैंक को नजर में रखकर बनती है। इस राजनिति समाज को वर्गों, क्षेत्रों और भावों में विभाजित करके परस्पर उनके बीच युद्ध का वातावरण खडा कर दिया गया है। इस बकरी नाटक में युवक कहता है - ***"...... वोट, चुनाव सब मजाक हो गया है सब झूठ पर चल रहा है। गरीबों की बकरी पकड कर उनसे पहले पैसा दुहा। अब वोट दुह रहे हैं, फिर पद और कुर्सी दुहेंगे।"***[70]

'बकरी' नाटक के माध्यम से नाटककार राजनीतिक मूल्यों को एक नयी दृष्टि से देखा है। पशु-प्रतीक के माध्यम से मूल्यहीनता, जनता की शोषण दिखाने का प्रयास नाटककार ने की है। स्वार्थी नेताओं के इशारे पर राजनीति अपने ही आदर्शों को खोती चली रही। नेता पहले अपने आर्थिक लाभ देखकर बाद में राजनैतिक उन्नति के लिए बकरी को एक नींव के रूप में इस्तेमाल करते हैं बाद में उसकी हत्या भी कर देते हैं। असल में यहाँ बकरी जनती ही है -

"कबरी हमको बना दिया
बकरी की में-में ने।
सब कुछ सहना सिखला दिया
बकरी की में - में ने।
छोटी से छोटी रस्सी से भी
हर खूँटे के साथ
बंधकर रहना सिखला दिया
बकरी की में-में ने।"[71]

अच्छे कथ्य और प्रयोग के साथ साथ अंत में इस दुष्ट राजनीति को बदलने की उम्मीद भी सर्वेश्वर रखते हैं -

"बहुत हो चुका अब हमारी है बारी,
बदलके रहेगें ये दुनिया तुम्हारी।"[72]

कथ्यगत नवीनता के साथ असगर वजाहत 'इन्ना की आवाज' में सत्ताकी क्रूरता का परिचय कराते हैं। सत्ता को यदी कोई नजरन्दाज करके आगे बढना चाहता है तो उसे गिरा देती है। इस विषय को कथ्य के रूप में लेकर अजगर वजाहत ने इस नाटक लिखा है। एक महल निर्माण करते समय दरवाजे पर सुल्तान के नाम लिखने से वह अपने आप मिटकर वहाँ इन्ना नामक एक गुलाम का नाम प्रत्यक्ष हो जाता है। इससे सुल्तान क्रुद्ध होकर उस इन्ना के नाम को बरबाद करने के लिए षडयंत्र रचता है। उसके अनुसार इन्ना को वजीर बनाया जाता है। हुकूमत में इन्ना के कार्यों के वजह से महल के दरवाजों से उनका नाम अपने आप मिट जाता है। इस पर सुल्तान कहता है -

"हमने अपनी हर ख्वाहिश तो पूरा किया है। ये अजीब बात है कि ख्वाहिशें एक तरीके से पूरी नहीं होतीं। तरह-तरह की ख्वाहिशों को पूरा करने का अलग-अलग

तरीकें हैं। कभी-कभी कुछ लोगों का कत्लकर
दिया जाये तो वे हमेशा जिंदा रहते हैं लेकिन अगर
उन्हें लंबी जिन्दगी गुजारने का मौका दे दिया जाये तो
अपने आप मर जाते हैं।"[73]

भीष्म साहनी एक कलाकार 'हानुश' की त्रासदी को जीवंत सत्य के रूप में हमारे सामने लाते हैं। एक सृजनशील कलाकार कभी भी शासन से समझौता नहीं करता है। हानुश भी शासन से समझौता नहीं करता है। फलतः उसे अपने सुख सुविधा ही सहीं अपनी आँखों को भी खोना पडता है। राजनीति किस प्रकार व्यक्ति को भीषण दण्ड देती है और किस तरह उनके मूल चेतना से दूर भगाती है इस नाटक में वर्णन किया गया है। दूसरे घडी बनाने के लिए हानुश को इजाजत नहीं मिलता है और उनकी आँखे भी निकालने के लिए आदेश दिया जाता है क्योंकि आँखे नहीं होगी तो और घडियाँ नहीं बना सकेगा -

"हमने हर पहलू पर भी गौर किया है, पहले हमने
सोचा इसके हाथ कटवा दें, लेकिन आँखे मौजूद
हो तो हाथों के बिना भी घडी बन सकती है। पर आँखे
निकल जाने से घडी बनाना मुशकिल होगा।"[74]

आज के समाज में राजनीति नेता के हाथ में खिलौना बन गयी, वह जैसा चाहे वैसा उससे खेल सकता है। 'दलित' नाटक में नाग वोड्स राजनीति की असली अर्थ बताते हैं। इस नाटक में दलित कल्लाराम मारा जाता है। उस मौत के द्वारा राम चरण अपना बल बढ़ाना चाहता है। आजकल के नेता किस प्रकार जनता को वर्गों व जातियों में बाँट रहें हैं और अपने स्थान को स्थिर करने के लिए प्रयत्न कर रहें हैं आदि विषय नीचे वक्तव्य देखने से हमें मालूस पड़ते है -

"टंडन : यह राजनीति है, राम जी ! इसमें प्रदर्शित और मनोगत में
भेद करना अनिवार्य है !....आप देखते रहो, समय आने पर
यह मत्यार्पण लॉटरी बनेगा।

रामचरन : सो पूरा भरोसा है आपकी समझ पर .....हमें भी हो
आना चाहिए, तब तो कल्ला को सिरिद्धांजली देने ?

टंडन : कदापि नहीं ! आपके विरुद्ध वहाँ उत्तेजना है;किन्तु आपको
मौन भी रहना नहीं चाहिए। पत्र द्वारा सांत्वना दर्शाइए।

हाँ, उसमें यह लिखना न भूलें की आपके शत्रु षडयंत्रपूर्वक आपका नाम जघन्य अपराध से जोड़ रहें हैं, जबकि स्वर्गीय कल्लाराम जी आपके पितातुल्य थे। यह पात्र समाचार पत्रों में भी दीजिए।"[75]

राजनीतिक प्रवृत्ति को जेखने पर यह लगता है कि पचासोत्तर नाटकों में देश की राजनीतिक एवं सामाजिक दिशाहीनता, मूल्यहीनता, पतनशीलता मूल प्रतिपाद्य विषय रहा है। जनता की आवाज सही रूप में सुनाई गयी है। नेता और शोषक का निजी रूप दर्शाया गया है। साधारण रूप में पचासोत्तर राजनीतिक नाटक व्यंग्य और प्रतीकात्मक रहा है। जिस उद्धेश्य को लेकर 'बकरी', 'सिंहासन खाली है' नाटक लिखे गये है उसमें नाटककार सफल हुए हैं।

राजनीति की अस्तित्व में जनता का अस्तित्व है।नेता का प्रधान कर्तव्य प्रजा के रक्षा करे और उसका समुचित पोषण करे। आज नेता के कर्तव्य अब सीमित हो गये हैं और अब निरीह जनता को परेशान करने की प्रवृत्ति प्रधान बन गई है। इस संदर्भ में नेता के स्वभाव के बारे में लवकुमार लवलीन लिखते हैं - ***"शासक बदल जाते हैं, शासन करने की प्रणालियाँ बदल जाती है परन्तु किसी भी शासक की मनोवृत्ति नहीं बदलती। सत्ता के आकर्षण के कारण नेता जनता को झूठे आसवासन देते हैं और सिंहासन पर बैठते ही सारे आश्वासनों और वायदों को भूलकर उनकी रक्षा, पोषण एवं दुख दर्द को बांटने की बजाय उनका शोषण करने लगते हैं।"[76]***

कानून और व्यवस्था की हालत दिनों दिन बिगडती जा रही है। कमजोरों और दलितों पर अत्याचार हो रहे हैं। नेता,मंत्री.सेठ और पुलिस की अपराधियों के साथा सांठ-गांठ बढ गए हैं। यह हमारी देश की राजनीति की स्थिति है। अंधेरे में ले जाकर बिठाया गया डेमोक्रसी को आत्मिक शक्ति से उस अंधकार को चीरने में पचासोत्तर नाटककार कुछ हद तक सफल हो गये हैं। यही पचासोत्तर नाटक का उद्धेशय और संदेश है।

2.6 मनुष्य के संचालन की व्यवस्था : काम

काम एक जीवंत विधायनी है जिससे समस्थ संसार का प्राणी जगत अनुप्राणित है। मनुष्य की घोषणाएँ काम के द्वारा ही संचालित होती है। काम ही जीवन के सौंदर्य और माधुर्य का उत्स है। काम मानव जाति की ही नहीं समस्त संसार के प्राणी

जगत की आदिम प्रवृत्ति है। सृष्टि के निर्माण एवं विकास का मूलाधार तथा प्रकृति की सृजन कारिणी शक्ति है। भारतीय वाङ्मय में अर्थ एवं प्रयोग की दृष्टि से काम अत्यंत महत्वपूर्ण तत्व है। वेद, उपनिषद.पुराण तंत्र, बाह्मण ग्रंथों, महाभारत, श्रीमद्भागवत, गीता आदि भारत के मुख्य एवं महत्वपूर्ण ग्रंथों में काम के उदात्त एवं पवित्र रूप को श्रेयस्कर माना गया है।

काम भावना मनोवैज्ञानिक दृष्टि से आत्मिक प्रवृत्ति है। ***"मानस प्रक्रिया मानसिक व्यापार अथवा रागात्मिका वृत्ति का दूसरा नाम ही 'काम' है।"***[77] यह रागात्मिक वृत्ति प्रत्येक प्राणी के भीतर प्रकृत रूप में अवश्य विद्यमान रहती है। मनुष्य के भीतर जैसे श्रद्धा, मेधा, क्षुधा, भय, चिन्ता, निद्रा आदि अनेक वृत्तियों का निवास है उसी प्रकार काम प्रवृत्ति का भी घर है। काम भी पेट की भूक के समान ही शारीरिक भूख है। मानव जीवन में यह प्रवृत्ति जड़, अचल न होकर एकदम सचल एवं जीवंत है। इसीलिए कहा गया है प्रेम ही काम का जो विस्तृत रूप है, मानव की अपरिहार्य आवश्यकता है।

काम शक्ति ही स्त्री - पुरुष को एकत्व में आबद्ध कर परिवार की नींव डालती है तथा दोनों में आत्मविश्वास उत्पन्न करती है। यही सांस्कृतिक विकास को संभव बनाती है। इस संदर्भ में Erich fromn इसकी चर्चा 'The art of loving' नामक ग्रंथ में की है। - ***"यह काम उक्ति एक ऐसी महत्वपूर्ण ऊर्जा है जो मनुष्य को समस्त मानवीय वृत्तियों से बंधन युक्त कर उसे व्यक्ति से ही नहीं समाज एवं विश्व से जोडने की क्षमता रखती है।"***[78]

काम मूलतः संस्कृत भाषा का शब्द है। वेद एवं उपनिषधों में जहाँ कहीं 'काम' की चर्चा का आभास मिलता है वह सामान्य इच्छा के ही अर्थ में है। हिन्दी कोश के अनुसार 'काम' का अर्थ इच्छा,चाह, या कामना है। काम शास्त्र में इसका तात्पर्य उस तीर्व इच्छा से है- ***"जो स्त्री पुरुष के संभोग से प्राप्त होनेवाले सुखानुभव के लिए प्रयुक्त होता है। इसलिए यह शब्द स्त्री - पुरुष की संभोगेच्छा का अर्थ रखता है।"***[79] अंग्रेजी साहित्य में काम को cupid कहा गया है जहाँ काम वासना का प्रतीक है। प्रसिद्ध वैज्ञानिक फ्रायड ने काम को लिबिडो (Libido) की संज्ञा से अभिहित करते हुए उसका व्यापक रूप में चित्रण किया और 'लिबिडों' को ही समस्त मानवीय वृत्तियों का मूल स्त्रोत माना है।

वस्तुतः काम शब्द का प्रयोग दो अर्थों में हो सकता है। प्रतम संकुचित अर्थ में जिसका अनुसार 'काम' केवल इन्द्रिय सुख, यौन प्रवृत्तियों की संतुष्टि मात्र है। द्वितीय अर्थ प्रथम की अपेक्षा अधिक विस्तृत है जिसके अनुसार काम का स्वच्छन्द रूप प्रेमपूर्ण काम क्रिया है। इसके अनुसार काम संबंध के अंतर्गत समस्त मानवीय प्रवृत्तियों इच्छाओं तथा कामनाओं का अर्थ ग्रहण करना कामं के बृहद रूप को संकुचित कर देना होता है।

मनुष्य में कामेच्छा नैसर्गिक है। अतः इस भावना को नियंत्रित करने के लिए विवाह का विधान हुआ। दाम्पत्य रति, वासनात्मक अनैतिकता का विरोध करती है क्योंकि यह अनैतिकता स्वाभाविक मानवीय गुणों के विकास में बाधक होती है। प्रायः समझा जाता है कि भारत ही इस प्रकार की नैतिक पवित्रता की बात करता है। कुन्ति यहाँ द्रष्टव्य है पश्चिमी के विद्वान हैवलाक के विचार -

" Our Sexuality has disregarded naturel human emotions and is incapable of Understanding those who declare that to retain unduty tradition are opposed to that vital needs of human society is not a morality but immorality." [80]

आधुनिक युग में काम दर्शन आर्थिक विकास तथा समाज के नवनिर्माण की परिस्थितियों में ही पनपा है। आदिकाल से ही प्रत्येक युद्ध के पश्चात् स्त्री पुरुष संबंधी कलेवर अवश्य बदलता आया है। हमेशा से ही इन संबंधों को एक ओर व्यवस्था की वासना ने ढंकना चाहा तो दूसरी ओर विगत युगों के नैतिक मूल्यों ने बांधना चाहा है। गार्हस्थ्य जीवन स्वच्छन्द वासना तथा यैन-उच्छृखलताओं से हिल जाता है क्योंकि आज उत्पादन और सुरक्षा के कार्यों से संलग्न स्त्रियाँ, कार्यालयों में तथा शिक्षा संस्थाओं में घूमती फिरती आधुनिक वनिताएँ वैवाहिक जीवन के लिए एक चुनौती बन जाती है। इस प्रकार आधुनिक युग में नारी स्वतंत्रता आंदोलन के कारण काम की सारी धुरियाँ बदल गयी है।

हिन्दी साहित्य में आदि से आधुनिकतम तक की जितनी भी साहित्य विधाएँ है सभी 'कामभावना' एवं श्रृंगार रस की गंगा में डुबे हुए एवं उसीसे ओत प्रोत हैं। विशेषतः कविता में काम मुख्य रूप से संचालक बिंदु रहा है। सुरेन्द्र वर्मा ने आधुनिक हिन्दी नाटकों को काम चित्रीकरण से दृढ बनाया है। कहीं कहीं अश्लीलता के फुट भी सम्मिलित हुए है, पर यह तो युग एवं परिवेश की देन मानी जा सकती है। काम की वांछनीयता का सबसे बडा प्रमाण यह है कि काम के बिना सृजन संभव नहीं है।

2.6.1 स्त्री एवं पुरुष के संबंधों का नया मोड़

नाटक का जीवन से धनिष्ट संबंध रहता है। नाटक केवल व्यक्ति से ही नहीं उनके सांस्कृतिक जीवन और पारिवारिक तत्वों का भी दर्पण होता है। स्तातंत्र्योत्तर भारत में साहित्यक मनीषियों और नाटककारों का ध्यान आधुनिक सामाजिक एवं पारिवारिक समस्याओं के प्रति आकृष्ट हुआ। पिता-पुत्र, पति-पत्नी संबंधों में दरार आने लगी थी। पुरातन मान्यताएँ अनुपयोगी सिद्ध हो गये हैं। पुरुष नारी के संबंधों में धीरे-धीरे परिवर्तन हो रहा था। फलस्वरूप पारिवारिक इकाई खण्डित होने लगी। उसका नाटकों में चित्रण करना आवश्यक बन गया है।

भारतीय समाज और साहित्य में पति पत्नी के अत्यंत नैसर्गिक संबंध अश्लील माना गया है। लिकिन वही पति पत्नी के काम संबंधों तथा विवाहेत्तर काम संबंधों को नाटक का प्रधान विषय बनाकर मंच पर साकार कर देना बहुत बडी चुनौती और साहसिकता का काम है। स्वतंत्रता के बाद स्त्री के आत्म निर्भर,जागरूक व्यक्तित्व के साथ साथ आंतरिक और बाह्य संघर्ष की चर्चा करना जरूरी हो गया। इस संदर्भ में जयदेव तनेजा का राय सही लगता है कि - ***"मध्यवर्गीय परिवार की घुटन, कुढन, टकराहट और टूटन की करुणा त्रासदी को हिन्दी नाटक और रंगमंच पर मोहन राकेश के आधे-अधूरे से जो जीवंत अभिव्यक्ति मिली, उसी सूत्र को पकडकर हिन्दी के अनेक नाटककारों ने बाद में अपने-अपने ढंग से घर और नर-नारी संबंधों की बारीक छनबीन करने की कोशिश की।"***[81]

दो व्यक्तियों से संबंध कभी एक से नहीं रहते। वह संबंध केवल परिस्थितियों का दबाव है जो किसी के भी व्यक्तित्व को भी निर्धारित करता है। घर माने पति, पत्नी, लडका,लडकी,सुख, शांति और अनापन सबका मेल मिलाप है खेद की बात यह है कि आज हम घर नहीं केवल मकान को ही प्राप्त कर सकते हैं। प्रसाद युगीन मानव संबंध अलग है पचास के बाद मानव संबंध एक अलग मोड लेकर चलने लगते हैं। पति, पत्नी ही नहीं बेटी- पिता, बेटी-माता आदि नाजुक संबंध का चित्रण करने में मोहन राकेश, लक्ष्मीनारायण लाल, सुरेंद्र वर्मा, मुद्राराक्षस आदि नाटककार अपनी पक्षधरता को साथ लेकर चलते हैं।

'आधे-अधूरे' यह नाम आधुनिक हिन्दी नाट्य जगत को सुस्थिर बनाने में 'मील का पत्थर' माना जाता है। इस नाटक के द्वारा मोहन राकेश मध्यवर्गीय जीवनानुभव में अधूरापन के संदर्भ को लेकर स्त्री-पुरुषों के संबंध का चित्रण करते हैं। इस नाटक

में सावित्री और महेंद्रनाथ अपने-अपने तर्क पर अडे रहते हैं। दोनों संपूर्ण बनने के लिए प्रयत्न करते हैं लेकिन वे अधूरे ही रह जाते हैं। निम्नांकित संवाद से सावित्री के पारिवारिक संबंधों की तनाव ग्रस्त स्थिति का प्रतिबिंब मिलता है -

"स्त्री : ...वह आदमी आयेगा तो जाने क्या सोचेगा कि क्यों हर बार इसके आदमी को कोई- न -कोई काम हो जाता है बाहर। शायद समझे की मैं ही जान - बूझकर भेज देती हूँ।

पुरुष एक : वह मुझ से तय करके तो आता नहीं कि मैं उसके लिए मौजूद रहा करूँ घर पर।"[82]

'आधे-अधूरे' नाटक में सावित्री अकेली चार अलग-अलग पुरुषों से टकराती है। लेकिन कभी भी वह तृप्ति प्राप्त नहीं पाती। तृप्ति को तलाश करते हुए सावित्री अपने - आपको खो देती है। बाहर और भीतर से जुडती - टूटती सावित्री अंत तक अधूरी तक अधूरी और असंतुष्ट बनी रहती है । वह चाहती है एक संपूर्ण आदमी, पुरा आदमी लेकिन उसको पाने में असफल हो जाती है । क्योंकि उनके नजर में पुरुष अलग अलग मुखौटे पहने हुए एक ही व्यक्ति है। उनके मुखौटे अलग है लेकिन चेहरा एक ही है।

'आधे अधूरे' नाटक में स्त्री और पुरुष दोनों घर नामक इस नरक को छोडकर बाहर भाग जाना चाहते हैं । कोशिश भी करते है लेकिन विवश होकर वहीं रहते है । मुक्ति का कोई रास्ता नहीं है । शारीरिक तृप्ति के लिए स्त्री जो चाहे काम करने के लिए तैयार हो जाती है । हर रोज कोई न कोई नया व्यक्ति घर आता है और उस घर के पुरुष बाहर चले जाते है । संपूर्ण आदमी की प्राप्ति के लिए वह जब जिस किसी को बुलाती है तो उससे कोई फायदा पाने के लिए ही सोचती है । जैसे -

"अगर मैं कुछ खास लोगों के साथ सम्बन्ध बनाकर रखना चाहती हूँ, तो अपने लिए नही, तुम लोगों के लिए ।"[83]

संभवतः आधे अधुरे की प्रेरणा से सुरेन्द्र वर्मा काम संबंधों की सूक्ष्म और यर्थाथ व्याख्या करने में प्रथम आते हैं। स्त्री पुरुष संम्बन्धों का सूक्ष्म, स्थूल और मनोवैज्ञानिक चित्रण करना उनका लक्ष्य रहा है। सुरेन्द्र वर्मा का पहला नाटक 'सेतुबंध' की परिवेश गुप्तकालीन है लेकिन मूलतः यह स्त्री पुरुष संबंधों के विवेचन - विश्लेषण

करने वाला नाटक है। प्रभावती कालिदास से प्यार करती है लेकिन उसका विवाह वाकाटक नरेश के साथ कर दिया जाता है। प्रभावती वाकाटक नरेश के साथ जीवन बिताते हुए कालिदास के प्रति बेचैन होकर जीवन बिताती है। श्लीलता और अश्लीलता के परिप्रेक्ष्य में इस नाटक से कुछ प्रश्न स्वतः उभरते हैं -

" प्रभावतीः ..... क्या कोई स्थित नहीं हो सकती, जिसमें पर-पुरष पति बन जाये और पति पर-पुरुष ।"[84]

ऐसी स्थिति में प्रभावती के लिए पति पर परुष से ज्यादा कुछ नही । और कालिदास पर पुरुष होते हुए भी पति का सम्मान पाता है । पति से उसे मानसिक संबंध तो नहीं शारीरिक संबंध अवश्य है । स्वष्टतः वह शरीर से विवाह कर रही थी, मन से नहीं और वैवाहिक संबंध के लिए तैयार हुई । हमारे समाज में वैवाहिक संबंध की स्थिरता के लिए स्त्री और पुरुष का शरीर एवं मन से एकाकार मिलन आवश्यक माना गया है । प्रभावती अपने पति से अपूर्ण संबंध स्वीकारते हुए कहती है कि - ***"..... कौन समझेगा कि मेरी भावना आज तक कुमारी है ..... मैं माँ बनी हूँ लेकिन पत्नी नहीं ।"[85]***

इस नाटक में स्त्री पात्र प्रभावती न तो सफल पत्नी ही बन पाती है और न सफल प्रेमिका ही । जीवन भर प्रेम संबंधों में असफल बनने के कारण औरत माँ भी नही बन सकी । परवर्तित समाज में स्त्री के परिवर्तित रुप को सक्षम दिखाने में सुरेन्द्र वर्मा की परिणति स्पष्ट होती हैं। यहां अश्लीलता का नहीं अभिव्यक्तिकरण का स्थान प्रधान्य लगता है । वैयक्तिक रूप की प्रस्तुतीकरण करनें में यह नाटक सचमुच सफल हुआ है ।

बदलते हुए परिवेश में स्त्री पुरुष के काम संबंध को विभिन्न संदर्भों से उजागर करने के प्रयत्न में सुरेन्द्र वर्मा ने 'द्रौपदी' नाटक लिखा है। यह आधुनिक विकृत काम संबंधों का नाटक है। इस नाटक में अतृप्त स्त्री पुरुष ही नहीं उनकी लडका लडकी भी युवावर्ग की उच्छृंखलता के संकेत है। सुरेखा, मन मोहन की पत्नी महाभारत की द्रौपदी की भांति मनमोहन में पाँच पति अथवा उसके जीवन के पाँच पहलुओं को एक साथ झेल रही है। जीवन के तनावों से टूटता पति-पत्नी का संबंध पारिवारिक वातावरण को बरबाद कर देता है। सुरेखा और मन मोहन अपने अपने रास्ते पर चल पडतेहै सुरेखा को लगता है कि -

".....जैसे कभी वो दफ्तर में दुबा रहता है, कभी घर में।
कभी ऊपर-ऊपर से मुझे छू के ही उसके मन भर
जाता है और कभी वो एक-एक बोटी नोंच डालता है

मेरी। और कभी उसके बदन से जूसरी औरत की
बू आती है।"[86]

'द्रौपदी' प्रतीकात्मक नाटक है। इस नाटक की नायिका द्रौपदी वस्तुतः पौराणिक कालीन द्रौपदी न होकर वर्तमान की सुरेखा है लेकिन दोनों की तनाव और विवशता एक ही है। पौराणिक द्रौपदी को पाँच भागों में विभक्त होकर उनसे जीना पडा। ठीक इसी प्रकार सुरेखा भी अपने पति मन मोहन के पाँच प्रतिरूपों को झेलते हुए जीवन बिताती है। बीतरी अधूरेपन व खण्डित व्यक्तित्व के कारण उस द्रौपदी से आधुनिक द्रौपदी और भी संघर्ष भरी जिन्दगी को जीने के लिए विविश रहती है। काम संबंध बातचीत परिवार की मामूली बात न गयी है नीचे संवाद से हमें यह विषय और भी स्पष्ट साफ दिखाई पडती है -

"अनिल : जरा इसका पर्स खोलकर देखो। रिट्ज के बौक्स
की दो टिकटें हैं, दौपहार के शो की। वही हैं
इशकी किलास -सोशियोलौजी नहीं, सैक्सोलौजी-
सुरेखा : (डॉटकर) अनिल !
अनिल : (पल भर बाद भाँककर) इतना और पूछ लो कि
आज थ्योरी होगी या - प्रैक्टीकल ? "[87]

नगर बोध की समकालीन आदतों का शिकार आज युवापीढी में व्याप्त कामचार की प्रवृत्ति और अश्लील यौनाकर्षण का सही दस्तावेज इस 'द्रौपदी' नाटक है। इस नाटक में माँ और बेटी की बातें परिवार के आन्तरिक जीवन का उद्‌घाटन करती है। सेक्स संबंधी विषय पर बातचीत करना आजकल मामूली विषय हो गई है। 'द्रौपदी'नाटक में माँ और बेटी के बहस से हमें यह विषय और भी स्पष्ट हो जाता है-

"सुरेखा : परसों शमको साडी बाँधकर कहाँ गई थी?
अलका : कमाल है, साडी बाँधन भी गुनाह हो गया अब?
सुरेखा : क्योंकि इसमें आसानी -
अलका : ममी ! -
सुरेखा : और ऐसे तो तू कभी नहीं बाँधती। और अब आयी थी तो
कैसी मसली हुई-पता है, ये तेरा हफ्ता सेफ नहीं है?
अलका : हाँ हाँ, पता है। मैं कोई बच्ची नहीं हूँ।
सुरेखा : इसीलिए तो पूछ रही हूँ- - कहाँ तक?
अलका :(एक टक देखती है, रूककर) बताया तो था तुम्हें कि दो बार
उसने मेरे ब्लाउज के बटन खोले हैं।"[88]

समाज में आज विवाहेतर संबंध सामान्य हो गये हैं। 'द्रौपदी' नाटक में विवाहेतर संबंधों का स्वरूप और विवाह पूर्व संबंध जिस बिंधु तक आकर खडे हैं जो निम्नांकित है -

"अनिल : एक तरफ तो कहती हो कि मुझे इतना देर -सा- प्यार करती हो, पर मेरी इतनी जरा सी बात नहीं मान सकती? (विराम) इतनी खुशामद अगर खुदा की करता, तो वो भी मिल जाता अब तक। (विराम) मेरे पास वो चीज है। - तुम बेकार डर रही हो। तुम्हें कुछ नहीं होगा (विराम) सब लोग करते हैं, मगर तुम हो कि फिजूल की जिद पकड के बैठ गयी हो। (विराम) बस, पाँच मिनिट की तो बात है।"[89]

'द्रौपदी' आधुनिक जीवन की यौन विसंगतियों, यौनाचार और काम कुण्ठा को खोलकर चर्चा करनेवाला नाटक है। पूरे नाटक की रचना नैतिक मूल्यों के पतन और काम संबंधों की नयी दृष्टि को केन्द्र में रखकर की गई है। श्लीलता और अस्शीललता का प्रश्न आने से मैं यह समझता हूँ कि पारिवारिक संबंधों के परिवर्तन दृष्टिकोण से उपजी समस्याओं का विश्लेषण करते हुए नाटककार काम संबंधों में अपने परिधि की अतिक्रमण ही किए हैं। बात यह है कि नाटक का मूल श्रोत तो काम संबंध नहीं परिवर्तित स्त्री मानसिकता, वैयक्तिक टूटन और पतन ही है।

पति पत्नी के काम संबंधों का अनूठा विषय यह भी है कि अगर पति किसी शारीरिक दुर्भलता के कारण पत्नी को दैहिक रूप में संतुष्ट कर सकने में असमर्थ हो तो उस स्त्री की मानसिक वेदना किस हद तक प्रभाव डालता है इस विषय को लेकर सुरेन्द्र वर्मा 'सूर्य की अंतिम किरण से सूर्य की पहली किरण तक' नाटक में लिखा है। राज्य को उत्तराधिकारी देने में नपुंसक ओक्काक विविश है। इसलिए धर्मानुसार राणी शीलवती को धर्मनटी बनकर किसी भी पुरुष को उपपति चुनने पर बाध्य होना पडता है। शीलवती इसे वेश्यावृत्ति समझती है तो महामात्य उसे मातृत्व की दुहाई देकर कहते है कि-

"उन कुछ क्षणों के लिए अपने आपको बिल्कुल भूल जायें..... पहले मूँद ले, कान बंद कर लें............. बिल्कुल ढीला छोड दें शरीर को.......पाँचों इन्द्रियों को अचेतन करके भावतंत्र को निर्जीव बना लें....... और मन की आँखों से लगातार केवल भावी परिणाम की ओर देखें.......अबोध मुद्रा, घुँघराली अलकें, दूधियाँ दाँत.....नारीत्व की सार्थकता...

मातृत्व की तृप्ति.........।"[90]

अपने बाल सखा और वागदत्त प्रतोश के साथ रात गुजारने के बाद शीलवती की दृष्टि बदल जाती है। आलिंगन की निकटता, चुंबन, अजानी पुरुष गंध में बसी शीलवती को व्यक्तिगत सुख की याद आती हे। तब वह इस राज्य नियम, मर्यादा, धर्म आदि विषयों पर टूट पडती है।-

"मर्यादा !........धर्म !.......शील !........वैवाहिक बंधन !......सब मिथ्या ! ....सब आडंबर !.........सब पुस्तकीय !........लेकिन मुझे पुस्तक नहीं जीना अब।..........मुझे जीवन जीना है।"[91]

नाटक में स्त्री की अंतर्गत चरित्र की चित्रण ठीक तरह से की गई है। शीलवती की जीवन में यह घटना तूफान की तरह आता है वह सब कुछ ले जाकर सत्य को छोड देता है। उस संभोग के बाद उनकी जीवन मूल्य, जीवनादर्श सब कुछ बदल जाते हैं। नारीत्व की सार्थकता मातृत्व की तृप्ति के बारे में उपदेश देनेवाले महामात्य से शीलवती पूछती है -

"......उस शैय्या पर कौन सी बातें आती है मन में? .....उन क्षणों में कहा होता है ध्यान?....उस आवेश और अकुलाहट में..... उस उत्तेजना और उन्माद में...उन साँसों और उच्छवासों में.....सारे शरीर में दौडती हुई बिजली की तरंग-जैसी उस तृप्ति के साथ कौन सी स्त्री हैं तुम्हारे संसार की, जो होनेवाली संतान का ध्यान कर पाती हो?....नारीत्व की सार्थकता मातृत्व में नहीं है, महामात्य ! है केवल पुरुष से संयोग के इस सुख में.... मातृत्व केवल एक गौण उत्पादन है...जैसे दही से निकलता तो मक्कन है, लेकिन तलछट में थोडी-सी छाछ भी बच जाती है.....हम सब छाछ है छाछ.......।"[92]

2.6.2 काम रहस्यमय क्रीडा नहीं है

भारतीय प्राचीन समाज में काम संबंधी विषय को रहस्य के रूप में रखना उचित माना जाता है। लेकिन आधुनिक काल में यह सर्व सामान्य विषय बन गया है। आज धर्म या मर्यादा नहीं शारीरिक तृप्ति ही जीवन की गरिमा बन गई है। इस नाटक 'सूर्य की अंतिम किरण से सूर्य की पहली किरण तक' में प्रतोष से बिताकर आने के बाद शीलवाती शारीरिक सुख की अनुभूति का बयान देती है। शीलवती पुत्र की प्राप्ति के लिए 'धर्मनटी' बनकर जाती है पहले की अपेक्षा अधिक कामातुर होकर 'कामनटी' बनकर आती है। शीलवती अपने आत्म संतोष को मर्यादाओं के लिए

त्यागना नहीं चाहती और नये नये रास्ता निकालने के लिए भी सोचती है। नाटककार शीलवती को अश्लीलता का प्रतीक जैसी नहीं अतृप्त वासनाओं का शिकार के रूप में चित्रित किया है। शीलवती स्वयं अपने पति से कहती है -

"यह शयन कक्ष साक्षी है मेरी पीढा का.....ये भित्तियाँ और वगाक्ष.....या मुक्तालाप......यह शैय्या.......तुम मेरे शरीर से नाप लेना प्रारंभ करते थे....नग्न नारीत्व से अपने पुरुषत्व को जागृत करना चाहते थे- आलिंगनों से, चुंबनों से, स्पर्शी और नख चिह्नों से ....मेरी पूरी चेतना प्रत्युत्तर देती थी....मेरी सांसे अवरूद्ध, मेरी धडकनें तीव्र........मेरी होंठों पर चीत्कार.....मेरे अंग-प्रत्यंग में कंपाहट की तरंगें - में पूरी तरह तैय्यार......पके फल की तरह टूट पडने को, उमडते ज्वार की तरह बाँध तोड देने को, भरे मेघों की तरह बरस पडने को.....और प्यासी धरती की तरह एक एक बूँध अपने में समा लेने को...उस मात्रा में मैं एक-चौथाई दूरी तय कर लेती और मुडकर देखती तो तुम वहीं खडे थे - ठंडे, निस्तेज....तब मुझे फिर लौटना पडता।"[93]

हर व्यक्ति नये जीवन की कांक्षा को रखकर जीता है। अब जो जिन्दगी जी रहा है उससे बेहतर जीने के लिए निरंतर सोचता है। आज जो जीवन जीता है वस्तुतः वह उसे स्वीकार्य नहीं है, वह उसे बदलना चाहता है। उससे भागना चाहता है। उस जीवन में परिवर्तन लाना चाहता है। लेकिन वह परिवर्तन क्या हो, किसी दिशा में हो कैसी हो यह सब ठीक से ज्ञान नहीं होता है। इसके लिए एक उपाय अपने आपको अपने भीतर झाँककर पहचान ने की कोशिश करने से फाइदा मिलता है। इस तरह के परिवर्तन चाहनेवाले चार व्यक्तियों को मूल में रखकर डॉ. लक्ष्मीनारायण लाल 'करफ्यू' नाटक लिखा है। उनके ही शब्दों में - ***" इस नाटक का बाहरी परिवेश है एक ऐसा शहर, जहाँ पर कोई 'रॉयट' हो चुका है और पूरे शहर पर करफ्यू लगा दिया गया है। यह रॉटर और करफ्यू एक तरह से हमको जीवन के भीतर रॉयट और करफ्यू का ही प्रतिफलन, बल्कि उसीका 'प्रोजेक्शन' है, 'एक्सटेंशन' है।"***[94]

व्यक्ति अपने आप में स्वतंत्र रहता है। करफ्यू परिवेश में नहीं अपने आप में है। नाटककार प्रश्न करता है कि लोग सामान्य जीवन में इस करफ्यू को तोडकर मुक्ति पाने के लिए प्रयत्न क्यों नहीं करते हैं? जीवन नाटक की तरह निश्चित नहीं हो सकता और व्यक्ति भी निश्चित नहीं हो सकता। इस नाटक में मनीषा भी तृप्ति केलिए तडपती है। उसी स्थिति में वह अनेक पुरुषों से संबंध रखती है लेकिन कहीं भी आनंद नहीं पाती। वह अब ढूढती है एक अपरिचित के लिए -

"मैं बराबर घूमती रही हूँ। यहाँ से वहाँ, वहाँ से यहाँ बिना कही रूके, बिना टिके। लोग एक के बाद एक-एक जीवन में आये, याद नहीं। कोशिश भी नहीं की याद रखने की। एक अपरिचित, फिर दूसरी अपरिचित। एक जाना पहचानना चेहरा जब उकता देता है तो अन जाना चेरा पहचाना लगने लगता है। नाऊ आई लाइक ओनली स्ट्रेंजर्स। (रूक जाती है। पीती है) एण्ड यू आर ए स्ट्रेंजर एट।" [95]

इस नाटक में लक्ष्मीनारायण लाल जीवन के नए पक्षों से परिचय कराते है। इस नाटक में मनीषा विभिन्न घटनाओं के माध्यम से अपेनी पहचान क्रम रूप से खोती नजर आती है। भीतर की प्यास उसे विवश होकर, विवस्त्र होकर संजय का आह्वान करने लगती है और स्वयं करफ्यू को तोडती है। इससे उसके भीतर की नये व्यक्तित्व का परिचय मिलताहै -

"मनीषा : .....इतना मुश्किल नहीं है यह सब। .....अच्छा......
यह टाई निकल दो। लाओं, मैं तुम्हारी यह
कमीज निकाल दूँ। इसी तरह तुम भी मेरा कुरता
निकालो.....निकालो......, नहीं निकालता तो फाड दो....।" [96]

'योर्स फेथफुली' मुद्राराक्षस का नाटक है। इस नाटक में भी यौन संबंधों की कुछ खुली बातें है। यहाँ सेक्स पराजित मन का प्रतिबिंब है। अगर अफसर चाहे तो किस तरह अपने नीचे काम करनेवाली कर्मचारियों पर अत्याचार कर सकता है और उनकी दुर्बलताओं का सही चित्रण मुद्राराक्षस अपने नाटक में करते है। जैसे -

".....अफ्सर जितनी देर में दरवाजे को अंदर से बंद
करता है उतनी देर में रूपा उठकर साडी उतारने लगती है।
अफ्सर उसे साडी उतारते देखता है और पसीना पोंछता है
फिर उसे याद आता है तो वह खुद भी अपनी कमीज
काँपते लड-खडाते उतारता है।.......अफसर रूपा के कंधे
पकडता है फिर जैसे कोई एकांत और गोपनीय जगह
खोजने लगता है।" [97]

सरकारी दफ्तरों में काम करने वाली महिला कर्मचारियों की संवेदना का यह नाटक सजीव चित्र है। काम संबंधी विषयों पर चर्चा करते हुए नाटककार मरी हुई स्त्री के साथ अफसर का व्यवहार पर दृष्टि लगाते हैं -

"अफसर - अरे तुम उठी नहीं?

(रूपा सिर्फ पेटीकोट पहने हुए और ब्लाउज के बटन बन्द करती हुई उठकर खडी होती है)

अफसर - तुम अभी तक उठी क्यों नहीं थी?

रूपा - मैं समझी थी कि आप अभी कुछ करेंगें.....

अफसर - मैं - हाँ, लकिन तुम साडी जल्दी से पहन लो।"[98]

पचास के बाद मुख्य रूप से मोहन राकेश, सुरेन्द्र वर्मा मुद्राराक्षस, डॉ.लक्ष्मीनारायण लाल आदि आधुनिक नाटककार काम संबंधों के कमनीयता, सरसता, काम कुण्ठा यौन संबंधों की विडंबना को अभिव्यक्ति प्रदान करते हैं। हिन्दी नाटक अपनी सीमा से आगे जाकर शयन कक्ष के भीतर तक नाटक की पहचान की गई है। आधुनिक काल में कथ्य की दृष्टि से स्त्री पुरुष संबंध एक गंभीर और सूक्ष्म विशष के रूप में पाठकों के सामने लाया गया। स्त्री पुरुष संबंधों के मर्यादित व्याख्या करने के लिए पचास के बाद नाकटकार अपने प्रयास तो करते हैं लेकिन वे संबंध कुछ नाटकों में अश्लीलता का मोड लेते है।

ज्यादातर नाटककार अपने नाटकों में काम संबंधों की विश्लेषण इस लिए किया कि जीनव की हरेक छोर को वे मूल्यांकन करना चाहते हैं। भारतीय स्त्री मूलतः स्वतंत्र समझी जाती है। लेकिन स्थूल दृष्टि से यहाँ स्त्रीयाँ गुलाम की जिन्दगी ही जी रहे हैं। यहाँ तक कि उनके लिए हँसना भी इस समाज में गलत का शिकार बनना पडता है। इस नजरिये से देखने से हम इस नतीजे तक आ पहुँचते है कि जितने भी नाटककार काम संबंधों पर लिखे हैं वे सब साहस के साथ ही लिखे है। लेकिन रंगमंच पर अभिव्यक्तीकरण के समय कुछ सीमाओं को दृष्टि में रखकर चलना पडता है। इस संदर्भ में श्री लवकुमार लवलीन वक्तव्य सही प्रतीत होता है - ***"नाटकों में अश्लीलता होती है। उसकी अभिव्यक्ति में, स्त्री पुरुष संबंध और उन नंगे दृष्यों के प्रदर्शन में, जिससे मर्यादा की सीमा के अतिक्रमण होता है। कपडे के नीचे हर स्त्री पुरुष नंगा है, इसलिए कपडे खोलकर नंगा घूमना सभ्यता-संस्कृति का परिचायक नहीं बन सकता।"[99]***

आजादी से पूर्व नाटकों में स्त्री और स्त्री का प्रेम का उदात्त रूप था लेकिन वहाँ नारी के प्रति प्रेम में भावुकता, शालीनता, मर्यादा का, उत्कृष्ट रूप अभिव्यक्त हुआ है। लेकिन आज के नाटककारों मर्यादा को अडंबर, कायरता, और अपने को छिपाने की प्रवृत्ति मानकर मानसिक स्थितियों को खुला और उन्मुक्त चित्रण प्रस्तुत करने की ओर अग्रसर है। यह विषय हमको मानना है कि पहली बार इस काल में ही काम संबंधों

का इतना खुला, व्यक्तिगत संबंधों का इतना सार्वजनिक प्रदर्शन नाटकों के द्वारा हुआ है। दर्शक की दृष्टि ही नहीं नाटककार की दृष्टि से भी देखने से इस काम संबंध प्रवृत्ति की अपनी विशेषता है।

2.6 जन चेतना का पर्याय : नुक्कड नाटक

नाटक सदियों से अनेक उतार चढाव को सह कर आज भी गतिमान है। नुक्कड नाटक आधुनिक नाट्य विधा है। नुक्कड नाटक दर्शक की भागीधारी को लेकर चलता है। नुक्कड नाटक सामान्य जन जीवन का वास्तविक चित्रण करने में सफल होता है। समाज के परिवर्तन के लक्ष्य को मूल में रखकर शोषित को उत्कृष्ट स्थान दे कर नुक्कड नाटक विधा मशहूर हुई है। नुक्कड नाटक स्वतंत्रता के बाद से अवतरित रूप से हो रहे सामाजिक, आर्थिक, धार्मिक एवं सांस्कृतिक मूल्यो मे परिवर्तन और एक लंबी प्रक्रिया का परिणाम है।

रंगमंच का नाटकों में महत्वपूर्ण स्थान है। एक जमाने में रंगमंच के बिना नाटक के बारे में सोचा भी नहीं जा सकता था। रंगमंच से जुडे हुए नाटक को गली-गली से लाकर नुक्कड नाटक का संज्ञा दी गई और उसे लोगों के बीच में बिठा दिया गया। रंगमंच को लेकर अनेक प्रश्न चिह्न खडे करते हुए नुक्कड नाटककारों ने बाहर आकर अपनी एक विशिष्ट पहचान बनाई है।

नुक्कड नाटक दर्शक को अपने पास बुलाने की बजाय स्वयं उसके पास पहुँचने की प्रक्रिया है। हिन्दी में 'मंच मुक्त', 'सडक', 'चौराहा', और 'नुक्कड' नाटक जैसे शब्दों का प्रयोग पिछले कुछ समय से होता आ रहा है। नुक्कड नाटक का अर्थ 'नाका' भी होता है। नाका का अर्थ है किसी नगर, बस्ती या दुर्ग इत्यादी में गुसने का प्रमुख द्वार उसी प्रकार Street cornar) माने 'चौराहा' दो मार्गो के बीच स्थित प्रदेश को भी नुक्कड का अर्थ गत भावना देते है। इस लिए - ***"आम आदमी के प्रति होने वाले अन्याय और अत्याचार तथा उसके दुख - दर्द के लिए जिम्मेदार राजनीतिक, सामाजिक, आर्थिक, धार्मिक-सभी सत्ताप्रिय किन्तु जन विरोधी ताकतों के घिनौने चेहरे से उनके सिद्धांतवादी खूबसूरत नकाब नोंचकर सच्चाई से हमारा समाना करने के लिए प्रतिबद्ध यह नाट्य रूप एक ओर व्यवस्था के अभेद्य दुर्ग को तोडने और दूसरी ओर आम आदमी के मामूली दुनिया में जाने का प्रवेश द्वार होने के कारण 'नुक्कड नाटक' ही कहलाने का अधिकारी है।"*** [100]

नुक्कड नाटक आडंबर और ताक झाक से एकदम मुक्त है। आम आदमी के जिन्दगी की दैनिक समस्याओं और तकलीफों का जीवंत प्रस्तुतीकरण है। इस नाटक के दर्शकों की सक्रिय भागीदारी को उत्साहित एवं प्रेरित करता है। नुक्कड नाटक को परिभाषित करना भी मुश्किल है। इस विधा में सामान्य शोषित वर्ग का सही चित्र हमें मिलता है। इस संदर्भ में बेख्त कहते है - ***"Our Street corner theatre is primitive, origins aims and methods of its performance are close to home. But there is no doubt that it is a meaningful phenomenon with a clear socil function that domination all its elements."*** [101]

श्री चन्देश नाट्य प्रक्रिया में संघर्ष को प्रमुखता देते हैं उनके ही शब्दों में नुक्कड नाटक - ***"नुक्कड नाटक सिर्फ नाटक नहीं, संघर्षशील समसामयिक जन जीवन का जीवंत दस्तावेज है।"*** [102]

सफदर हाशमी के दृष्टि में नुक्कड नाटक मूलतः प्रतिरोध का नाटक है - ***"Street theatre is basically a militant political theatre of protest. Its functions is to agitate the people and to mobalise them behind fighting organisations. "*** [103]

आज श्रमिक अपने बीच में अपने माहौल में स्वयं अपने को साहित्य में देखने के लिए उत्सुक हैं। साधारणतः मनुष्य साहित्य से संबंध रखना चाहता है। अपने को अपनी समस्याओं को साहित्य में देखकर उसके हल की ओर जाना चाहता है। मार्क्स के अनुसार संघर्ष समाज में जारी रहता है। संघर्ष से ही समाज में परिवर्तन आने की संभावना होती है। नुक्कड नाटक संघर्ष पर आधारित है। नुक्कड नाटक की महत्वपूर्णता पर चन्देश लिखते हैं कि - ***"नुक्कड नाटक के जन्म विस्तार पाने का सबसे बडा कारण है सामाजिक परिस्थितियों में अंतर्निहित बौखलाहठ, उद्वेलन और इन सबसे उत्पन्न अकुलाहठ के साथ अपनी जमीन से जुडने का भाव।"*** [104]

नुक्कड नाटक सामान्य जनता की मांग है। आज इंसान की शक्ल में अपने जिन्दा होने का एहसास जाग रहा है। नुक्कड नाटक के जन्म के पीछे ऐतिहासिक कारण है। इस पर सफदर हाशमी लिखते हैं - ***"आधुनिक, राजनैतिक नुक्कड रंगमंच एक सामाजिक जरूरत की पैदाइश है। जनवादी आन्दोलन से जो जन संस्कृति पैदा होती है, नुक्कड नाटक उसी का एक अंग है। पूँजीवादी सामंती व्यवस्था ने जो सांस्कृतिक 'नेटवर्क' खडा किया है वह जनवादी संस्कृति के प्रचार का माध्यम***

नहीं बन सकता। जनवादी वैज्ञानिक और प्रगतिशील संस्कृति के प्रचार के लिए समाज के शोषित तबकों में सर्वहारा के क्रान्तिकारी जीवन दर्शन के प्रसार के लिए जनवादी सांस्कृतिक आन्दोलन जो विधाएँ अपनाता हैं, नुक्कड नाटक उनमें से एक है।"[105]

नुक्कड नाटक राजनैतिक कारणों से उपजा है, लेकिन इसका क्षेत्र वहीं तक सीमित नहीं है। राजनैतिक समस्याओं वाले नाटकों को जितनी सफलता मिली उतनी ही सफलता आर्थिक सामाजिक सासंस्कृतिक परिस्थितियों के दबावों ने नुक्कड नाट्य कला को जन्म दिया है।

नुक्कड नाटक की मूल संवेदना या उसका मूल चरित्र प्रतिरोध (protest) है। उसकी यह प्रतिरोधात्मक शक्ति ही उसके कथ्य वस्तु को पूरी तरह प्रभावित करती है। साधारण जन जीवन की समस्याओं को खोलकर विश्लेषण करने की क्षमता उसके कथ्य का वैशिष्ट्य है। नुक्कड नाटकों की कथावस्तु प्रायः किसी न किसी दबाव की चर्चा करती है। शोषण के अनेक रूप ही इसमें दिखाई पडते है। वह चाहे बलात्कार हो, मजदूरों की हडताल हो, खेतिहार मजदूरों की दुर्दशा का किस्सा हो या दहेज के लिए जलायी जानेवाली महिलाओं की कथा या बढती महंगाई। इससे हमें पता चलता है कि नुक्कड नाटक अपने कथ्य के माध्यम से जन जीवन की भयानक त्रासदी को अभिव्यक्त करने की कोशिश करता है।

संवाद योजना नुक्कड नाटक के लिए वह महत्वपूर्ण तत्व है जो संपूर्ण रचना विधान में, रचना और प्रभाव, दोनों पर उसे वैशिष्ट्य प्रदान करता है। आमतौर पर नुक्कड नाटक के संवाद आम बोलचाल ही होते है लेकिन अपनी तल्खी में वह सीधे तीर की तरह एक संप्रेष्य सनसनाहट लिए हुए होते हैं तथा तथ्यों को ज्यों का त्यों प्रस्तुत करने की उनकी उदयुत क्षमता होती है -

"बाबा : ...चल उठ और लाला से जाकर आठा ले आ।
औरत : बाबा, वह आटा नहीं देता।
बाबा : उसकी साले की....उधार देता है, कोई भीख नहीं देता
औरत : पर बाबा, उसका बेटा कहता है......।
बाबा : क्या कहता है?
औरत : कहता है......कहता है....अगर उदार में आटा चाहिए तो दुकान बन्द होने के बाद अकेले में आना।"[106]

आज के सामाजिक दबावों और अन्याय, विसंगतियों ने जन जीवन को विघटित कर छोडा है। पारिवारिक समस्याएँ, नारी समस्याएँ व सामाजिक अन्याय जैसी चीजें

इसके लिए जिम्मेदार हैं। नारी को केन्द्र में रखकर नाटकों की वस्तु बहुत कुछ स्पष्ट कर देती है -

"लडका :......आज मैं आपको अपनी कहानी सुनाना चाहती हूँ। लोग मेरे शरीर की कहानी सुनाते है। मेरे जिस्म की नंगी तश्वीरें दिखाते है। मेरी मामूलियत का कलाम बनाते हैं। लेकिन मेरी कहानी है कि मैं रोज आत्मदाह करती हूँ। रोज अपने घर, दफ्तर, मिल और बाजार में बेइज्जत होती हूँ।.....और मेरी शादी के दहेज के लिए मेरा घर-संसार तहस-नहस हो जाता है।"[107]

वर्तमान सामाजिक ढाँचे में घुटती पिसती नारी वस्तुतः त्रासदी परिस्थितियों की शिकार है। नारी की विडंबनापूर्ण स्थितियों का चित्रण सामाजिक यथार्थ से जुडे नुक्कड नाटकों में कथ्य के ही माध्यम से उभरता है। जन नाट्य मंच दिल्ली द्वारा सामूहिक रूप से लिखा गया और खेला गया नुक्कड नाटक 'औरत' इस श्रेणी का लोकप्रिय नाटक है -

"पंडित : सास-ससुर की आज्ञा मानेगी, पति को साक्षात भगवान जानोगी पहले उन्हें खिलाओगी, फिर खुद खाओगी। पति ससुर अन्याय करें तो उसे न्याय मानोगी, कभी पलटकर उत्तर नहीं दोगी। आँखों नीचे रखोगी। घर का काम काज संभालोगी।

पति : फौरन कोई काम तलाश करोगी। सबेरे ही सब्जी मण्डी से सागतकारी लाओगी। फिर कुंए से पानी। बाबा का हुक्का भरोगी। झाडू-पोंछा, चौक-चक्की सब तुम्ही संभालोगी।

पंडित : तथास्तु।"[108]

अनेक नुक्कड नाटक बेरोजगारी, महँगाई, भ्रष्टातार, व्यवस्थागत विसंगतियों को दृष्टिगत कर लिए गए हैं। नुक्कड नाटकों के माध्यम से व्यक्त होनेवाले आर्थिक समस्याओं, विसंगतियों, शोषण, अन्याय आदि को उसकी कथावस्तु के आधार पर आसानी से व्यक्त किया जा सकता है। इसी तरह 'हल्लाबोल' नाटक में एक विद्यार्थी की बरोजगारी कहानी सफदर हमें सुनाता है -

"विद्यार्थी : (दर्शकों से) जरा मेरी भी सुनते जाइए। कल तक मैं छात्र था, अब मैं बेरोजगार हूँ।......जरा मुझे भी बताइए, सोलह साल स्कूल कालिज में बिताने के बाद अगर यही कुछ मिलता था तो पढने लिखने

की जरूरत ही क्या थी? अब यह डिग्री गले में लटका कर घूमूँ।"[109]

गरीबी समाज के लिए एक अभिशप्त है जिसके नीचे जीनेवाले व्यक्ति को दो-जून की सूखी रोटी को प्राप्त करना बहुत मुश्किल हो जाता है। गरीबी के साए में गुजर-बसर करने वाले परिवार की दयनीय दशा का चित्रण नुक्कड नाटक करता है। 'सवा सेर गेहूँ' नाटक का एक चित्र इस संदर्भ में देखिए -

"किसुन : (निरीह भाव से) माँ बोलती है, अब दोपहर का खाना नहीं बनेगा। एक बार रात को रोटी बनेगी......

शंकर : जा, माँ से कहना, अगर आटा हो तो दो रोटियाँ अभी बना दें।

किसुन : (कारूणिक स्वर में) माँ, मुझे भूख लगी है। रोटी दो।

माँ : चूल्हा जलाओं न, माँ.......भूख से पेट दर्द कर रहा है। (सुबकता है) रोटी ......रोटी........।"[110]

अपनी वस्तुगत वैशिष्ठ्य के कारण नुक्कड नाटक जनजीवन में विषमता पैदा करनेवाली पूँजीवादी सामन्ती, राजनैतिक ताकतों की विश्लेषण कराती है। आर्थिक असमानता, गरीबी, बेरोजगारी आर्थिक शोषण के हर पक्ष का यथार्थ विश्लेषण नुक्कड नाटक करता है। गरीबी की रेखा से नीचे जीनेवाले की मुक्ति के लिए नुक्कड नाटक प्रतिबद्ध है -

"जमूरा : .....अबी तक यह नहीं समझ पाया कि हम जैसे रोजमर्रा कमाकर खानेवालों की जान किसी बुलेटप्रूफ या बाडी गार्ड से बच नहीं सकती। हम तो भुख से वैसे ही मर जाते हैं। हमें तो चाहिए भूख-प्रूफ।"[111]

2.7.1 राजनीति बनाम सत्ता

नुक्कड नाटककारों ने कभी इस व्यवस्था को स्वीकारा ही नहीं। उनकी दृष्टि में यह व्यवस्था कुछ गिने चुने व्यक्तियों की है, उनका काम सामान्य पर जुल्म करके अपने को बढाना ही है। समय समय पर सामान्य ही सब तकलीफों का शिकार बन रहा है। नुक्कड नाटकों में इस व्यवस्था का सही चित्रण किया गया है। सफदर 'काला कानून' नाटक में इस व्यवस्था पर पूँजीपतियों की छाप स्पष्ट दिखाते है। रानी

अपने पूँजिपतियों की रक्षा करते हुए सामान्य पर जुल्म कराती है। देश के सभी कानून पूँजीपतियों के हवाले कर देती है। यथा -

"पूँजीपति : भ्रष्टाचार, मिलावट, चोर-बाजारी, काले धन के परिश्ते कहाँ रहेंगे?

रानी : तुम्हारे गोदामों में, हमारे जेर-ए, साथे। निश्चिन्तता हाँ...हाँ..हाँ....। जाओं, देश की प्रगति में हाथ बटाओं। तेल पी जाओं। कोयला खा जाओ। हर घर, हर चौबाटे में, एक शमशान बनवाओं।"[112]

साधारण रूप से व्यवस्था लोगों को एक मार्ग दिखाती है। व्यवस्था लोगों को जीने की स्थिति कायम करती है। लेकिन हमारी व्यवस्था उस तरह की नहीं है, यहाँ कि व्यवस्था सामान्य का नहीं पूँजीपतियों का है। यथा -

"सभी अफसर उनके जो सबकुछ करने को तैय्यार
सभी दफ्तर उनके।
कानूनी किताबें उनकी
कोर्ट कल चली भी उनके
जर्ज और जेलर भी उनके
पुलिस और गुंडे तक उनके।"[113]

राजनीतिक जरूरतों के तहत जन्में नुक्कड नाटकों की वस्तु के मूल में अधिक से अधिक राजनैतिक विश्लेषण होता है। संभवतः इसीलिए की जीवन मूल्यों को प्रभावित करने वाला यही क्षेत्र दूसरी अनेकानेक समस्याओं को पैदा करता है। आज की राजनीति जनता की आँखों पर पट्टीयाँ बांध कर आँख मिचौनी खेल रही है। राजनीति को विरासत और अपनी बपौति मान लेने की प्रवृत्ति के परणाम स्वरूप वंशवाद को जन्म मिलता है। इससे योग्यतम व्यक्ती उसकी अधिकार से वंचित रह जाता है और 'जिसकी लाठी उसकी भैंस' का सिंद्धांत लागू होता है और सत्ता का दुरुपयोग होता है। नुक्कड नाटक इस कथ्य को चुटीले संवादों के माध्यम से व्यक्त करता है। जैसे -

"पुत्र : पिताजी ! कल से रालेज जाना बन्द....मैं आँख का आपरेशन करूँगा।

पिता : (डर कर) आँख का आपरेशन करोगे? अरे तुम तो अभी

हायर सेकन्डरी भी पास नहीं हो...

पुत्र : *(बिगड कर) पिताजी, मुख्यमंत्री का आँठवाँ फेल लडका शिक्षा मंत्री बना हुआ है और शिक्षा मंत्रालय चला रहा है.... पूरे मंत्रालय पर शासन कर रहा है...सब उसका आदेश मानते है... तो मैं आँख का आपरेशन क्यों नहीं कर सकता?"*[114]

राजनीति में सत्ता नीति ही प्रधान नीति रहा है। रक्षक ही जब भक्षक हो जाये तो वहाँ नैतिकता की उम्मीद नहीं की जा सकती। मौजूदा 'लोकतंत्र' पर टिकी राजनीति ने देश बिखेर-सा दिया है। इस राजनीति के प्रति आम जन में कोई आदर नहीं रह गया है। कभी भी कहीं भी सरकार लोगों तक नहीं आती है। जनता को झूठे आश्वासनाओं से ज्यादा देर तक नहीं रोक सकते है -

"ग्रामीण1 : सरकार हमें गरीबी रेखा से ऊपर उठाने वाली है।

ग्रामीण2 : फिर क्या होगा।

ग्रामीण1 : इसी के लिए सरकार यहाँ आनेवाली है।

ग्रामीण2 : (हँसता है) पागल कहीं का। सरकार भी कहीं चलती-फिरती है? वह तो स्थित रहती है। सरकार को न आदमी की तरह धडकने होती है, न हाथ-पाँव, सरकार के चलने-फिरने के बारे में एकदम झूठ बात है। भूख आ सकती है, बाढ आ सकती है, पुलीस और बंदूक आ सकती है। सरकार कैसे आ सकती है?"[115]

नुक्कड नाटकों के वस्तु धार्मिक -सांस्कृतिक वैषम्य से पनपने वाले कु प्रवृत्तियों पर व्यंग्य करते हुए एक स्वस्थ समाज का निर्माण करने के लिए अनुबंधित होती है। अंधविश्वासों, धार्मिक रूढियों, पाखण्डों से जन को चैतन्य करते हुए पतनोन्मुख समाज को और मानसिकता को विकल के रूप में लोगों तक पहुँचाने के लिए प्रयत्न करता है। इस क्रम में हिंसा-विरोधी स्वर, धार्मिक सांप्रदायिक एकता के लिए नुक्कड नाटक 'हत्यारे' के कथ्यांश के माध्यम से इस प्रकार व्यक्त करता हैं -

"सूत्रधार : मौत फिर मौत है, आगाज से अनजान तक। मौत न हिन्दु है, न मुसलमान। शासन का खून आपको अच्छा लगता है न मुझे।.......मिट्टी की सिफ्त है कि वह मिट्टी से जुदा नहीं होती। मुल्क के अमन परस्त बाशिंदों में फूट डालनेवालों के पूरे

बावजूद इस देश के लोग मुहब्बत से रहने के राज से बखूबी वाकिफ हैं।"[116]

आज के संदर्भ में सांप्रदायिक - धार्मिक मूल्यों के वैशम्य से उभरी अशांति की ओर दृष्टिपात किया जाय तो सर्वत्र एक बिखराव नज़र आता है कहीं पर धर्म की पवित्रता को नष्ट कर उसकी आड में खालीस्तान बनने में जोर दिया जाता है तो कहीं पर राम जन्मभूमि और बाबरी मस्जिद का मसला उछलता है। नुक्कड नाटक किसी भी ज्वलंत समस्या को लेकर चलता है। इसलिए उसके कथ्य की नवीनता का आधार आज का महौल होता है। इस क्रम में 'अपहरण भाइचारे का' से एक कथ्यांश प्रस्तुत है -

"एक : जागो, जागो हुन्दुओं, अपनी नींद से जागो, उठो, हिन्दु राष्ट्र का निर्माण करो। यह देश ,यह भारत वर्ष तुम्हारा है। अपने देश में पहले दर्जे के नागरिक के आधिकार को पाने के लिए युद्ध-घोषणा करो। उठो, गर्व से बोलो, 'हम हिन्दु हैं' और त्रिशूल धारण करों।

दो : इस्लाम खतरे में हैं मामिनी। फिर से जिहाद की तैय्यारी करो, क्या तुम सिर्फ फसादो में मारे जाने के लिए पैदा हुए हो? एखुदा के बंदों, ये जान लो कि हिन्दुओं की इस हुकूमत में तुम्हें कुछ नहीं मिलने वाला। तुम्हें अपना हक आगे बढके छीनना होगा। उठाओ शमशीद-ए- इस्लाम, अपनी हिफाजत की खतिर, अपनी तरक्की की खातिर"[117]

आज के परिवेश में आम आदमी की अतृप्त वासनाओं और मनौवैज्ञानिक पहलुओं से भी नुक्कड नाटक सीधे-सीधे साक्षात्कार करता है। वह वास्तविकता को कभी भी नजरंदाज नहीं करता बल्कि उसे ज्यों का त्यों हमारे सामने रखने का पूरा प्रयास सकता है। इस क्रम में एक अत्यंत ही महत्वपूर्ण और उल्लेखनीय बात तो यह है कि वस्तु के संदर्भ नुक्कड नाटक 'आज' से जुडकर चलता है। क्षेत्रीय, राष्ट्रीय या फिर अंतराष्ट्रीय स्तर पर घटनेवाली किसी भी घटना को नुक्कड नाटक अपने कथ्य में समेट लेता है।

सामाजिक, आर्थिक, राजनैतिक, सांस्कृतिक, धार्मिक क्षेत्र में उभरने वाली विसंगतियों और दबाओं के तहत जीनेवाले व्यक्ति, समाज, वर्ग, समुदाय की ऐसी कोई भी समस्या नहीं, जिस का जिक्र नुक्कड नाटक न करता हो। न केवल नुक्कड

नाटक जन जीवन की समस्सा को लेता है बल्कि उसके समाधान भी देने की कोशिश करता है।

नुक्कड नाटक मंचीय नाटक के विरोध में नहीं उभरा है। कुछ लोग इसे मंचीय नाटक के विरोध में मानते है लेकिन मैं ऐसा नहीं मानता। नुक्कड नाटक मंचीय नाटक की अगला चरण है। यह एक आधुनिक प्रक्रिया है। अभी भी मंचीय नाटक लिखे जा रहे हैं। दोनों में जो अंतर है, वह यह है कि मंचीय नाटक व्यावसायिकता में फसे हुए हैं। और इस में व्यय भी ज्यादा होता है इसके लिए कुछ जिम्मिक भी करना पडता है, लेकिन नुक्कड नाटक के लिए इन सबकी जरूरत नहीं है।

नुक्कड नटाक एक आधुनिक विधा होने के कारण इस के कथ्य में जारूकता होती है। आधुनिक समाज में सूक्ष्म केलिए प्राधान्य बढ गया है। अब तक जो कुछ छिपा हुआ था अब वह बाहर आने लगा है। नारी, किसान मजदूर, दलित-समाज. शोषित-पीडित की विभिन्न समस्याओं को अपने कथ्य में लेकर लोगों को उस पर सोचने का मौका देना नुक्कड नाटक की कथ्यगत नवीनता है। नुक्कड नाटक का अपना अलग व्याकरण है। वस्तु को नहीं कथ्य को महत्व दिया जाता है। लोगों की सनसनाहट के साथ नुकक्ड नाटक आगे चलता है। वस्तु को प्राधान्य मिलने से समस्या हमारे प्रतिबिंब से छूट जाता है। कैसा खेला जा रहा है नहीं क्या खेला जा रहा है इस का प्राधान्य देने के कारण से कि नुक्कड नाटक सही संप्रेषित किया जाता है।

2.8 एक जहरीली संस्कृति : सांप्रदायिकता

प्रगैतिहास काल से ही भारतीय संस्कृति आद्यात्म की ओर उन्मुख रहीं है। बदलते परिवेस में जहाँ जीवन के अन्य क्षेत्रों जैसे सामाजिक, राजनैतिक, आर्थिक को प्रभावित किया है वहीं धार्मिक परिदृश्य को भी प्रभावित की है। स्वतंत्रता के बाद का युग भारत में धार्मिक- सांप्रदायिक दृष्टि से काफी उथल पुथल का युग रहा है। इस देश में पुरातन काल से ही धार्मिक मोल का कल्याण भावना बनी रही है। राजनीतिक पार्टियाँ जब धर्म के नाम पर ओट माँगने जा रहे हैं तब निश्चय ही धर्म भी एक चर्चित विषय बन कर सामने आता है।

आजादी मिलने की ताजगी के परिवेश में हर भारतीय नागरिक की भावनाएँ विकसित होती रही। देश की प्रगति, धर्म, समाज और राजनीति आदि सभी दृष्टियों से राष्ट्र नवीनतम उपलब्धियों की ओर अग्रसर होता रहा। प्रशासन और गैर संस्कारों

संगठनों के प्रयासों के फल स्वरूप धार्मिक रूढियों, अन्धविश्वासों और कुप्रथाओं को उपेक्षित करने की दिशा में अभियानों ने जोर पकडा है। संविधान के अनुसार अस्पृश्यों को और अल्पसंख्यक को हर क्षेत्र में समान अधिकार और सुविधाएँ प्राप्त हुई। हिन्दुओं में छुआछूत की बीमारी शिर से पैर तक फैली हुई थी। उसमें बदलाव लाना उतना आसान नहीं थी। धर्म के मामलों में समन्वयवादी दृष्टिकोण को स्वीकार किया गया है। इस संदर्भ में डॉ. मदन मोहन शर्मा का राय सही लगता है - ***"स्वातंत्र्य युगीन भारतीय परिवेश धार्मिक दृष्टि से न केवल अस्पृश्यता जैसी रूढि का शिकार था बल्कि अन्य आडंबर भी अपनी डेरा डाले हुए थे। उदाहरण के लिए मूर्ति पूजा और ढोंगी साधुओं से तंत्र-मंत्र, ताबीज ग्रहण करने और उन पर अथाह विश्वास रखने जैसी प्रथाएँ भी उस समय आज से कहीं ज्यादा मौजूद थी। बृहद समाज और आर्य समाज जैसे सामाजिक संघो ने इन कुरूतियों को जड से उखाड फेंकने की दिशा में सराहनीय कदम उठाए। लोकमान्य तिलक ने गणेश पूजा, शिव उत्सव और अरविंद बंकिंम चन्द्र ने काली पूजा, गाँधी ने कीर्तन, बजन, राम धुन और प्रार्थना को अपनाते हुए जनमानस में एकता और सर्वधर्म- समभाव स्थापित करने का पूरा-पूरा प्रयास किया।"***[118]

स्वातंत्र्योत्तर केवल धार्मिक मत मतांतरों के अतिरिक्त कुछ ऐसी प्रवृत्तियाँ भी धर्म के नाम पर आरूढ हो गई जिनके कारण धर्मावलंबियों को सु निश्चित दिशा न प्राप्त हो सकी। कुछ पाखण्डी साधुओं, धर्म के ठेकेधारों द्वारा भोली भाली जनता को धर्म के नाम पर लूठा गया और अब भी लूठाया जा रहा है। अनेक साधु अपने को स्वयं भगवान के अवतार प्रकट करने में भी सफल हुए हैं। इस देश में राष्ट्रपति और प्रधान मंत्री भी साधुओं के पाँव पकडने में सकोच नहीं करते हैं। देश के जनता की प्रतिष्टा को साधुओं के पाँव के सामने रखना बडी सोचनीय विषय है।

बीसवीं सदी के प्रारंभ से ही भारतीय आध्यात्मक चिंतनधारा में भौतिक वादी विचार धारा का मिश्रण भी देखा जा सकता है। धर्म के क्षेत्र में पश्चिमी धार्मिक आंदोलनों की ही तरह भारत में भी नवजागरण के संदेश के साथ विभिन्न समाज सुधारकों, संस्थाओं द्वारा कदम उठाया गया। इसके परिणामतः हमारे धार्मिक दृष्टिकोण बहुत उदारवादी होने लगा। लेकिन बढते हुए जातिगत मानसकिता पचासोत्तर राजनीति को और धार्मिक स्थिति गतियों को बहुत ज्यादा प्रभावित किए हैं। ***"इसके परिणाम स्वरूप धार्मिक जीवन प्रभावित हुए बिना नहीं रह सका है। शिक्षित बेरोजगारी और निर्धनता के रूढियों तथा अंधविश्वासों आदि धार्मिक प्रतिमानों को निस्सार कर दिया जो भारतीय समाज की बडे खखली कर रही थी।"***[119]

सत्तर के बाद जब भारत के राजनैतिक चित्र में 'जनसंघ' का प्रादुर्भाव हुआ था तब से धार्मिक परिवेश में सांप्रधायिकता एक अलग मुखौटा लेकर पहुँचा है। इस सांप्रदायिकता का बढत्व देने का श्रेय ऐसे राजनीतिक दलों को प्राप्त है जो हिन्दु व्यवस्था और हिन्दु धर्म के प्रति कट्टर विश्वास रखते हैं। क्योंकि रामजन्म भूमि बाबरी मस्जिद विवाद से ज्यादा लाभ इन्ही राजनीति दलों को मिला है। 1989 में एक पार्टी के लोकसभा के सदस्यों की सख्या केवल दो थी। लेकिन जब वे इस 'राम' मंत्र का सहारा लेने के बाद उनकी लोकसभा के सदस्यों की संख्या सौ से ज्यादा हो गयी है। अब तो पांच साल से सत्ता में रहने के कारण सांप्रदयिकता का जहर समाज में और भी व्याप्त हुआ है।

गुजरात, वोडिस्सा जैसे राष्ट्रों में हिन्दूवाद का राज्य चल रहा है। अल्पसंख्याकों के प्रति हमेशा संदेह की नजर ही इनकी रहती है। अपने वर्ग स्वार्थ की रक्षा करने के लिए सांप्रदायिकता को उकसाया जा रहा है। देश के अनेक क्षेत्रों में मुसल्मानों पर ही नहीं इसाईयों पर भी हमला किए जा रहे हैं। ओडिस्सा में 'ग्राहम स्टेइन्स' नामक एक इसाई फादर के परिवार को सजीव दहन किया गया है। बीहार में 'रणवीर सेना' नामक एक अग्रवर्ण धार्मिक समुदाय बार बार दलित एवं अल्पसंख्याकों पर अत्याचार करता रहा है।

देश भर आज हिन्दु मुसल्मानों के बीच अप्रकटित युद्ध चल रहा है। सत्ता के रूप में हिन्दु अतिवादियों का होना इस स्थिति को और भी भयंकर बना रही है। हिन्दू सांप्रदायित्का को बढावा देनेवाली शक्तियों के विविध भाषाणों में बार बार मुसलमान दलित एवं अल्पसंख्यक के प्रति प्रतिशोध के स्वर ही मिलते हैं। इस संदर्भ को लेकर भी आधुनिक नाटककार अपने नाटकों में बढते हुए सांप्रदायिकता के बारे में अपनी प्रतिक्रिया व्यक्त करते हैं। नुक्कड नाटककारों ने इस विषय पर ज्यादा प्रतिबद्दता से लिखने के लिए कोशिश किये हैं, और सफल भी हुए है।

असगर वजाहत ने 'ओ जन्मई ही नई' नाटक में सभी धर्मों को मिला कर एक विश्व मानव धर्म की स्थापना करने की कोशिश की है। सभी धर्म अपने आपमें विशिष्ट हैं और अपना अपना महत्व रखते हैं। प्रत्येक व्यक्ति अपने धर्म का पालन खुलकर कर सकता है, मगर दूसरे धर्म की निंदा करनी नहीं चाहिए। यह तमाम बाते पर दृष्टि रखकर वजाहत ने इस नाटक लिखा है। इस नाटक में रतन की माँ जो देश विभाजन के बाद भी हिन्दू होते हुए भी लाहौर में रह जाती। अपने धर्म के अनुसार पूजा पाठ करती है तथा उत्सवादी मनाती है। एक दिन अपने घर को सजाकर दिवाली मनाती है और सब को मिठाई भी बाँटती है। इस पर पहलवान नामक एक गूंडा को बहुत

क्रोध आता है। इस नाटक का नासिर एक और पात्र सब धर्मों को एक ही मानता है। दोनों के बीच में बहस चलता है। इस संदर्भ में निम्न संवाद द्रष्टव्य है -

"नासिर : भाई आप मई के दिवाली मनाने को गैर इस्लामी जो कह रहे हैं वो अपने हिसाब से कह रहे है। वो हिन्दू है उसे पूरा हक है अपने मजहब पर चलने का।

पहलवान : आज जैसे सब हो जायें तो इस्लामी हुकूमत की ऐसी तैसी हो जाये.....जनाब आज वो पूजा कर रहे हैं कल मंदिर बनायेगी, परसों लोगों को हिन्दू मजहब की तालीम देगी।

नासिर : तो?

पहलवान : मतलब कुछ ही नहीं।

नासिर : आपके कहने का मतलब है कि जैसे ही उसने हिन्दू मजहब की तालीम देना शरू की वैसे तो लोग पटापट हिन्दू होने लगेंगे......माफ कीजिएगा अगर ऐसा हो सकता है तो हो ही जाना दीजिए।"[120]

पहलवान जैसी पाखण्डी लोग आज के समाज में भी देखने को मिलते हैं। ऐसे लोग अपनी धर्म मिट जाने के डर लेकर बैठते हैं। उस डर के कारण दूसरे धर्मों से नफरत करते हैं। इसके द्वारा सांप्रदायिक विचारों का बढत्व कराते हैं। आज के साधारण व्यक्ति तो अपने धर्म से सीधा जुडता नहीं, कम से कम मूल धार्मिक ग्रन्थों से परिचित भी नहीं रहता है। असल में धर्म क्या है? धार्मिक विधा क्या है आदि विषयों से अजनबी हो जाते है। और एक तरह जो लोग उन ग्रन्थों को पढते है वे तो अपनी पाखण्डता के कारण मूल तथ्यों को छिपाकर अनावश्यक पर दृष्टि लगाते है। असगर वजाहत की प्रतिबद्धता इस बात में है कि इन छिपे विषयों को लोगों के समने लाते हैं। एक उदाहरण निम्नांकित है -

"मौलाना : मंदिरों को बनने न देना..... या मंदिरों को तोडना इस्लाम नहीं हैं बेटा।

पहलवान : (गुस्से में) अच्छा तो इस्लाम क्या है?

मौलाना : कभी इतमीनान से मेरे पास आओ तो में तुम्हे समझाऊँ... पडोसी चाहे मुस्लीम हो, चाहे गैर मुस्लिम, इस्लाम ने उसे इतने ज्यादा हक दिये है कि तुम उनका तसव्वुर भी नहीं कर सकते।"[121]

धर्म के नाम पर देश में आज व्यापार चल रहा है। भगवान को भी 'ट्रेन्ड' होती है और 'पापुलारिटी' भी होती है। सत्तर के समय में ब्रम्ह, विष्णु महेश्वर का पूजा पाठ सब होता था, अस्सी आने के बाद उसकी 'पापुलारिटी' कम होकर 'अय्यप्पा' का जप होता था। बाद में नवें दशक से 'साईबाबा' का दौर चल रहा है। कुछ साल के बाद और एक नया भगवान सामने लाया जायेगा। इस के पीछे सांप्रदायिक ताकतों का हाथ है। इसी विषय पर दृष्टि लगाते हुए असगर वजाहत ने 'समिधा' नामक नाटक लिखा है।

अंबिका प्रसाद नामक एक मामूली व्यक्ति को लाकर स्वामी सुखानंदाचार्य बनाया जाता है। रोज दस से पन्द्रह हजार आदमी आकर उनके दर्शन करते हैं। देश विदेशों में घुमाते हैं। उसकी बहन 'रामकली' के लिए ही अंबिका प्रसाद यह सब सहता हुआ जीता है। इस नाटक के द्वारा नाटककार इस तरह के अनेक असहाय आदमियों के साथ खेलनेवाले पूँजीपतियों के असली चित्र हमें दिखाने का प्रयत्न करते हैं -

"सुखानंदाचार्य : (स्वगत कथन) हे भगवान हे दुर्गामाता...जाने ये सब कब खतम होगा......अरे मैं तो यहाँ आया था कि रामकली को छुडा ले जाऊँगा....फिर उसे ससुराल न भेजूँगा..... वहीं गाँव में वह भी रहती है। गइया उससे कितनी हिली हुई है......दो तीन प्राणी लायक तो मोटा झोटा अनाज हो ही जाता खेतों में..... जाने पिछले जन्म में कौन से पाप थे जो यहाँ आया....आज यहाँ तो कल वहाँ, तो परसों वहाँ......नाम भी नहीं बताते कहाँ ले आए है........बताए भी तो क्या.......क्या पता कौन सा शहर कहाँ है? दिन रात का भी पता नहीं चलता........।"[122]

नुक्कड नाटकों की विषय वस्तु धार्मिक प्रवृत्तियों पर व्यंग्य करते हुए एक स्वस्थ समाज का निर्माण करने के लिए प्रतिबद्ध होती है। अंधविश्वासों से पतनोन्मुख समाज को अवगत कराते हुए संघर्ष का नारा दे कर लोगों की मानसिकता को बदलना चाहता है। ***"चाहे सनातनवादी स्वर हो या फिर इस्लाम तरफी, नुक्कड नाटक अपने कथ्य से हर उस तथ्य या तत्व को रेखांकित करता है जो राष्ट्र के बिकराव का कारण बन सकता है। जहाँ भी रूढी या बुराई है, नुक्कड नटक नफरत के साथ उसका फर्दाफाश करता है।"***[123]

दरअसल, सांप्रदायिकता के एक रूप देने की जिम्मेदारी एक ओर धर्म के ठेकेदारों को हो सकती है दूसरी ओर भ्रष्ट राजनीति को होती है। नुक्कड नाटक

किसी भी ज्वलंत समस्या को लेकर चलता है। हिन्दू मुसल्मानों के बीच में किस तरह विद्वेष को पैदा कराते है नुक्कड नाटककार अच्छी तरह वर्णन करते हैं। नुक्कड नाटककार अपने नाटकों में धार्मिक, सांस्कृतिक वैषम्य में पनपनेवाली कुप्रवृत्तियों पर व्यंग्य कराते हुए स्वस्थ समाज के निर्माण की आशा करते हैं। अंधविश्वासों, धार्मिक रूढियों , पाखण्डों से लोगों को अवगत कराते हुए धार्मिक एकता केलिए अपील करते हैं। जैसे - ***दो जून रोटी के लिए, आप ही की तरह दिन-रात मेहनत करने वाला इन्सान, किसी धर्म का भी हो, किसी का दुश्मन नहीं हो सकता। अपनी जिंदगी स्वयं जी सकता है।"***[124]

आज देशवासियों के सामने अनेक समस्याएँ हैं। रोजगारी, आवास, अन्न की समस्याएँ वैसे ही है जैसे पचास साल के पीछे थे। आज सवाल मंदिर, मस्जिद का नहीं है। समस्याएँ है हमें रोजगार मिलेगी या नहीं, चीनी तेल कभी सस्ते दामों पर मिलेगी या नहीं क्या हमें छत मिलेगी या नहीं। इन बातों को समझने के लिए आज कोई तैय्यार नहीं है। सब अपना अपना फइदा उठा रहे हैं। अपने 'मत बंटों इनसान को' नाटक में सफदर हाशमी एकता के लिए तडपते हैं -

"एकता हमारे लहू में है। ईन्ट लेकर चलना धर्म नहीं है।
ईन्ट से घर बनाना धर्म है मंदिर बनाना नहीं।"[125]

भारत देश में एकता लुप्त है। सब अपने अपने धर्म के लिए लड रहे है। प्रांतीयता बढ गई है। सब लोग मिलजुलकर रहने के बजाय इन सांप्रदायिक शक्तियों के कारण बंटते जा रहे हैं। नयी शती में तो सांप्रदायित्का और भी बढी है। इसी समय नाटककार के कंदों पर ज्यादा भार पड हुआ है। समाज के मुख चित्र को बदलने के लिए चाहे हर प्रयत्न साहित्यकारों को ही करना है। नये नये प्रयोगों के साथ इस बढते सांप्रदायिकता का अंत करना आधुनिक नाटककारों का उत्तरदायित्व है। इस के लिए प्रगतिशील शक्तियों को बढत्व दे कर इस जड समाज को बदलने की कोशिश करनी है।

2.9 आधुनिक नारी का प्रतिरूप : पचासोत्तर नाटक

भारत में गरीबी की तरह नारी की स्थिति को भी परिभाषित करने की आवश्यकता नहीं है। उसकी दयनीय स्थिति, उसके साथ जुल्म का इतिहास बहुत पुराना है, इस की जड़े बहुत गहरी हैं। युगों से हो रहे अत्याचार उसकी अस्मिता पर

निरंतर चोट और लगभग काराग्रह की स्थिति के पीछे जो ऐतिहासिक, सामाजिक व सांस्कृतिक कारण है, वे छिपे हुए नहीं है। कुछ जगह स्त्री को शक्ति के नाम से पुकारते हैं दूसरी ओर उसे अबला या बेचारी बनाकर रखना चाहते हैं। मनु ने अपने मनुस्मृति में बडी क्रूरता से कहा 'न स्त्री स्वातंत्र्यम अर्हति'।

स्त्रीयों की यह स्थिति वैदिक काल से नहीं चली आ रही है। विभन्न धर्म ग्रथों में स्त्रीयों को आदि शक्ति के नाना रूपों में देखने की परंपरा अत्यंत प्राचीन है। नारी को देवी के रूप में देखा जाता था। परंतु यह स्थिति अधिक समय तक नहीं रही। इसके बाद नारी की स्थिति दिन प्रतिदिन ह्रास होता गया। पर विभिन्न युगों में नारी की स्थिति में क्रमशः संक्षिप्त अध्ययन से हम यह कह सकते हैं कि मानवीय भावना व मानसिक क्षमता के स्तर पर नारी पुरुष से भिन्न नहीं है। प्रकृति के प्राप्त जो शारीरिक भिन्नता के अलावा उसमें जो कुछ भी भिन्न, दुर्बल या निम्न स्तर का रहा है वह विभिन्न कालों में विभिन्न परिस्थितियों या परिवेश की उपज है।

भारत में स्वतंत्रता के पचास साल के बाद भी नारी जीवन में अंधकार छाया हुआ है। उसकी स्थिति और भूमिका में विशेष परिवर्तन नहीं आया। इस दिशा में प्रयत्न भी काफी हुए हैं। संविधान में नारी को स्थान दिया गया लेकिन समान दर्जा अभी तक न मिली। उनकी स्थिति में सुधार हो, मान - सम्मान बढाने की दृष्टि से कुछ कानून भी बनाये गये, लेकिन इन सबके बाद स्थिति ज्यों का त्यों है। आधुनिकीकरण, औध्योगीकरण और पंचवर्षीय योजनाओं के उपरांत भी स्थिति में कोई परिवर्तन नहीं आया। देश के राजनैतिक, सामाजिक और धार्मिक पुरुष राजनैतिक और सामाजिक सत्ता में नारी की समान भागीदारी को वे कभी भी स्वीकारते नहीं है। हमारी सामन्ति मानसिता भी इसका एक कारण है - ***"भारत का पुरुष मन सामंति है, वह मूलतः विषमता में अटूट विश्वास रखता है और अपने प्रभुत्व की स्थिति के लिए पूर्णतया चौकन्ना है। कागजी घोडे दौडाने में उसकी बराबरी कोई नहीं कर सकता लेकिन औरत के साथ बराबरी का रिस्ता उसे मन से पसंद नहीं है।"***[126]

स्वतंत्रतापूर्व समाज में नर-नारी संबंधो को लेकर अनेक प्रतिबंध थे। नारी की स्थिति तो अत्यंत ही विकट थी। घर की चार दीवारों में बंध वह घर के सभी पुरुष सदस्यों के सामने भी नहीं आ सकती थी। परंपराएँ इतनी अधिक थी कि नारी को पती के मृत्यु के बाद जीने का आधिकार तक नहीं था। किन्तु नवोत्थान के साथ भारतीय समाज में एक व्यापक परिवर्तन दृष्टि गोचर होता है। नारी ने भी सोचना प्रारंभ कर दी कि वह पुरुषों से क्यों पीछे रहे, वह यह सोचने लगी थी उसमें भी

उतनी ही प्रतिभा एवं योग्यता है जितनी पुरुष में। किन्तु अवसर न दिये जाने के कारण वह दबी रह गई।

नारी की सामाजिक स्थिति कभी भी एक सी नहीं रही। नारी ने आज तक जीवन के कई आयामों को परिलक्षित किया है। अंग्रेजों के शासन काल में पाश्चात्य सभ्यता और संस्कृति ने भारतीयों के दृष्टिकोण को प्रभावित किया। इसी संदर्भ में वहाँ की नारी के स्वावलंबी जीवन से यहाँ का शिक्षित युवावर्ग प्रभावित हुआ। इस के कारण नारी के प्रति अपना जानवाले दृष्टि में थोडी सी नरमता प्राप्त कर सकते हैं। नारी ने भी समय का सही उपयोग कर रूढियों की श्रृंखला को तोडकर पुरुष की समकक्षता प्राप्त करने की चेष्टा की। पहले वह केवल पारिवारिक देखबाल तक ही सीमित थी वहाँ अब वह परिवार के साथ समाज और राष्ट्र के कार्यो में सम्लग्न रहने लगी। इस प्रकार भारतीय स्वतंत्रता आंदोलन के समकक्ष ही नारी स्वतंत्र्य की भावना को अपनी जडे गहरी करने का मौका मिला और धीरे धीरे वह पुरुष की सहभागिनी बनने की प्रयत्न करने लगी।

नारी का पुरुष के साथ समान स्तर पर सारे कार्यों को करना आधुनिक युग में संबंध परिवर्तन की प्रथम और अत्यधिक महत्वपूर्ण स्थिति है। इसके विभिन्न कारणों में से सबसे प्रमुख कारण जिसके संबंधों को नया स्वरूप दिया वह नारी की आर्थिक स्थिति में परिवर्तन का है। ***"आज के प्रबुद्ध नारी के सामने एक ही विकल्प रह गया है- या तो वह पुरुष सत्ता समाज के हाथो की कठपुतली बने, जिससे आज की शिक्षित नारी का अहंम खण्डित होता है या अपनी स्वतंत्रता की रक्षा के लिए आर्थिक दृष्टि से आत्मनिर्भर बने सामाजिक नैतिक रूढियों, परंपराओं की रौंदती हुई घर के चार दीवार के बाहर आकर जिन्दगी की दौड में पुरुषों के समानांतर ही नहीं उससे आगे बढकर अपनी असीम शक्तिसामर्थ्य और प्रतिभा का परिचय दे।"***[127] आधुनिक नारी इस चुनौती को स्वीकार करके अपनी अस्मिता को कायम रखने की प्रयत्न कर रही है।

पचासोत्तर नाटकों में रचनात्मक परिदृश्य पर हमें एक परिवर्तन की प्रक्रिया घटित होती हुई दिखाई पडती है और इस परिवर्तन के मूल में बडे पैमाने पर साहित्य, संस्कृति के क्षेत्र महिलाओं के रचनात्मक हिस्सेदारी रेखांकनीय है। सच तो यह है कि पचासोत्तर और खासतौर पर छटे और सातवें दशक के बाद से महिला लेखन हिन्दी में रचनात्मक लेखन की मुख्यधारा का एक सशक्त हिस्सा है। इस स्त्रीवादी लेखन में स्त्रियों के साथ साथ बडे पैमाने पर पुरुष नाटककार भी भाग ले रहे हैं।

अंधायुग में अकेली स्त्री पात्र गांधारी है। महाभारतकाल के गांधारी पात्र बडी सौम्य और प्रेममयी थी। लेकिन धर्मवीर भारती की गीति नाट्य अँधायुग में भगवान कृष्ण को शाप देने पर भी गांधारी हिचकती नहीं। यथा -

"तो सुनो कृष्ण
प्रभु हो या परात्पर हो
कुछ भी हो
सारा तुम्हारा वंश
इसी तरह पागल कुत्तों की तरह
एक दूसरे को परस्पर फाड खायेगा
तुम खुद उनका विनाश करके कई वर्षों बाद
इसी घने जंगल में
साधारण व्याघ्र के हाथों में मारे जाओगे।"[128]

मोहन राकेश ने अपने नाटकों में स्त्री पात्रों को चेतनाभरी संवेदना से गढते है। 'आषाढ का एक दिन' में मल्लिका, 'लहरों के राज हंस' में सुन्दरी, 'आधे अधूरे' में सावित्री तीनों ही नाटकीय संवेदना के महत्वपूर्ण बिंदु हैं। मध्ययुगीन भारतीय नारी के सम्मान ये पुरुषों के सम्मुख बीन आत्मसमर्पण नहीं करती वरन् अपने अहं और स्वाभिमान को सुरक्षित रखते हुए उनसे अपनी भावनाओं का उत्तर चाहती है, अपने माध्यम से उन्हें पूर्णता का प्रयास कराती है।

'आषाढ का एक दिन' नाटक मल्लिका कालिदास की प्रेयसी ही नहीं काव्य सृजन की मूल प्रेरणा भी है। कालिदास उसके लिए व्यक्ति नहीं भावना है और उससे मल्लिका का संबंध भी भावना का है। वह कालिदास की काव्य प्रतिभा का यथोचित विकास और मूल्यांकन होते देखना चाहती है। मल्लिका की सरलता में स्वाभामान की दीप्त है, उसमें विनम्रता है, दयनीयता नहीं। जब कालिदास सन्यास लेना चाहता है तब अपनी आक्रोश को इस प्रकार व्यक्त करती है। यथा -

".........मैंने कभी तुन्हें अपने पास से हटने नहीं दिया। तुम रचना करते रहे और मैं समझती रही कि मैं सार्थक हूँ, मेरे जीवन की भी कुछ उपलब्धि है। और आज तुम मेरे जीवन को इस प्रकार सार्वथा निरर्थक कर दोगे? मैं टूटकर भी अनुभव करती रही कि तुम बन रहे हो। क्योंकि मैं अपने को अपने में न देखकर तुममें देखती थी। और आज यह सुन रही हूँ कि तुम सब छोडकर सन्यास ले रहे हो? तटस्थ हो रहे हो? उदासीन......? मुझे मेरी सत्ता के बोध से वंचित कर दोगे।"[129]

'लहरों के राज हंस' में सुन्दरी का व्यक्तित्व अद्वितीय है। राकेश के नाटकीय पात्रों में सुन्दरी संभवतः सर्वाधिक शक्तिशाली नारी पात्र है। उसके मन में गहरी आत्म विश्वास है, किन्तु कहीं दुर्भलता और पराजय का अनुभव नहीं करती। अलका के प्रति व्यक्त उसके उदगार में उसकी अपराजेय मनोवृत्ति झलकती है -

"मैंने उन्हें भेजा था। चाहती तो रोक भी सकती थी। परन्तु रोकना मैंने नहीं चाहा, क्योंकि वैसा करना दुर्बलता होता। अब इतना तो संतोष है कि दुर्बलता कहीं थी तो मुझमें नहीं थी।"[130]

मल्लिका और सुन्दरी ऐतिहासिक है लेकिन सावित्री आधुनिक नारी की प्रतिनिधित्व करती है। काल्पनिक पूर्ण पुरुष की खोज में वह प्रयोग करती चलती है। जगमोहन, शिवजीत, मनोज और जुनेजा- सब उसकी महत्वाकांक्षा की कसौटी पर अधूरे उतरते हैं. वह अनुभव करती है कि सबका चेहरा एक है, मुखौटे भले ही अलग अलग हो। वस्तुतः सावित्री उस आधुनिक भारतीय नारी का प्रतिरूप है जो अपने लिए केवल चार हाथ-पैरों वाला आदमी ही नहीं, एक सम्पूर्ण व्यक्तित्व की माँग करती है

"यूँ तो कोई भी एक आदमी की तरह चलता - फिरता, बात करता है, वह आदमी ही होता है -पर असल में आदमी होने के लिए जरूरी नहीं है कि उसका अपना एक मादा, अपनी एक शख्सियत हो?"[131]

सुरेन्द्र वर्मा के नाटकों के सारे नारी पात्र नाटककार की अतृप्त आकांक्षाओं की प्रतीक हो उठी हैं। 'सेतुबंध' की प्रभावती 'द्रौपदी' की सुरेखा और 'सूर्य की अंतिम किरण से सूर्य की पहली किरण तक' में शीलवाती अतृप्त काम वासनाओं के प्रतीक जैसे दीखते है। शीलवती स्पष्ट घोषणा करती है कि नारीत्व की सार्थकता मातृत्व में नहीं पुरुष से सुख पाने में है। मातृत्व को शीलवाती केवल गौण उत्पादन मानती है। यह दृष्टि आधुनिक स्त्री की दृष्टि है। अपनी सुख, अपनी जीवन, अपनी लक्ष्य के लिए सिर्फ अपने लिए आज स्त्री जीना चाहती है। इस दृष्टिकोण सुरेन्द्र वर्मा के नाटकों में मिलता है।

'देवयानी का कहना है' नाटक में आधुनिक स्त्री की व्यक्तित्व को रमेश भक्षी हमें परिचय कराते है। स्त्री पुरुष के संबंध के बारे में देवयानी का अलग दृष्टिकोण है। शादी के लिए अपने पिताजी प्रूफ पूछने से देवयानी जो वक्तत्व देती है उससे आधुनिक स्त्री की मानसिकता का परिचय हमें होता है -

"देवयानी : (उठ खडी होती है) मैं यह नाइटी उतार देती हूँ। दिखा दीजिए इसे लोगों को। शादी का इससे बडा कोई और प्रूफ अभी मेरे पास नहीं है।"[132]

हिन्दी नाट्य साहित्य में महिला नाटककारों की कमी दिखाई देती है। कविता, उपन्यास और कहानी जैसे विधाओं से देखने पर नाटकीय विधा में स्त्रीवाद का प्रभाव जरा कम ही दिखाई पडती है। मृदुला गर्ग, मन्नू भंडारी जैसे बहुत ही कम भागीदारी हमें दिखाई देती है। मृदुला गर्ग की एक मात्र नाटक 'एक और अजनबी' से उन्होंने हिन्दी नाट्य जगत को आश्वस्त किया है। इस नाटक में संबंधों का चित्रण स्त्री की निजी दृष्टि और अनुभव से हुआ है। 'मैं विवाह के बन्धन में नहीं बाँधना चाहती' शानी की इस वक्तव्य से हमें पता चलता है कि स्त्री की स्वतंत्र जीवन की कांक्षा का किस प्रकार प्रस्तुत किया गया है। आधुनिक स्त्री की दृष्टिकोण को मृदुला गर्ग इस नाटक में स्पष्ट कराना चाहती है। शानी की बात चीत में एक स्वतंत्र अस्तित्व, नारी का अत्यंत संवेदनशील मन, प्रबुद्ध व्यक्तित्व बोलता है -वहाँ बदलते सामाजिक नैतिक मूल्य बार बार प्रतिबिंबित होते हैं। प्यार के बारे में शानी की राय सुनने से उनकी अलग दृष्टिकोण हमें पता चलती है। यथा -

"शानी : प्यार होता है नाटक के बाहर होकर जीना। जो हो वहीं होना। अच्छे-बुरे, खूब सूरत - बदसूरत, कमीने-दानी ; जो हो बेखटके होना।

इंदर : प्यार अंधा होता है।

शानी : नहीं, अंधा नहीं ,नंगा।

इंदर : एक भव्य नंगापन, जिसमें न शर्म है, न तमाशा।"[133]

'एक और अजनबी' एक पारिवारिक महौल के साथ चलता है और उस घरेलूपन में ही आधुनिक संवेदना को व्यक्त करता है। माँ की व्यस्तता, शानी की तटस्थता, स्त्रियों का आपसी हँसी मजाक, बीच बीच में टीका टिप्पणी सामाजिकता नैतिकता का परस्परागत स्वर सब के सब आधुनिक स्त्री को चित्रित करने में सफल सिद्ध होते हैं।

'बिना दीवारों के घर' मन्नु भंडारी की विशिष्ट नाटक है। इसमें आधुनिक स्त्री पुरुष संबंधों के बीच परिस्थिति जन्य उभारनेवाली गाँठों की महत्वपूर्ण चित्रण किया गया है। स्त्री स्वातंत्र्य पर पुरुष मानसिकता किस तरह व्यवहार करती है,

पारंपरिकता नाम देकर अपने ही घर में स्त्री कैसे बेघर हो गयी है आदि विषय इस नाटक में चिर्चित हैं। एक पत्नी, एक माँ, कामकाज करनेवाली महिला के रूप में बहुत सारे दायित्वों को एक ही साथ निभाकर अपने लिए कुछ भी बचा नहीं पाती है। पुरुष की मानसिकता के हाथों में हटाकर अपने घर छोडकर चली जाती है। जैसे -

> ***"शोभा : ठंडी साँस लेकर) ठीक है, तो मैं अकेली ही चली जाऊँगी। जहाँ मैंने अपने भीतर की पत्नी को मारा है वहीं अपने भीतर की माँ को भी मार दूँगी। बच्ची की कुर्बानी से यदि तुम्हारा अहं संतुष्ट होता है तो उस मासूम बच्ची की बी कुर्बानी करो।"*** [134]

वास्तव में देखना है तो हिन्दी नाट्य संसार में स्त्रीवादी नाटककारों की कमी है। स्त्री नाटकारों से ज्यादा पुरुष नाटककार ही स्त्री चेतना का सही साक्षत्कार करने में सफल दीखते हैं। पचासोत्तर परिवेश में ज्यादातर स्त्री का आक्रोष को अभिव्यक्त किया गया है लेकिन उस आक्रोष को निर्माणात्मक रूप में दिखाने में विफलता दिखाई देती है। 'बकरी' नाटक में 'विपती' समाजगत विषमताओं का प्रतिनिधित्व करती है। उसके मुँह से निकला हुआ हर शब्द में चेतना भरी आत्मविश्वास हमें स्पष्ट रूप से परिलक्षित होती है। पचासोत्तर नाट्य में केवल विपती ही परिवर्तन पर विश्वास रखके दिखाई पडती है।

नुक्कड नाटकों में स्त्री संबंधी समस्याओं को लेकर अनेक नाटक लिखे गये हैं। लेकिन 'स्त्रीवाणी' को एक रूप देने में कोई प्रयत्न हमें दिखाई नहीं देता है। 'औरत' नाटक में विविध तरह के महिलाओं की सार्थक आवाज सुनाने में प्रयत्न तो हुआ है लेकिन स्त्रीवाद को निर्मित करने में कमी दिखाई पडती है। यह हमें स्वीकार करनी है कि स्त्रीवाणी इन पचासोत्तर नाटकों में प्रभावोत्पादन स्थिति में ही मिलती है। भगवान के प्रति प्रश्न चिह्न खडा करते हुए सशक्त नारी के रूप में गांधारी बाहर आती है, सामाजिक संबंधों पर सावित्री, काम संबंधों पर शीलवती के प्रश्नों को समाधान देना बहुत ही कठिन कार्य लगता है। यह तो मानकर चलते है कि 'स्त्री अस्मिता' को इन पचासोत्तर नाटकों में समुचित स्थान मिला है।

2.10 वैचारिक क्रांति : दलित नाटक

प्रचीन काल से भारतीय समाज को अभिव्यक्त करने में साहित्य की भूमिका निर्विवाद है। समाज में जो भी स्थिति है उसका सही चित्रण करना साहित्यकारों के

प्रथम कर्त्तव्य है लेकिन अब तक रचा हुए साहित्य में कहीं भी दलित चेतना के मानसिकता का सही प्रतिबिंब नहीं मिलता है। एक लक्ष्य के साथ एक वर्ग को उपेक्षित किया गया है। वहीं उपेक्षित वर्ग अब साहित्य की यात्रा में अपने लक्ष्य की ओर जाने केलिए प्रयत्न कर रहीं है। अब तक उपेक्षित किये गये विषयों के बारे में ही हिन्दी नाटक अन्य विधाओं के साथ प्रकट कर रहा है।

दलित साहित्य की अवधारणा को लेकर सारी लडाई, पाठ की विषय वस्तु, अंतर्वस्तु और उस में स्थित विचार तथा समाज दर्शन को लेकर है। दलित लेखक बार बार व्यापक भारतीय समाज के सामने यह चिंता जाहिर करते है कि अब तक का इतिहास, दलित समाज की उपेक्षा, शोषण, दमन और तिरस्कार का रहा है। इस तिरस्कार से ही दलित साहित्य का उदय हुआ है। उसी में कविता, उपन्यास, नाटक जैसे विधाओं में अनेक विद्वानों ने दलित साहित्य को सुसंपन्न किये हैं।

वर्णाश्रम और जाति भेद भारतीय जीवन की बहु प्रभावी विशेषताएँ है। जो अतीत के इतिहास से वर्तमान और निकट भविष्य तक अपना प्रभाव अनिवार्य रूप से बनाये रखती दृष्टिगोचर होती है। भारत में आर्यों की आगमण और वैदिक काल की शुरुआत से ही भारतीय समाज पहले दो और कालांतर में तीन फिर चार और अंत में पाँच वर्णों में विभाजित हो गया और इन सीमित वर्णों की जातियों की संख्या आज हजारों में पहुँची।

प्रारंभ में भारतीय समाज का यह विभाजन लोगों के शुद्ध गुणों पर आधारित माना जाता था। किन्तु कालांतर में यह विभाजन जन्मतः होता गया और समाज में कटिबद्धता के साथ साथ संकीर्णता और भेदभाव की भावना जोर पकडती गई। उस काल में एक वर्ण के व्यक्ति का दूसरे वर्ण की युवती के साथ वैवाहित संबंध जायज था। खान-पान के प्रतिबंध एक वर्ग के लोगों के दूसरे वर्ण के लोगों के साथ स्थापित करने से रोकने में असमर्थ थे। ब्राह्मण संहिता, उपनिषद, रामायण और महाभारत काल तक आते आते शूद्रों की स्थिति गिरती गई। इन पुराणों के प्रभाव से यह भावना इस हद तक बढी कि ईसा पूर्व दूसरी शताब्दी से सातवीं शताब्दी तक के काल स्मृति और पुराण काल में शूद्रों एवं नारियों की छाया से भी दूर रहने का अनुदार सामने आया।

ऐसे क्यों होता आ रहा है। संसार के किसी देश में न रहने वाली यह जाति और वर्ण व्यवस्था हमारे समाज में ही क्यों है? किन वर्ण व वर्गों के प्रयोजन को बढावा देना इनका मुख्य उद्धेश्य है। क्यों आज भी वर्ण भेद की भावना नर्म होने के

बजाय उतनी और कठोर होती जा रही है। इस कठोर वर्ण व्यवस्था के पीछे वैचारिक विकृतियों के कारण मानव द्वारा पीडित, प्रताडित, अधिकार वंचित, मानव मुक्ति के लिए आदि काल से उदारतावादी, मानवतावादियों का संघर्ष चल रहा है। चार्वाक से लेकर डॉ. अम्बेद्कर तक की परंपरा अनवरत गतिमान है। यहीं परंपरा दलित समाज की आधार शिला बनी है। दलित साहित्य की यथार्थ को देखने के लिए पहले दलित शब्द और उसकी उत्पत्ति के बारे में जानना जरूरी है।

दलित शब्द तो आधुनिक है लोकिन दलितपन तो प्राचीन है। यह दलित शब्द लगभग सौ वर्षों से प्रचलन में है। अनेक विद्वान अनेक प्रकार इस शब्द की व्याख्या प्रस्तुत की है। संस्कृत में इस शब्द के लिए विभिन्न अर्थ दिए गए हैं -

"दलित = दल + त्त = टूटा हुआ, कटा हुआ।"[135]

"दलित = Broken, Torn, Split, Down trodden, Crushed, Distroyed, Manifested, Displayed,Cleane, Crack, to burst."[136]

महेन्द्र चतुर्वेदी के व्यावहारिक हिन्दी कोश के अनुसार Down trodden, depressed रखा है। बृहद अंग्रेजी हिन्दी कोश में दलित वर्ग के अतिरिक्त हरिजन और अस्पृश्य जातियों के अर्थ में दिया गया है। आरंभ में दलित शब्द अस्पृश्य के अर्थ तक हो ही सीमित था, लेकिन आज आधुनिक युग में दलित के अंतर्गत केवल अस्पृश्य ही नहीं अपितु सामाजिक रूप से अविकसित पीढित, शोषित, निन्मजातियों की गणना होती है। दलित शब्द ही नहीं उसको एक जाति के रूप में ही नहीं सामाजिक वर्ग के रूप में सभी जातियों में से निन्म स्तरीय लोगों को दलित कहते हैं। मराठी कवि दादा मोरे के अनुसार -

"The term dalit is not confined to certain traditionl castes and communities which are declared to be depressed it embaraces all the communities which are the denied a palce with in respectable social order and were out castes as a consequenses. So Dalit is not a community but it is a social class."[137]

अछूतापन गुलामी से भी ज्यादा क्रूर है। छुआछूत व जाति भेद से पीडित वे लोग सामान्य जन जीवन से अलग होते है। दलितों को मंदिरों में पूजा करने से इन्कार करना, तमाम अनुष्ठानों से दूर रखना, भारतीय समाज की क्रूरता का परिचय

ही है। भारतीय समाज में एक बडे हिस्से को समाज से हमेशा दुत्कारा गया है, अपमानित किया गया है। वे जिन्दगी भर वेदना को स्वीकारते रहे हैं। आक्रोष व्यक्त करने की स्वतंत्रता भी नहीं है।

परंपरानुगामी धार्मिक आचार -विचारों से दलित सामाजिक, सांस्कृतिक दृष्टि से पीडित है। आज भी यह स्थिति गाँवों में देखी जाती है। दलितों को इन्सान के रूप में देखा नहीं जाता है। होटलों में दो ग्लास पद्धति रखी गई है। अलग कोई होटल वाला अपने ग्लास से चाय देता है तो दलितों को अपनी ग्लास स्वयं धोना पडता है। इस प्रकार दलित को सदियों से शोषण करते आ रहें है और पूरी संपत्ति को अपने अधीन में लेकर दलितों को मानवाधिकारियों से वंचित करके अभावपूर्ण जीवन जीने के लिए बाध्य किया है।

आज साहित्यकारों में दलित साहित्य चर्चा का विषय बना हुआ है। समता, अस्मिता, सहभागिता आदि लक्षणों को लेकर दलित साहित्य नये सोच के साथ हमारे सामने आ बैठी है। दलित साहित्य समाज में सभी जातियों को, जनता को एक ही तरह स्वीकार करता है। सभी जातियों में समानता लाना इस का लक्ष्य है। दलित साहित्य भेदभाव, छुआछूत, नारी शोषण, बंधुवा जीवन, धार्मिक कठुमुल्लापन, कर्मकाण्ड, रूढिवादी और ब्रह्मणवाद के खिलाफ खुला हुआ विद्रोह है। वह व्यक्ति को जरूर कर्त्तव्य परायण बनाता है। दलित साहित्य नारी को एक व्यक्ति के रूप में स्वीकार कर असाधारण शक्ति के रूप में उसे समान हक और अधिकार इस समाज में देता है।

हिन्दी आधुनिक नाटकों में इस प्रवृत्ति की स्पष्ट झलक हमें मिलती है। माता प्रसाद अपने नाटकों द्वारा हिन्दी साहित्य में हलचल मचादी है। उन्होंने अछूता का बेट, धर्म के नाम पर धोका, वीरांगना झलकारी भाई, वीरांगना उदादेवी पासी, तडप मुक्ती की, धर्म परिवर्तन, प्रतिशोध, अंतहीन बेडिया आदि नाटकों के द्वारा देश के सामाजिक चित्र को सही रूप में हमारे सामने रखने की चेष्टा करते है। नाग बोड्स की 'दलित' नामक नाटक में भी दलित जीवन विधान के अस्मिता को एक नई पहचान दी है। एन. आर. सागर द्वारा लिखित 'अंतिम अवरोध' भी इसी कोटी में लिया जाता है।

आजका जलित नाटक जीवंत नाटक है, जो सामाजिक यथार्थ के दग्ध अनुभवों को अपने भीतर समेटे हुए हैं। हिंन्दी नाटकों में आज जो जड़ता है उसे दलित नाटकों ने तोडा है। दलित नाटक दलित जीवन की सही और यथार्थवादी अविब्यक्ति

है, जो कल्पना पर आधारित नहीं, जीवन को उसके उसी रूप में प्रस्तुत करती है जिस रूप में वह मौजूद है। झलकारी बाई एक दलित स्त्री होते हुए स्वातंत्र संग्राम में अपनी महत्वपूर्ण भूमिका निभाई है। अपने शौर्य प्रताप के साथ राज्य की रक्षा के लिए अपने प्राण त्याग करने में भी वह हिचकती नहीं। उसकी बहादुरी के बारे में हयूरोज इस प्रकार कहता है -

"नहीं, स्टुअर्ट, यह औरत पागल नहीं है। यह हम सबको पागल बनाने आई थी। हम सोचते है, अगर इसी तरह हिन्दुस्तान की एक परसेंट औरतें भी पागल हो जाए, तो एक दिन हमें हिन्दुस्तान छोडकर जाना होगा। झलकारी बाई पागल नहीं, बहादूर है।"[138]

ग्रामजीवन का उपेक्षित व बहिष्कृत वर्ग दलित नाटक का विषय वस्तु बन गई है। सर्वेश्वर दयाल सक्सेना अपनी नाटक 'बकरी' में एक हरिजन औरत की बकरी को लेकर भारतीय राजनीतिक चित्र को हमारे सामने रखने का प्रयत्न करते है। निरंतर शोषण का शिकार दलित लोग ही होते है। खाली शोषण ही नहीं अपनी संपत्ति को खोना भी पड रहा है। नाटककार सक्सेना समाज व्यवस्था की बीमार जडों पर सीधे ऊंगली रखकर दलितेतर नेताओं की मानसिकता को दिखाने का प्रयत्न करते हैं -

"सत्यवीर : ***औरत, कबीरदास कह गए हैं 'ई जग अंधा मैं केहि समझऊँ' ! बोल तूने इससे क्या सीखा है?***

औरत : ***हम अपढ और गरीब हैं हुजूर क्या सीखें?***

सत्यवीर : ***इस बकरी ने तुझसे यह नहीं कहा कि पढ-लिख, अपने पौरों पर ख़डा होना सीख। किसी का मुँह न देखा। अपने बच्चों को भी इस लायक बना कि वे अपने हाथ से कमा सकें। कम से कम में घर चला। फालतू खर्च मत कर। दूसरों री सेवा कर। सच बोल त्याग कर।"***[139]

'बकरी' शीर्षक ही दलित समाज से जुडा हुआ शब्द है। इस नाटक द्वारा पहलीबार सर्वेश्वर दयाल सक्सेना तिरस्कृत किए गए लोगों के अनुभवों और शोषण पर दृष्टि लगाए हैं। अंततः नाटक में मानवीय मूल्यों की रक्षा होती है, समाज में नैतिकता की स्थापना होती है। एक गरीब दलित नारी की 'बकरी' नहीं 'जीवन' को लूटना मुख्यरूप से राजनीतिक मूल्य पर दृष्टिपात करना ही नाटककार का लक्ष्य जान पडता है। यहाँ 'बकरी' केवल गरीब की ही नहीं पीडित, ताडित, पददलित को

भी बकरी बनाकर नेताओं किस प्रकार अपनी इच्छाओं को पूरी करवा रहें है अच्छी तरह स्पष्ट किया गया है -

"सत्यवीर : मैं बकरी वाद पर भाषण देने विदेश जाता हूँ। बकरीवाद का प्रचार करूँगा।

दुर्जन : शाबाश ! बहुत अच्छा विचार। बकरीवाद और विश्वशांति। मानवता को आगे बढाने का विचार। सारा विश्व हमारा है।

कर्मवीर : हम सारे विश्व के हैं। वसुदैव कुटुम्बकम।"[140]

इक्कीसवीं सदी में दलित नाटक पूरे सक्षमता के साथ प्रवेश करने के लिए आतुर है। इस वरिष्ट समाज में टिकने केलिए दलितों को हर तरह के चुनौतियों का सामना करना सीखना चाहिए। दलित समाज आज अनेक प्रकार के अंतर्विरोध और समस्याओं का शिकार है। उनकी समस्याएँ राजनीतिक, सामाजिक, आर्थिक और सांस्कृतिक भी है। हर दलित को हर रोज कहीं न कहीं अपमान सामना करना पड रहा है। जो सुनियोजित समाज है उसमें व्याप्त मनुवाद और ब्राह्मणवाद के प्रभाव से बचकर जीना दलित को असंभव सा लगता है।

केवल सरकारी सुविधाओं के बल पर दलितों का उत्थान होना असंभव है। उसके लिए दलित स्वयं अपने को सुधृढ और सर्वयोग्य बनाकर रहना पडता है। 'तडप मुक्ति की' नाटक में माता प्रसाद इसी विषय पर जोर देते हैं। योग्य और सक्षम दलित युवक आरक्षण जैसे सुविधाओं को छोडकर विश्वास के साथ जीना चाहिए। इस प्रवृत्ति से दलित युवकों में हीनता भाव दूर होकर आत्मविश्वास बढ जाता है। मनोज कुमार नामक युवक किस प्रकार अपनी आत्मविश्वास को बढावा देकर इस समाज के विरुद्ध अपने दलित वर्ग को खडा कराया है आदि विषय इस नाटक में अच्छी तरह व्यक्त किया है। इस नाटक में सभी समस्याएँ पर चर्चा की गई है जो दलित आज सामना कर रहें है। आधुनिक दलित चेतना का प्रतीक नीचे दिए गए उद्धरण से हमें स्पष्ट होता है -

"सरकारी नौकरियों में तो थोडा बहुत आरक्षण है। प्रदेश में हजारों प्राइवेट शिक्षा संस्थाएँ चल रहीं है। इनको सरकार करोंडों रूपए का अनुदान हर साल देती है फिर उन पर आरक्षण का नियम कडाई से क्यों नहीं लगाया जाता। शिक्षा आयोग से अनुसूचित जाति के अध्यापक चयनित होकर आ जाते है तब भी उन्हें चार्ज नहीं दिया जाता क्योंकि मैनेजमेंट के परिवार के लोग पहले से वहाँ कार्य कर रहे होते हैं। कहीं भी अनुसूचित जाति के अध्यापकों को इन संस्थाओं नहीं रखा जाता। यदि

अनुसूचित जाति के भी यहाँ अध्यापक होते हो हम अपनी कठिनाई तो उन्हें बता ही सकते थे। यहाँ तो सब शोषक लोग है।"[141]

इस नाटक में श्री माता प्रसाद दलित जीवन का ही नहीं दलित वर्ग के दृष्टिकोण को भी बदलने के लिए प्रयत्न करते है। इस नाटक में नाटककार ने मिलकर रहने से होनेवाले लाभ और दलित को संघर्ष भरे शिक्षा लेने से अनुरोध करते हैं। - ***"आज हम जातिवाद के खिलाफ जो लडाई लड रहे हैं उससे जातियाँ मिटने के स्थान पर मजबूत ही होती जा रही है। ऐसा लगता है जाति पांति के खिलाफ लडाई लडने के लिए हमें दिशा बदलने की आवश्यकता पडेगी। हमें लडना चाहिए ब्राह्मणशाही और सवर्णता से, लेकिन उसका रूप हमने ब्राह्मणों और सवर्णों से लडने का दे दिया है यह ठीक नहीं। इस लडाई में जो सवर्ण हाथ बंटाएँ, उनका हमें स्वागत करना चाहिए।"***[142]

2.10.1 श्रृंकलाओं में कैद हिन्दू धर्म

हिन्दू धर्म संसार के धर्मों में से एक है। इस धर्म से दूसरे धर्म में जाना और इस धर्म में दूसरे धर्म से आना प्राचीन काल से बहुत कठिन लगता था। आज तो यह विषय सामान्य बन गया। हिन्दू धर्म में होने वाले अनेक कर्मकाण्डों, आचार व्यवहारों के पीछे ब्राह्मणवादियों का बड़ा हाथ है। एक शब्द में कहना है तो हिन्दू धर्म को ब्राह्मण अपने कब्जे में रख लिए हैं। कभी भी हिन्दू समाज इस दलित जनजीवन को अपने में नहीं मिलने दिया है। जो आत्माभिमान दलित को मिलना था वह नहीं मिल रहा है। उनके साथ समानता का व्यवहार नहीं किया जा रहा है। इसलिए धर्मपरिवर्तन की नारा से अम्बेद्कर बाहर आते हैं।

माता प्रसाद के नाटक 'धर्मपरिवर्तन' में प्रयोगपूर्वक अम्बेद्कर के जीवन को हमें बताते हुए धर्म परिवर्तन जैसी क्लिष्ट विषय पर विशेष ध्यान दिया गया है। इस नाटक में नाटकककार स्वतंत्र संग्राम में अम्बेद्कर के सहयोग और दलित जनहित के लिए उनके योगदान के बारे में अच्छी तरह वर्णन किए है। आखिर इस हिन्दू समाज से विवश होकर अम्बेद्कर बौद्ध धर्म स्वीकार करते है। अम्बेद्कर स्वयं इस नाटक में इस प्रकार कहते हैं -

"जब तक आप लोग हिन्दू धर्म में रहेंगे, तब तक हिन्दूओं से छुआछूत के कारण पानी के लिए, रोटी के लिए, बेटी के लिए झगडना ही पडेगा। दोनों एक

दूसरे के दुश्मन बने रहेंगें। यदि इस झगडे को खतम करना है तो हमें धर्मांतरण करना चाहिए। धर्मान्तरण का रास्त पलायनवादी का रास्ता नहीं है। यह एक समझदारी का रास्ता है, मनुष्यता का रास्ता है।.......मनुष्य धर्म के लिए नहीं बल्कि धर्म मनुष्य के लिए है, संसार में मनुष्य से बढकर कोई चीज नहीं है। धर्म एक साधन मात्र है, जिसे बदल दिया जा सकता है, फेंक दिया जा सकता है।"[143]

दलित साहित्य दलितोत्थान का साहित्य है। यानी वह साहित्य जो दलितों, पीडितों शोषितों, उपेक्षितों और असहाय, अमानवीय वर्ग के उत्थान और नव विकास के लिए प्रेरित करता है, जो ऐसे व्यक्तियों को उनके गौरवमयी इतिहास से परिचित कराते हुए उनको उनकी मानवीयता का पहचान से अवगत कराता है। वह साहित्य तो धरती से जुडे लोगों को उनकी समस्या और दुर्दशा से अवगत कराते हुए उनके निराकरण और समाधान के उपाय बताता है। इसके लिए श्री माता प्रसाद भारतीय दलित जाति को अपने वर्चस्व का परिचय कराते हुए ईसा से पूर्व 6000 से अब तक की इतिहास में दलित उत्थान पतन का वर्णन 'अतहीन बेडियाँ' नाटक में उपस्थिति करते हैं। राहुल सांकृत्यायन की 'वोल्गा से गंगा' की शैली अपनाकर माता प्रसाद इस नाटक में अच्छे प्रयोग करते है। पात्रों के द्वन्द्वमूलक चरित्र वैचित्र के उद्‌घाटन की जो प्रवृत्ति विदेशी नाटकों में दिखाई देती है उसका चित्रण इस नाटक में किया है। इस नाटक में हर कालजन्य स्थिति में दलित जीवन की सूक्ष्मातिसूक्ष्म विषयों को भी नई भाषा में व्यक्त किया गया है। 'अंतहीन बेडियाँ' नाटक में बुनियादी राम और जय प्रकाश वाल्मिकी के बीच के संवाद से हमें यह विषय और भी स्पष्ट होता है -

"बुनियादी राम : ***इसमें क्या बुराई है। इसमें दलित लडकिया कभी मंदिर में जा नहीं सकती थी, उन्हें भी पुजारी जैसे सम्माम मिल जाता है।***

जय प्रकाश वाल्मिकी : ***बुराई इसके बाद शुरू होती है। जिन्हें देवदासियों के रूप में समर्पित करवा लिया जाता है। उन्हें किशोरवस्था तक बडे ही जतन से रखा जाता है। जिसके कौमार्य के प्रति सजगता बरती जाती है। इसके पीछे उसकी व्यापारिक मकसद होता है। उनके दाम लगने शुरू हो जाते हैं।"[144]***

सामाजिक स्तर पर ही नहीं दलितों को राजनीतिक स्तर पर भी अनेक बार धोखा खाना पड रहा है। उन्हें केवल वोट बैंक के रूप में देखा जा रहा है। मतदान होने के बाद उनपर साधारण रूप से अत्याचार और बढ जाते है। भारतीय ग्रामीण

जीवन में इन अत्याचारों का साफ चित्रण हमें दिखाई देता है। इस संदर्भ में दलित मानसिकता में होनेवाले परिवर्तनों के बारें में अम्बेद्कर इस प्रकार व्यक्त करते है - ***"दलित अपनी स्थिति की स्वयं पहचान करें और अपने को सुधार लें। किसी भी क्षेत्र में उच्च वर्ग से हम कम नहीं है यह जान लें। उन्होंने राष्ट्र की स्वचंत्रता से भी अधिक महत्व अस्पृश्यों की मुक्ति को दिया है।"*** [145]

बरसों से लडकर दलित को जिन अधिकारों की प्राप्ति मिली है उनकी रक्षा करना आज बहुत कठिन लग रहा है। भारत में 40% से अधिक दलितों के लिए एक वक्त की रोठी भी नसीब नहीं है। लगातार राजनीति पार्टियों से धोखा खाकर दलित जन अपनी रक्षा करने में असफल हो रहे हैं। नागबोडस इन विषयों को ध्यान में रखकर अपने नाटक 'दलित' में इन राजनीतिक धोखे बाजों का भंडा फोड करते है। नाटक के भीतर नाटक चलाकर एक नए प्रयोग के साथ इस 'दलित' नाटक को सृजित किया गया है -

> ***"नवीन : हँसी की बात नहीं डरूआ ! चुनाव की घोषणा होने से सिर्फ लाश ही नहीं सडने लगी, लोग भी सिसकने लगे है। कित्ते लोग आते थे यहाँ दर्शन को? और कल रात चुनाव की घोषणा के बाद आज बस हम चार छह? ....नहीं, अब नहीं चला सकते थे ये आंदोलन! ....(मीना से) हमें अब ये अंदोलन वापस लेना ही पडेगा। और कल्लाराम का दाह कर्म तो अब तुरंत करना होगा।"*** [146]

इस प्रकार दलित समाज में संभव होनेवाले अनेक आकृत्यों का चित्रण करने में आधुनिक हिन्दी नाटककार सफल होते है। अब तक शहर के लोगों के बारे में शहर के अंदर रहनेवाले लिखते आये थे। लेकिन अब समय बदल गया है। अब तो जो तिरस्कृत है, गाँव के बाहर रहनेवाले है, अपने आत्माभिमान खो बैठे हैं, उनके बारे में लिखने का समय आ गया है। इस विषय पर केलल नाटक ही नहीं अन्य विधाओं में भी सफलता पूर्वक कार्य हो रहा है।

आज लिखा जा रहा साहित्य वर्ण व्यवस्था, जाति व्यवस्था का खण्डन करके मानवतावाद का सृजन करता है, इसके साथ सत्ता बदलने की माँग भी करता है। इस दलित नाटक सदियों से बने अंधविश्वासों को तोडकर आम आदमी के सुख दुख से

जुडने की प्रेरणा देता है। दलित नाटक मनुष्य को मनुष्य की तरह देखने की प्राथमिकता के साथ प्रतिबद्ध है। दलित साहित्य सामाजिक और सांस्कृतिक संघर्ष को दलित सरोकारों से जोड रहा है। दलित साहित्य ने दलित अस्मिता को एक नई पहचान दी है। अपनी विषय वस्तु और नए स्वरूप के कारण पाठकों को आकर्षित कर रहा है। और भी अनेक समस्याओं को लेकर संघर्ष मय जीवन के बारे में नाटक लिखने की संभावना है क्योंकि आनेवाली साहित्य पूरा पीडित, ताडित पददलितों का ही है।

निष्कर्ष

साहित्य मनुष्य की चेतना और सामाजिक चिंता की देन होता है। इसी लिए उसमें मनुष्य जीवन की वास्तविक्ताओं की अभिव्यक्ति, अनिवार्य रूप से होनी चाहिए। साहित्य का मूल मकसद- समाज व्यवस्था और सामाजिक संबंधों के बुनियादी बदलाव के लिए चेतना को जगाना होना चाहिए। रचनाकार समाज में प्रवर्तक की भूमिका अदा करता है एवं उसकी चिंता मनुष्य समाज के लिए एक बेहतर दुनिया के लिए निर्माण की होती है। पचासोत्तर हिन्दी नाटककारों की दृष्टि भी ऐसी ही है। वे अपने नाटकों द्वारा पहले मानवीय प्रवृत्तियों को बदलना चाहते है। परिवर्तन की नींव डालकर समाजगत चेतना को नवनिर्माण की ओर ले जाने के लिए आधुनिक नाटककार सफल भूमिका निभाते हैं।

भारतेंदु और प्रसाद ने नाटक लिखे हैं लेकिन उनके नाटकों में पक्षधरता नहीं है। आधुनिक नाटककार जनता की पक्षधरता को लेकर चले है। स्वन्तः सुखाय केलिए वे नाटक नहीं लिखे हैं। आधुनिक नाटककार की रचनाधर्मिता के पीछे कमिटमेंट है। इस संदर्भ में हबीब तन्वीर कहते हैं - ***"....अगर कलाकार अच्छा है तो उसे कुछ कहने की जरूरत नहीं, वह अपनी कला की इंटिग्रिटी छोड़े बगैर अपने कमिटमेंट को आर्टिस्टिक ढ़ग से प्रोजेक्ट कर सकता है।"***[147] आधुनिक नाटककार ने इसी कमिटमेंट के कारण अपनी कही हुई बात को बडी गहरी से कहने का प्रयत्न किए है। जो भी पात्र का सृजन हुआ उनके पीछे नाटककार की पक्षधरता और कमिटमेंट ही रहा है।

आधुनिक नाटककार ने इन पचास वर्षों में भारतीय संस्कृति कला और सामाजिक जीवन को निरंतर देखकर, भोगकर, विचारकर और मथकर अनेक उपलब्धियो का सृजन किये हैं। दर्शक को केवल मनोरंजन ही नहीं आधुनिक नाटक

वर्तमान को परखने की नयी समाज की आविष्कार की दृष्टि को प्रधान करने की चेष्टाएँ की है। दर्शक यदि कुछ भी लेकर हाल से निकलता है तो नाटक महत्वपूर्ण है और यदि नहीं, तो नाटक मनोरंजक,अच्छा, बहुत आच्छा और शायद महत्वपूर्ण हो सकता है परन्तु रचना नहीं। सचमुच हिन्दी आधुनिक नाटक देखकर दर्शक हाल से बाहर जाते समय एक नया अर्थ को लेकर जाते हैं।

आजादी मिलने के बाद भी अर्ध शताब्दी के हिन्दी नाट्य को गौर करें तो वह अपने समय और समाज का सच्चा एवं साफ दर्पण भी दिखता है। स्वातंत्र्योत्तर काल में हर मुद्दा, हर व्यवस्था,हर संबंध, हर दायित्व ने नये सिरे से विचारित व परिभाषित किये गए। परिवेश को उपेक्षा करके इस युग में कोई भी साहित्यकार कुछ भी नहीं सृजित कर पाया। जीवन की विसंगतियाँ इतनी गहरी होती हैं कि पूर्णतः मुक्त नहीं हो पाते। इसी युग में धर्मवीर भारती से अंधायुग नाटक आधुनिक परिवेश को परिवर्तित करके हमारे सामने रखने की प्रयत्न करती है। यह परिवेश अंधता का अनिवार्य परिणाम है।

आजादी के पूर्व के नाटककारों की रचना प्रक्रिया साहित्यिक अधिक थी और रंगमंच कम। उस समय के जितने भी नाटककार थे, वे नाटककार से पहले कवि थे या उपन्यास लेखक या कहानीकार, चाहे प्रसाद हो, प्रेमचन्द हो, अंशक हो। फलतः उनका साहित्य भी व्यापक जीवन परिवेश से कटकर ही होता था। लेकिन पचास के बाद नाटककारों बंद कमरे के लेखक से मुक्ति पाकर वास्तविक जीवनानुभवों को सम्प्रेषित करने में स्वाभाविकतापूर्ण प्रस्तुतीकरण करने में सक्षम हुए हैं। नाट्य रचना, नाट्य प्रदर्शन और नाट्यानुभूति तीनों को परस्पर विकसित करके आधुनिक नाटककार अपने नाटक को जनता से या अपने प्रेक्षकों से सीधे साक्षात्कार कराकर, नाट्यानुभूति के धरातल पर उन्हें संवेदना एवं वैचारिक धरातल पर उद्वेलित कर सकने एवं सोचने पर विवश करने की सामर्थ रखता है। स्वातंत्र्य पूर्व नाटककारों के सामने एक ही लक्षय था आजादी। भारतेंदु के बाद से आजादी तक नाटकों में ऐतिहासिक, पौराणिक तथा यथार्थवाद के प्रभाव आने पर सामाजिक समस्याओं की अभिव्यक्ति होती रही। लेकिन पचास के बाद नाटको में जीवन में कड़वे एवं विसंगत यथार्थ से जूझते की स्थिति सामने आया।

आजादी के बाद पुराने जीवन मूल्य निरर्थक सिद्ध हो रहे थे और नये मूल्यों में स्पष्टता की कमी के कारण व्यक्ति अजीब विरोधाभासी मनःस्थितियों के संघर्ष पूर्ण तनाव में जीने लगा। पचास के बाद व्यक्तिवादी विचारधारा, अस्तित्ववादी विचारधारा और मनोविज्ञान जैसे पश्चिमी विचारधाराओं का विशेष प्रभाव हमारे देशीय साहित्य पर

भी पड़ा। और उसके साथ मार्क्सवादी विचारधारा का भी विकासमान थी। इसी लिए आधुनिक नाटककार मानव की पीड़ा, शोषण, संघर्ष, पराजय एवं विद्रोह की भावनाओं को कथ्य बनाया गया। मूल विषय ऐतिहासिक पृष्ठभूमि लेकर, द्वन्द्व को लेकर और स्त्री पुरुषों के संबंधों को संवेदनात्मक धरातल पर बताया गया है।

'अंधायुग', 'आषाढ़ का एक दिन', 'आधे अधूरे' आदि नाटक अपनी कथ्यात्मक विश्वसनीयता, समकालीनता एवं अद्वितीय रगमंचीयता के कारण से आज भी प्रासंगिक बने हुए हैं। इन तीन नाटकों से ही समाजिक यथार्थ को पहचानने और परिवर्तन की कामना करने की शुरुआत थी। 'अंधायुग' नाटक में साम्रज्यवाद का जुल्म, 'आषाढ़ का एक दिन' में मानवीय द्वन्द्व, 'आधे अधूरे' में मध्यवर्गीय समाज के परिवार में व्याप्त घुटन आदि का अभिव्यक्तीकरण आज तक प्रसंगिक बना हुआ है।

लेकिन नाटककारों की एक प्रांत इस समस्या से भी रूबरू हुई है। हबीब तन्वीर के नाटक 'हिरमा की अमर कहानी', 'चरणदास चोर', 'बहादूर क्लारिन' आदि जन सामान्य की समस्याओं को साधारण जन से लिए गए कलाकारों द्वारा ही प्रस्तुत करते हैं। छत्तीसगढ़ी लोक कलाकारों को लेकर हबीब तन्वीर ने रंगमंडल बनाया है और उन्ही के द्वारा इन नाटकों की प्रस्तुति होती है। 'हिरमा की अमर कहानी', आदिवासी जीवन के दुख सुख और संघर्ष की कहानी है। यह नाटक तथाकथित सामंतवादी और प्रजातांत्रिक मूल्यों तथा जीवन पद्धियों की लडाई और आदिवासी प्रदेश 'तितुन बसना' के लोकप्रिय राजा हिरमा देवसिंह गंगावंशी की त्रासद कथा के बहाने आदिवासी जीवन के कई बुनियादी लेकिन उलझे हुए सवालों को बड़े दिलचस्प तरीके से सामने रखता है।

मोहन राकेश, सुरेन्द्र वर्मा, मुद्राराक्षस स्त्री पुरुष काम संबंधों में उलझनों, द्वन्द्वों को खोलने के प्रयास किये हैं। इस में वे कुछ हद तक सफल भी हुए हैं। पचास के बाद के नाटकों में समाजिक यथार्थ में राजनीति, अर्थ व्यवस्था भी शामिल रहते हैं। राजनीतिक व्यंग्य भी कई नाटककारों के नाटकों का प्रमुख विषय बना। सर्वेश्वर दयाल सक्सेना का 'बकरी', सुशील कुमार सिंह का 'सिंहासम खाली है' आदि नाटकों में राजनीतिक मूल्यों का विघटन का चित्रण, राजनेताओं के दोगले चेहरों पर फर्दाफाश तथा आम आदमी का निरंतर शोषण का चित्रण हुआ है। आधुनिक जीवन की रूढ़िगत अनुभवों को मंचीकरण करने में 'हानुश', 'कबिरा खड़ा बाजार में' आदि नाटकों के द्वारा सफल संप्रेषण हुआ है।

इस युग में पहली बार शैली और शिल्प के धरातल पर एक, दो.तीन अंकों के नाटक, केवल दृश्यों के नाटक, मुक्ताकाशी, खुला रंगमंच के प्रयोग हुए। पश्चिमी प्रभाव के रूप में ब्रेख्त, स्तानालावस्की आदि की नाट्यावधारणाओं का प्रभाव नाटकों पर पड़ा। लोक नाट्य से भी प्रभाव आए। नाटक को जनता के बीच ले जाने के प्रयास नुक्कड नाटक के रूप में सामने आए। कुलमिलाकर पचासोत्तर नाट्य अपना रूप तलाश करने की प्रक्रिया में प्रयोगों की लंबी यात्रा से गुजरा।

सांप्रदायिकता का नये रूप को भी पचासोत्तर नाटककार अपने कथ्य बनाते हैं। धर्म पर होनेवाले अनेक उलझनों को अपने नाटकों द्वारा समकालीन नाटककार असगर वजाहत इत्यादि व्यक्त करते हैं। उसी तरह अब तक उपेक्षित किए गए वर्ग दलित और स्त्री को भी पचासोत्तर नाटकों में केन्द्रबिन्दु पर खड़ा करते हैं। स्त्री अस्मिता को रूप देने में धर्मवीर भारती से ही प्रयत्न हमें देखने को मिलते हैं। उसी प्रकार माता प्रसाद अपने नाटकों के कथ्य में दलित जीवन की विसंगतियों का विश्लेषण करते हैं।

इस प्रकार पचास के बाद बदली हुई परिस्थितियों में और इस युग के दबाव में नाटक अपने कथ्यगत वैशिष्ट्य को बढ़त्व देते हुए अधिक मुखर समर्थ होकर निरंतर रंगयात्रा कर रहा है। कथ्यगत परिवर्तन अनेक तरह के वैशिष्ट्य को लेकर जीवन के निकटतम अनुभवों का तलाश करने में अनेक प्रयोगों का शिकार बन पड़ा है। साहित्यिक मूल्यों कि दृष्टि से यह पचास साल बड़ी परिवर्तनगामी साहित्य की सृजन की हैं। अनेक नव नाटककारों ने उभर कर बाहर आये हैं और अपने नाटको द्वारा नाट्य परंपरा को और आगे ले जाने का प्रयत्न किये हैं। अंत में यह कह सकते हैं इस 1950 से 2000 तक के काल में हिन्दी नाटक ने परिवर्तन की विविध आयामों को आगे ले जाने के लिए बहुत से प्रयोग किए हैं ज्यादातर इसमें सफलता ही प्राप्त हुई है।

संदर्भ सूची

1.नटरंग विवेक - नारायणराय - पृ-15
2.नटरंग विवेक - नारायणराय - पृ-15
3. नटरंग विवेक - नारायणराय - पृ -16
4.टूटे परिवेश - (आमुख से) - गोविन्द चातक - पृ - 7,8
5.स्वातंत्र्योत्तर हिन्दी नाटक : समस्या और समाधान - डॉ. दिनेश चन्द्र वर्मा - पृ - 36
6. अंधा युग - धर्मवीर भारती - पृ - 11,12
7.अंधा युग - धर्मवीर भारती - पृ - 12
8.अंधा युग - धर्मवीर भारती - पृ -13
9. सिंहासन खाली है - सुशील कुमार सिंह - पृ - 9
10. सिंहासन खाली है - सुशील कुमार सिंह - पृ - 21
11.बकरी - सर्वेश्वर दयाल सक्सेना - पृ - 19
12. हानुश - भीष्म साहनी - पृ - 73
13. तडप मुक्ति की - माता प्रसाद - पृ - 15
14. श्रीमद् भागवत - गीतारहस्य - तिलक - पृ - 435
15. हिन्दी साहित्य कोश - धीरेन्द्र वर्मा - पृ - 47
16. Language and Reality - Urban - pg -403
17अंधायुग - धर्मवीर भारती - पृ -130
18.अंधा युग - धर्मवीर भारती - पृ - 42
19.अंधा युग - धर्मवीर भारती - पृ - 23
20.अंधा युग - धर्मवीर भारती - पृ - 35, 36
21.रागदरबारी - श्रीलाल शुल्प, गिरीश रस्तोगी - पृ - 12
22.रागदरबारी - श्रीलाल शुल्प, गिरीश रस्तोगी - पृ - 21
23.राष्ट्रीय नाट्य विद्यालय द्वारा प्रस्तुत लहरों के राज हंस के परिचय पत्र में प्रकाशित लेखक वक्तव्य से उदृत
24. लहरों के राज हंस - मोहन राकेश - पृ - 127
25. आषाढ का एक दिन - मोहन राकेश - पृ - 109,110
26. बकरी - सर्वेश्वर दयाल सक्सेना - पृ - 26,27
27.बकरी - सर्वेश्वर दयाल सक्सेना - पृ - 31
28. द्रौपदी - सुरेन्द्र वर्मा - पृ - 7
29 कबिरा खडा बाजार में - भीष्म साहनी - पृ - 27,28
30. तडप मुक्ति की - माता प्रसाद - पृ - 49
31. आत्मनेपद - अज्ञेय - पृ - 41
32.नयी समीक्षा : नये संदर्भ - पृ - 62
33.अधायुग - धर्मवीर भारती - पृ - 44

34.अधायुग - धर्मवीर भारती - पृ - 96
35.अधायुग - धर्मवीर भारती - पृ - 128,129
36.आषाढ का एक दिन - मोहन राकेश - पृ - 107
37. अधायुग - धर्मवीर भारती - पृ - 108
38.राष्ट्रीय नाट्य विद्यालय द्वारा प्रस्तुत लहरों के राज हंस के परिचय पत्र में प्रकाशित लेखक वक्तव्य से उद्दृत
39.लहरों के राज हंस - मोहन राकेश - पृ -127
40.लहरों के राज हंस - मोहन राकेश - पृ -127
41.लहरों के राज हंस - मोहन राकेश - पृ -128
42.आधे अधूरे - मोहन राकेश - पृ - 12
43.कबिरा खडा बाजार में - भीष्म साहनी - पृ - 99
44.बकरी - सर्वेश्वर दयाल सक्सेना - पृ - 62
45.करफ्यू - लक्ष्मीनारायण लाल - पृ - 125
46. पाँच नाटक - वजाहत - पृ - 108
47. तडप मुक्ति की - माता प्रसाद - पृ - 60
48.मानव समाज - किंग्स लेडेविस - पृ - 318
49.भारतीय मध्यवर्ग और सामाजिक उपन्यास -डॉ. पी. यम.थामस -पृ - 36
50.साठोत्तर हिन्दी नाटक - लवकुमार लवलीन - पृ - 71
51. आधे अधूरे - मोहन राकेश - पृ- 21
52. आधे अधूरे - मोहन राकेश - पृ - 12
53. आधे अधूरे - मोहन राकेश - पृ - 92
54. सिंहासन खाली है - सुशील कुमार सिंह - पृ - 53
55. रागदरबारी - श्री लाल शुल्क - पृ - 16
56. साठोत्तर नाटककार - पृ -76
57. द्रौपदी - सुरेन्द्र वर्मा - पृ - 19
58. बकरी - मोहन राकेश - पृ - 34, 35
59. कबिरा खडा बाजार में - हानुश - पृ - 15
60. वशीयत - नाग बोड्स - पृ - 42
61.आधुनिक हिन्दी नाटकों में नायक - डॉ. श्याम शर्मा - पृ-69,70
62.Social Insurance - william Lord Beveridge - pg - 242
63. अधायुग - धर्मवीर भारती - पृ - 12
64.राग दरबारी - पृ - 22
65. सिंहासन खाली है - सुशील कुमार सिंह - पृ - 13
66. सिंहासन खाली है - सुशील कुमार सिंह - पृ - 36
67. सिंहासन खाली है - सुशील कुमार सिंह - पृ - 36
68. बकरी - सर्वेश्वर दयाल सक्सेना - पृ - 50

69.बकरी - सर्वेश्वर दयाल सक्सेना - पृ - 56
70.बकरी - सर्वेश्वर दयाल सक्सेना - पृ -62
71.बकरी - सर्वेश्वर दयाल सक्सेना - पृ - 78
72.बकरी - सर्वेश्वर दयाल सक्सेना - पृ - 79
73. पांच नाटक - इन्ना की आवाज़ - असगर वजाहत - पृ - 102
74. हानुश - भीष्म साहनी - पृ - 71
75.तीन नाटक - दलित-नाग बोड्स - पृ - 131
76. साठोत्र हिन्दी नाटककार - लवलीन - पृ - 41
77. चिंतामणि - भाग -1 - शुक्ल - पृ - 68
78. The art of loving - Erich fromn - pg- 22
79. वात्सायन कामसूत्र - अनु- कविराज बिपिनचन्द्र - पृ - 20
80. Studies in Psychology - Havoloc Ellis - pg -373
81. नयी रंगचेतना और हिन्दी नाटककार - जयदेव तनेजा - पृ - ६२
82.आधे अधूरे - पृ - 19
83.आधे अधूरे - पृ - 92
84. तीन नाटक - सुरेन्द्र वर्मा - पृ - 29
85. तीन नाटक - सुरेन्द्र वर्मा - पृ - 35
86. द्रौपदी - सुरेन्द्र वर्मा - नटरंग - 32 - पृ - 21
87. द्रौपदी -सुरेन्द्र वर्मा - नटरंग - 32 - पृ -26
88. द्रौपदी - सुरेन्द्र वर्मा - नटरंग - 32 - पृ -12
89. द्रौपदी - सुरेन्द्र वर्मा - नटरंग - 32 - पृ - 21,22
90. सूर्य की अंतिम किरण से सूर्य की पहली किरण तक - पृ - 29
91. सूर्य की अंतिम किरण से सूर्य की पहली किरण तक - पृ - 51
92. सूर्य की अंतिम किरण से सूर्य की पहली किरण तक - पृ - 52
93. सूर्य की अंतिम किरण से सूर्य की पहली किरण तक - पृ - 54,55
94. करफ्यू - लेखक की डायरी से - पृ - 5
95. करफ्यू - लक्ष्मीनारायण लाल - पृ - 36
96. करफ्यू - लक्ष्मीनारायण लाल - पृ - 88
97.योर्स फेथफुली - मुद्राराक्षस - - पृ - 41,42
98.योर्स फेथफुली - मुद्राराक्षस - पृ - 48
99.साठोत्तर हिन्दी नाटककार - लवकुमार लवलीन - पृ - 26
100. हिन्दी रंगकर्म : दशा और दिशा - जयदेव तनेजा - पृ - 141,142
101. नुक्कड नाटक - चन्देश - (भूमिका से)
102. नुक्कड नाटक - चन्देश - (भूमिका से)
103.The Right to Perform - Safdar Hashmi - Pg - 12
104. नुक्कड नाटक - चन्देश - (भूमिका से)

105. सफदर हाशमी - दीर्घा - अंक -36 - पृ - 26
106.औरत - सफदर हाशमी - जनम - पृ - 54
107.सुजाता मायने कैसा - राजेश कुमार - मुकुल मुक्ति - जून 74 - पृ- 41
108.सफदर - सहमत - पृ - 157
109. सफदर - सहमत - पृ - 163
110.सवासेर गेहूँ - राजेश कुमार नुक्कड नाटक चन्देश - पृ - 28, 29
111. 'अपहरण भाईचारे का जनम' - उद्‌भावना से जान-मार्च - 87-पृ- 21
112चौकचौक पर गली गली में - भाग दो - सहमत - पृ - 56, 57
113,चौकचौक पर गली गली में - भाग दो - सहमत - पृ -50
114. चौक चौक पर गली-गली भाग-1 - सहमत - पृ-62
115.गरीबी रेखा - मधुकर सिंह, मुक्ति से - पृ - 43
116.हत्यारे -जनम - पृ - 31
117.सफदर-सहमत - पृ - 156
118. स्वातंत्र्योत्तर युगीन परिप्रेक्ष और नुक्कड नाटक -
- मदन मोहन शर्मा - पृ - 82, 83
119.स्वातंत्र्योत्तर हिन्दी नाटक - विचार तत्व- अवधेश चन्द्र गुप्त - पृ -77
120. पांच नाटक - असगर वजाहत - पृ - 151
121. पांच नाटक - असगर वजाहत - पृ -254
122. पांच नाटक - असगर वजाहत - पृ -184
123. स्वातंत्र्योत्तर युगीन परिप्रेक्ष और नुक्कड नाटक -
- मदन मोहन शर्मा - पृ - 172
124.चौक चौक पर गली गली में - भाग दो - सहमत - पृ - 165
125.चौक चौक पर गली गली में - भाग दो - सहमत - पृ - 115
126.चौक चौक पर गली गली में - भाग दो - सहमत - पृ - 136
127. मूल प्रशन - पृ - 5
128. अधायुग - धर्मवीर भारती - पृ - 102
129 आषाढ का एक दिन - मोहन राकेश -
130.लहरों केराज हंस - मोहन राकेश - पृ - 106
131.आधे अधूरे - मोहन राकेश - पृ - 84.
132.देवयानी का कहना है - रमेश भक्षी - पृ - 33
133.एक और अजनबी - मृदुला गर्ग - पृ - 103
134. बिना दिवारों के घर - मन्नु भंडारी - पृ - 100
135.संस्कृत शब्दार्थ कौस्तुभम - सं चतुर्वेदी द्वारका प्रसाद वर्मा - पृ -524
136.व्यावहारिक संस्कृत अंग्रेजी कोश - वामन शिवराम आप्टे - पृ - 451
137. Dalit Writing achivement and Prosepectus -dadamore - पहली दलित सम्मेलन - 1994

138.माता प्रसाद की अभिनंदन ग्रन्थ - सृजन - पृ - 123
139. बकरी - सर्वेश्वर दयाल सक्सेना - पृ - 33
140. बकरी - सर्वेश्वर दयाल सक्सेना - पृ - 52
141.तडप मुक्ति की - तडप मुक्ति की - पृ - 29.
142.तडप मुक्ति की - माता प्रसाद - पृ - 59
143.धर्मपरिवर्तन - माता प्रसाद - पृ - 55
144. अंतहीन बेडिया - माता प्रसाद - पृ - 172
145.दलित साहित्य नेपद्य - डॉ. यस. वी. सत्यनारायण - पृ - 4
146. तीन नाटक - नाग बोड्स - पृ - 41
147. नटरंग - 1972 - अक्तूबर-दिसंबर खण्ड -6 - अंक - 21 - पृ- 4

तृतीय अध्याय

3. हिन्दी नाटक परिवर्तन के आयाम : विधा

3. हिन्दी नाटकःविधा परक परिवर्तन

3.1 गीति नाट्य

3.2 लोक नाट्य

3.3 नुक्कड नाटक

3.4 नाट्य रूपांतरण

3.4.1 उपन्यास का नट्यरूपांतरण

3.4.2 कहानी का नाट्य रूपांतरण

3.5 अनुवाद

निष्कर्ष

3. हिन्दी नाटक : परिवर्तन के आयाम : विधा

हिन्दी नाटक में परिवर्तन या विकास के लक्षण स्वतंत्रता के बाद से प्रस्फुटित होने लगे। अपने आस-पास के जीवन को, बदलते परिवेश और जीवन मूल्यों को, सम सामयिक अनुभव को नाटक की सर्जनात्मकता के साथ प्रस्तुत करने और संप्रेषण करने की अच्छी शुरुआत हुई। पचासोत्तर नाटककारों में सजगता उत्पन्न हो गई उससे अपनी जमीन और परंपराओं से जुडने की, जुडकर कुछ नया, आधुनिक और नितांत आत्मीय कहने की आकुलता उत्पन्न हो गई। इन तमाम परिवर्तनों के तहत रंगमंच को पश्चिमी प्रयोगों वा प्रभावों के बोझिलपन से मुक्त कर जनमानस और भारतीय शास्त्रीय और लोक परंपराओं से संबद्ध होकर सहजता एवं उन्मुक्तता देने की प्रयत्न शुरू हो गये हैं।

साहित्य की हर विधा परिवर्तन की प्रक्रिया को अपनी सामर्थ के अनुसार ग्रहण करती है, और उस परिवर्तन की प्रतिक्रिया द्वारा अपनी भूमिका निभाती है। पचासोत्तर नाटक परिवर्तन गामी है। मनुष्य अपनी समय की सामाजिक, राजनीतिक, और धार्मिक प्रवृत्तियों से परिवर्तित होता है उसके साथ अपनी साहित्य को भी परिवर्तित करता रहता है। मनुष्य अपने सोच-सुविधा के अनुसार अपनी मान्यताएँ बदलता रहता है।

साहित्य मानव की चेतना और विचारों का समाहार रूप है। इसीलिए उस में मनुष्य जीवन की वास्तविकताओं की अभिव्यक्ति अनिवार्य रूप से होता है। साहित्य समाज के असली रूप को प्रतिष्ठित करने के लिए प्रयत्न करती है। साहित्य समाज व्यवस्था का एक अनिवार्य अंग है। समाज में जो भी परिवर्तन का चिन्ह दीखता है तो उसको साहित्य ग्रहण करके एक दिशा प्रदान करती है। गतिशीलता समाज में ही नहीं साहित्य में भी दिखाई पड़ती है। उस साहित्य का सार्थक अध्ययन की आवश्यकता है।

हिन्दी नाटक जीवन के वैयक्तिक और सामाजिक संदर्भ से जुड़ा होने के कारण वास्तविक प्रक्रियाओं को व्यक्त करता है। नाटक का कथ्य कितना भी व्यक्ति परक हो परंतु वह एक समाज को साथ लेकर चलता है अर्थात एक से अधिक व्यक्तियों से सामूहिक प्रयास द्वारा ही दृश्यता को प्राप्त करता है। - ***"हिन्दी नाटककारों ने जीवन के व्यापक स्तर पर इसी प्रकार की अनेक घटनाओं को अपनी कृतियों का प्रतिपाध्य बनाया है जहाँ जीवन की इस द्वन्द्व मूलक स्थिति के बीच ही इस का विकास माना है।"***[1] हिन्दी नाटक में यदि एक ओर वस्तुगत प्रतिपादन में

नवीनता आई तो दूसरी ओर शैली एवं शिल्प के नवीन प्रयोग भी हुए। भावुकता पूर्ण वातावरण, कल्पनाजन्य चित्र एवं काव्यमय जीवन का परिप्रेक्ष्य में मूल्यांकण करता हुआ पचासोत्तर नाटककार आधुनिक जीवन की बड़ती हुई समस्याओं को अधिक जागरूकता से अभिव्यक्त करते हैं। भारतेन्दु काल से ही हिन्दी नाट्य रंग में प्रयोग मिलता हैं। उन प्रयोगों के सीमा बड़कर नाटक में अन्य विधाओं का सृजन किया गया है।

कोई भी विधा अपने आप सृजित नहीं होती है। उसके सृजन के पीछे सामाजिक मांग और नाटककार से जुड़ा हुआ परिवेश का हाथ रहता है। नाटक प्रयोगों के लिए एक सशक्त माध्यम है क्योंकि उसमें भाव, विचार, रूप एवं दृश्य का समाहार मिलता है। - ***"वस्तुतः रमणीयता का ऐसा सर्वेश विधान नाटक की अतिरिक्त अन्य किसी विधा में सहज नहीं, यह निर्विवाद है। वास्तव में आत्मप्रेरित भाव-राशि का जितना पूर्ण, जितना सचित्र एवं जितना सजीव प्रत्यक्षीकरण नाटक में हो सकता है, उतना किसी भी अन्य व्यंजनाओं में नहीं, क्योंकि जिस स्वरूप और प्रवेश से भावना और विचार का उद्वेलन हमारे आंतरिक जगत में होता है तथा जिस अध्याय के लिए एवं जिस स्वरूप में हमारी आत्म उनकी आकार देने के लिए व्याकुल हो उठती है, उन सब का परिपूर्ण प्रतिफलन और अवतरण नाटक के अतिरिक्त किसी अन्य अभिव्यक्ति में संभव नहीं।"***[2]

समाज के आर्थिक, नैतिक, राजनीतिक ढाचे में परिवर्तन के साथ साथ मूल्य में भी परिवर्तन होता रहता है। नये युग के आगमण के साथ साथ नयी मान्यताएँ और नये मूल्य स्थापित होने लगे। पचास के बाद के युगानुकूल परिवेश से उपजा हुआ नाटक में अपने साहित्यिक मान्यताओं में अनेक मौलिक परिवर्तन मिलते हैं। पचासोत्तर नाटक अपने कहे हुए विषय को सांस्कृतिक दृष्टि से अभिव्यक्त करता है। जनता की आकांक्षाओं के अनुसार हिन्दी नाटक अनेक अन्य विधाओं के सहायता से अपने आपके सुसोभित करता है। प्रत्येक विधा नाटक को जन जीवन से जुड़ने की कार्य में ही प्रयत्न करते हैं।

जो भी हो, कोई काल अथवा तो विधा अपने पूर्ण विकसित रूप स्वरूप के साथ अनायास ही अवतरित नहीं होती। उसकी उद्‌गामी मूल पहले से किसी-किसी न रूप, अवस्था में निहित होता है। अपने प्रारंभ से वह सतत विकास करती हुई अपना रूप निखार लेती है और उसका विवेचना या निर्धारण अविकसित, अल्पविकसित या फिर अर्द्धविकसित अवस्था में किया जाता है तो वह समग्र नहीं हो सकता।

कोई भी विधा अपनी विकास यात्रा के क्रम में ही नवीन रूप धारण करती रहती है। कहीं पर वह कथ्य या वस्तुगत परिवर्तन का शिकार होती है तो कहीं रूपगत नवीनता का। नाटक ने भी समय-समय पर सम सामयिक परिवेश और युगीन आग्रह के अनुरूप अपने रूप और कथ्य को बदला है। कहीं पर वह उपरूपकों के रूप में अवतरित हुआ है तो कहीं पर एकांकी और गीतिनाट्य के रूप में। कहीं पर यदि उसने नाट्य रूपांतर को अपनाया है तो कहीं नुक्कड नाटक को। लेकिन, नाट्य के तात्विक वैशिष्ट्य को उसने हर जगह प्रवाहमान ही रखा है।

3. हिन्दी नाटक : विधापरक परिवर्तन

आधिनुक हिन्दी नाटक भारतेन्दु एवं प्रसाद के प्रतीकात्मक दृष्टिकोण का स्पर्श पाकर एक नवीन रूप में प्रस्तुत हुआ। यह रूप संस्कृत, लोक नाट्य परंपराओं एवं पश्चिम की विवध नाट्य परंपराओं का समन्वित रूप था। वहीं रूप पचासोत्तर नाटकों में कथ्य और शिल्प दोनों ही आधार पर एक नए आयाम में ढ़लने लगा। इस संदर्भ में डॉ. सुरेश चन्द्र शुक्ल का वक्तव्य सही लगता है कि - ***"नाट्य लेखन के स्तर पर सर्वाधिक महत्वपूर्ण उपलब्धी विषयगत नवीनता, मानवीय संवेदना एवं अनुभूतिगत सत्यता है। आधुनिक युग में व्यक्तित्व के संघटन की समस्या प्रमुख रूप से अधिकांश नाटकों का विषय रही है। 'मादा कैक्टस' का 'अरविंद' 'अन्धा युग' का 'अश्वत्थामा', 'राकेश' के 'अषाढ़ का एक दिन' का 'कालिदास', 'आधे अधूरे' की 'सावित्री' आदि सभी पात्रों के समक्ष अपने व्यक्तित्व को संघटित करने एवं उसकी तलाश है। सभी पात्र अपने युग की स्थापनाओं के विरुद्ध एक व्यापक यथार्थ के परिवेश में अपने व्यक्तित्व को खोजते हैं। व्यक्तित्व की यहीं खोज और पहचान आधुनिकता एवं आधुनिक नाटक का प्रमुख एवं मूल प्रश्न है।"***[3]

आजादी मिलने के बाद अर्द्ध शताब्दी के हिन्दी नाट्य लेखन पर गैर करें तो वह अपना समय और समाज का सच्चा एवं साफ़ दर्पण जैसा दीखता है। पचासोत्तर नाटककार ने बंधी बंधाये फार्मूलाबद्ध दृष्टिकोण के, रूढ़ियों और पुराने संस्कारों के विरुद्ध एक लड़ाई लड़ी है। उन्होंने नाटक के कलेवर को ही नहीं प्रक्रिया को भी बदला, रंगमंच को गति और जीवन दिया और नाटक के प्रति मौलिक समीक्षा दृष्टि की आवाज उठायी।

साहित्य सृजन के लिए कोई सीमा नहीं होती है। एक ही क्रम में जाकर पनपनेवाली कोई साहित्य प्रक्रिया ज्यादा दिन तक प्रतिष्ठित नहीं होती है। जनेच्छा

को प्रतिबिंबित करने केलिए अपने प्रारूप को बदलना आवश्यक है। साधारण रूप से कविता, उपन्यास, कहानी आदि अपनेक्षाकृत लोक प्रिय हैं, उनकी मांग कहीं अधिक है, उनके माध्यम से पाठक तक सीधे पहुँचना अधिक सहज और सुलभ है। इसलिए पचासोत्तर नाटककार उपन्यास और कहानियों के तत्वों को अपने नाटकों के प्रारूपों में लाने का प्रयत्न करते हैं। नाटक साहित्य की कठिन विधा होते हुए अपने आप को प्रयोगों के लिए समायत करने में सक्षम होता है। पचासोत्तर नाट्य जगत में अनेक प्रयोग मिलते हैं। कथ्य परक, शिल्प परक, शैली परक प्रयोगों के साथ-साथ विधा परक प्रयोग भी मिलते हैं। हिन्दी की सृजनात्मक साहित्यिक विधाओं में एक होने के कारण नाटक अपने कथ्यगत ढांचा को बदलने के लिए युगानुकूल रंगमंचोपयोगी नाटक लिख सके।

नाटक के प्रयोगों में प्रायः किसी युग के जीवन में अभिव्यक्त सामाजिक संबंधों और उससे प्रकट होनेवाले मूल्यों और मान्यताओं का दर्शन होता है। विशुद्ध-से-विशुद्ध और व्यक्तिगत रूप में भी नाटक पारस्परिक संबंधों और अनेक मूल्यों पर किसी- न-किसी प्रकार की टिप्पणी हुए बिना नहीं रह सकता। नाटक का उद्धेश्य सदा विचारधारा परक होना चाहिए इस केलिए पचासोत्तर नाटककार अपने कहे हुए बात को अनुभूति पूर्वक कहने के लिए प्रयत्न करते हैं। ***"इस मामले में हिन्दी नाटक, पश्चिमी नाट्य रूपों शिल्प पद्धतियों को लेकर तो प्रयोग कर ही रहा है, साथ ही उसमें पूरी तरह भारतीय नाट्य-रूपों की खोज में परंपरा के नये और आधुनिक सर्जनात्मक अन्वेषण की कोशिश भी दिखाई देती है।"***[4]

नाट्य साहित्य का बड़ा भारी भाग धार्मिक, राजनैतिक, सामाजिक समस्याओं को लेकर लिखा गया है। पचासोत्तर नाटक सामूहिक आंदोलन का अंग और साधना बन गया है। गीति नाट्य, लोक नाट्य, नाट्य रूपांतर, नुक्कड नाटक, अनुवाद नाटक आदि विधाएँ हिन्दी नाट्य जगत में पचास के बाद प्रवेश करते है। स्वतंत्र विधाओं के रूप में अभिव्यक्त होकर अपने-अपने छाप पचासोत्तर नाटक पर छोड़ते हैं। देश की जागरूक रंगकर्मी ने प्रयोग वादी पद्धति.यों को दृष्टि में रखकर अनेक बहुभाषीय नाटकों को हिन्दी में अनुवाद किए हैं। अनेक कहानियों और उपन्यासों को रूपांतरित करते हैं। इस कराण से हिन्दी नाटक का क्षेत्र और भी विस्तार बन गया है।

जो भी नाट्य विधाएं पचासोत्तर नाटकों में देखा जाता है वे सब भारतेन्दु काल में भी प्राप्त होते हैं। लेकिन नयी दृष्टि से नये रूप से रंगमंच को परिप्रेक्ष में रख कर पचास के बाद सामने आते हैं पुराणे आयामों को नवीन रूप में प्रस्तुत करना पचासोत्त्र नाटककारों का एक प्रधान लक्षण रहा है। उसी लक्षण के अनुसार हिन्दी

रंगकर्मी गीति नाट्य, लोक नाट्य तदितर प्रक्रियाओं को एक विधा परक स्थित प्राप्त करने में सक्रिय होते हैं।

3.1 गीति नाट्य

साहित्य के अंतर्गत और विशेष रूप से नाट्य विधा पद्य और काव्य प्रधान रहीं है। शास्त्रीय परंपरा के नाटकों में से अधिकतर नाटक अपने में काव्यात्मकता, पद्यात्मकता को समेटे हुए हैं। हिन्दी में यदि इस दृष्टि से भारतेन्तु पूर्व के नाटकों पर दृष्टिपात किया जाये तो मुख्य रूप से अनूदित नाटकों पर काव्य का पर्याप्त पर्भाव देखा जा सकता है।

हिन्दीतर भाषाओं में लिखे गये नाटक तो पद्यात्मकता के साथ-साथ नाट्य संदर्भ से भी विभूशित हैं। रवींद्रनाथ ठाकुर, गिरीश चन्द्र की नाट्य रचनाएँ इस क्षेत्र में अधिक चर्चित हैं। पद्यकाव्यों में ठाकुर के 'गीतांजली' की प्रसिद्धी हमें पता है। पश्चात्य साहित्य के नाटक जगत में भी इस विधा को शुरू से ही अधिकाधिक महत्व मिला है। चैदहवीं शताब्दी के प्रथम चरण के दौरान लिखे गये वडर्सवर्थ, कीट्स, शैली, कालरिज आदि के पद्य नाट्य इसकी पुष्ठि करते हैं।

बीसवीं शताब्दी के आते-आते नाटक और रंगमंच को लेकर विचार और दृष्टि में परिवर्तन हुआ। घोर यथार्थवादी नाटकों के विरुद्ध, महायुद्ध की कटुताओं से उत्पन्न अनास्था और अरुचि से बचने के लिए ऐसे नाटकों की आवश्यकता हुई जो सरसता, आस्था एवं सोच प्रधान कर सकें और इस परिस्थिति ने शायद गीति नाट्य का जन्म दिया है। गीति नाट्य परंपरा पर विस्तार से विचार करने से पूर्व उसके स्वरूप तत्व और वैशिष्ठ्य को समझना अधिक उपयुक्त होगा।

गीति नाट्य शब्द से सामान्य तौर पर अभिप्राय लगाया जाता है कि कोई पद्यबद्ध नाट्य रचना गीतिनाट्य हो सकती है, यह गलत है। आधुनिक हिन्दी नाटक में यह नवीन और पुनरोद्भुत नाट्यरूप अपने में गीति-तत्व के प्राधान्य के साथ भाव-प्रमुख भी होता है। साधारण रूप से इस के अंतर्गत नाटक के कार्य व्यापार और घटनाओं का उतना महत्व नहीं जितनाकि भावों का है। ***"गीति एक सहज स्फुरित तत्व है इसलिए इस तत्व का समावेश जितना अनुभूति की तीव्रता के लिए हो सकता है, उतना काव्य सौन्दर्य के प्रदर्शन के लिए नहीं। काव्य सौन्दर्य के प्रदर्शन का ध्येय तो रचनाकार नाट्य तत्वों को आधार बनाये बिना किसी भी काव्य रचना के माध्यम से***

सहज रूप में पूरा कर सकता है। गीति नाट्य में काव्य रचना को नाट्य तत्व की सीमा में रहकर ही अभिव्यक्त होना पड़ता है।" [5]

अंतः संघर्ष और भावना प्राधान्य को रूपान्वित करने के लिए गीति नाट्य रूप को काव्यात्मकता का आलंबन लेना पड़ता है। जिसमें लय, गति, छंद और आरोह-अवरोहों का समावेष होता है। इसलिए डॉ. नगेन्द्र के मतानुसार - ***"गीति नाट्य रूपक का ही एक भेद है जिसका प्राण तत्व है... भावना अथवा मन का संघर्ष और माध्यम है.... कविता।"*** [6] इस प्रकार गीति नाट्य रूपक का प्रमुख भेद होने के साथ-साथ नाट्य तत्वों से ओत-प्रोत होता है।

गीति शब्द का संबंध कुछ विद्वान गीत शब्द से जोड़ते है, तो कुछ अन्य इस lyric (लिरिक) का पर्यायवाची मानते हैं। इसकी परिभाषा देते हुए हीगल ने लिखा है कि - ***"गीति काव्य में किसी ऐसे व्यापक कार्य का चित्रण नहीं होता जिससे बाह्य संसार के विभिन्न रूपों एवं ऐस्वर्य का उद्घाटन हो, उसमें तो कवि की निजी आत्मा के किसी एक रूप विशष के प्रतिबिंब का निर्देशन होता है।"*** [7] इस परिभाषा में वैयक्तिकता और भावात्मकता के तत्वों पर बल दिया गया है।

अर्नेस्ट रिस के मातानुसार - ***"गीति काव्य एक ऐसी संगीत में अभिव्यक्ति है, जिसके शब्दों पर भावों का पूर्ण आधिपत्य होता है, किन्तु जिसकी प्रभावशालिनी लय में सर्वत्र उन्मुक्त रहती है।"*** [8] इस परिभाषा में वैयक्तिकता, भावात्मकता के साथ-साथ भावों को भी रेखांकित किया गया है। इस गीति नाट्य में मानव मन के मानसिक आवेगों की संवेदनात्मक अभिव्यक्ति होती है और स्थूल कार्य-व्यापार का प्रायः अभाव होता है। कथा के तंतु विरल होते हैं और पात्र प्रतीक बन जाते हैं।

गीति नाटककार को काव्य को महज एक माध्यम के रूपमें अपनाते हुए, उसे एक उपकरण मानते हुए रंगधर्म को किसी भी हालत में अपेक्षित रखना पड़ता है। डॉ. रघुवंश के मतानुसार - ***"ऐसे नाटकों में नाटककार को प्रतीकों की योजना, रंगमंच की सादगी, वेश-भूषा की स्वाभाविकता, शब्दों की ध्वन्यात्मकता का बल मिल जाता है इन्हीं के सहयोग से पद्य-नाटक रंगमंच पर सफल हो सकता है।"*** [9]

गीति नाट्य में बाहरी क्रिया शीलता और संघर्ष के स्थान पर मानसिक भावों का एक- दूसरे के साथ संघर्ष दिखाया जाता है। गीत नाट्य का संपूर्ण कथानक गेय होता है, और उसका अभिनय संगीतमय होता है। गीतिनाट्य में कविता का प्रभाव अन्य प्रभावों से विशेष महत्वपूर्ण होता है। इस गीति नाट्य हिन्दी नाट्य साहित्य में

नवीन विधा का ही एक रूप है और यदि देखा जाय तो उसका इतिहास अभी बहुत संक्षिप्त है। गीति नाट्य के सभी तत्वों को अपने में समेटते हुए उपजा धर्मवीर भारती कृत अंधायुग' को हिन्दी का पहला गीति नाट्य कहना गलत नहीं होगा। इस विधा की महत्ता के बारे में डॉ. जयदेव तनेजा इस प्रकार लिखते हैं कि - ***"अन्धायुग के अतिरिक्त इस क्षेत्र में केवल दुस्यंत कुमार के एक कंठ विषपायी, डॉ. लक्ष्मीनारायण लाल के सूखा सरोवर, अज्ञेय के उत्तर प्रियदर्शी, भरतभूषण अग्रवाल के अग्निलीक, प्रभा कुमार भट्टाचार्य के काठमहल तथा डॉ. विनय कुमार के एक प्रश्न मुत्यु का ही नाम लिया जा सकता है। इस संदर्भ में महत्वपूर्ण तथ्य यह है कि ये सभी रचनाएँ किसी न किसी रूप में अन्धा युग से पर्भावित हैं। परन्तु अलग-अलग अपनी तमाम विशेषताओं के बावजूद समग्रतः अन्धा युग की साहित्यिक रंगमंचीय ऊँचाइयों को छूने में असमर्थ रहीं है।"*** [10]

'अन्धायुग' आधुनिक काल के एक सशक्त नाट्य है। समकालीन यक्ष प्रश्नों और कुछ शास्वत समस्याओं से हमारा सीधा साक्षात्कार करनेवाले डॉ. धर्मवीर भारती की इस नाट्य कृति का नाम 'अन्धायुग' रखना समीचीन ही लगता है। - ***"धृतराष्ट्र की जन्मजात और गांधारी द्वारा स्वयं ओढ़ी गयी अंधता के अतिरिक्त अश्वत्थामा, युयुत्सु, संजय, कृतवर्मा, कृपाचार्य और प्रजा के प्रतीक प्रहरी तक सभी पात्र किसी न किसी कारणवश अंधे हैं और यह कारण व्यक्तिगत नहीं है। यह उस व्यापक राजनैतिक, सामाजिक और धार्मिक नैतिक परिवेशगत अंधता का अनिवार्य परिणाम है, जिसे भारती समग्रतः अन्धी संस्कृति की संज्ञा देते हैं।"*** [11]

आधुनिक नई कविता में जितना काव्य अपेक्षित होता है ,उतना 'अन्धायुग' में विद्यमान है और जहाँ तक काव्य के नाटकीय उपयोग की बात है, उसमें भी भारती नितांत असफल नहीं हुए हैं। इस के अधिकांश पात्र द्विधाग्रस्त हैं। गांधारी पुत्र प्रेम और मोहान्धता के कारण अतिकटु होकर कृष्ण को अपना सबसे बड़ा शतृ समझकर पशुवत् मरने का शाप देती है और कृष्ण उसे पुत्रवत् सहज विनम्रता से स्वीकार कर लेते है। इसी चरम बिंदु पर पाशाणी गांधारी से करुणा का झरना फूट पड़ता है -

"रोई नहीं मैं अपने
सौ पुत्रों के लिए
लेकिन कृष्ण तुम पर
मेरी ममता अगाध है।
कर देते शाप यह मेरा तुम अस्वीकार
तो क्या मुझे दुख होता।

मैं थी निराश, मैं कद्रू थी,
पुत्र हीना थी।"[12]

'अन्धायुग' के संदर्भ में यह बात कही जाती है कि उस पर अस्तित्ववादी चिंतन की छाप है, वही उसके रूप विधान- मुक्त छन्द, ग्रीक कोरस, लय परिवर्तन और अंतराल में वृत्त गन्धी गद्य का प्रयोग आदि भी इलियट से गृहीत बताया जाता है। गीति नाट्य का मुख्य लक्षणों में से मुक्त छन्द एक है। भारती ने मुक्त छन्द और नाटक में संवादों को बोलने की लय पद्धती, शब्दों के बीच के विराम आदि का लाभ उठाकर शब्द क्रम को अपेक्षित और भावात्मक महत्व के अनुसार निर्धारित किया। वस्तुतः संवाद में पंक्ती का छोटा या बड़ा होना, उसका संकोच और विस्तार मुक्त छन्द को अपेक्षित नाटकीयता प्रदान करता है। जैसे -

"युयुत्स :   इसलिए देखकर मुझे आता
बंद कर लिए
पट नागरिकों ने
सब ने कहा
वह है मायावी
शिशु भक्षी
दैत्याकार
गद्धवत् "[13]

'अन्धायुग' में गद्य और पद्य का समाहार है। इसमें पद्यात्मक गद्य और गद्यात्मक पद्य भी मिलते हैं। जहां तक गीति नाट्य तत्व को विस्तार रूप से उपयोग किया गया है। नीचे दिये गये वक्तव्य से हमें यह विषय स्पष्ट मालूम पड़ती है -

"मर्या मत तोड़ो,
तोडी हुई मर्यादा
कुछले हुए अजगर-सी
गुंजलिका में कैरव वंश को लपेटकर सूखी लड़की-सा तोड़
डालेगी।"[14]

'सूखा सरोवर' डॉ, लक्ष्मीनारायण लाल द्वारा रचित गीति नाट्य है। इस में गीति से ज्यादा कविता का तत्व शामिल है। अंतर्गत अनुभूति को व्यक्त करने में नाटककार सक्षम होते हैं। नाटक का प्रारंभ सरोनर के सूखने की घटना से होता है

और बड़े राजा के राज्य छोडने का प्रसंग एवं राजकुमारी के प्रेम और बलिदान का प्रसंग स्मृतिदृश्य के रूप में प्रस्तुत किया जाता है। इस गीति नाट्य की कथा किसी लोक गाथा से जुडा हुआ है।

इस गीति नाट्य में प्रयुक्त कथा कई स्तरों पर प्रतीकार्थों की व्यंजनाएँ प्रस्तुत करता है, सूखा सरोवर, पागल प्रेम, राजा, सिंहासन, सन्यासी, सरोवर का देवता, गूँगी प्रजा, सभी किसी न किसी प्रतीकार्थ को व्यंजित करते है। सरोवर सूख जाने के लिए अनेक कारण बताते हैं। लेकिन असली कारण तो लोगों ने सत्य को छोड़ दिया इस लिए सरोवर सूख गया। इस नाटक के एक पात्र वृद्ध लोगों पर ही अभियोग डालता है कि सरोवर सूखने का बाध्य जनता ही है। यथा -

"नहीं तो क्या...
मृत्यु यहीं न !
कि इससे भी बड़कर है कुछ तुह्मारे
स्वत्व में ?
बंदी कराया था तुमने सत्य कहने पर,
उस बार
सारी जवानी कारागार में पिस गई
अब शेष है बुढापा
ले लो इसे भी।
पर कहूँगा- और भी शक्ति से कहूँगा।
तुम्ही लोगों ने सुखाया है सरोवर को"[15]

गीति नाट्य के लक्षणों में जो नाटकीयता की भावना है उस भावना को प्रयुक्त करने में डॉ. लक्ष्मीनारायणा लाल सफल हुए है। दर्शक को 'अपने-अपने सरोवर' की कल्पना इस गीति नाट्य में संभव है। यथा -

"सरोवर के रस भोगी !
विवशकर ड़ाला सरोवर को !
मैं ने कहा था उस दिन,
ऊचे स्तर में कहा था :-
पानी का घट है सरोवर
छन में फूट सकता,
छनमें सूख सकता।

....

मैंने कहा था।

सरोवर पानी ही पानी नहीं

प्यास भी है

अपनी ही नहीं

सारी नगरी की।" [16]

'सूखा सरोवर' में भाषिक और संवादीय संरचना की विशेषताएं तो दिखाई देती हैं, किन्तु उसमें अपेक्षित रंगमंच की अनुभूति की तीव्रता नहीं है, जो सर्जनात्मक वैशिष्ट्य का आधार बनती है। 'अन्धायुग' और 'सूखा सरोवर' के अलावा 'संशय की एक रात', 'एक कंठ विषमायी', 'अग्निलीक' जैसे गीति नाट्य है लेकिन अन्धायुग के तत्वों जैसे तत्वों की कमी इन नाट्यों में हमें स्पष्ट रूप से दिखाई देता है।

संक्षेप में कहना है तो गीति नाट्य के क्षेत्र में हमारे यहाँ एक शुरुआत ही हो पायी है। केवल अन्धायुग ही इस विधा को प्रमुखता दी है। इस विधा की सबसे बड़ी विशेषता यही है कि भाषा मात्र साहित्यिक न रह कर जीवन अनुभव और मंच से अधिक निकट से आ जुड़ी है। अन्धा युग गीति काव्य तो आज भी प्रेरित करनेवाली है।

गीति नाट्य तत्व में बाहरी क्रिया शीलता और संघर्ष के बजाय मानसिक भावों का संघर्ष दिखाया जाता है। अन्धा युग और सूखा सरोवर दोनों नाटकों में मानसिक भावों का संघर्ष भी दियाई देता है। प्रतीकों की योजना भी दोनों नाटकों में ज्यादा मिलता है। इन्हींके सहयोग से गीति नाट्य रंगमंच पर सफल हो सकता है। इस प्रकार गीतिनाट्य हिन्दी नाट्य साहित्य नवीन विधा का ही एक रूप है। भले ही शास्त्रीय परंपरा और संस्कृत के नाटकों में इस नाट्य रूप के बीज विद्यामान हो, लेकिन उसकी अंतरवस्तु, पद्यात्मकता, शैली और शिल्प को देखते हुए उसे आधुनिक नाट्य का ही एक रूप माना जाना चाहिए।

3.2 लोक नाट्य

संस्कृत नाट्य परंपरा को ह्रासोनमुख होने के संकेत नवी-दसवी सदी से मिलने लगते हैं। देश पर होने वाले विदेशी आक्रमणों वह उनसे उत्पन्न अशांत परिस्थितियों के परिणाम-स्वरूप नाट्य कला निरंतर ह्रासोन्मुक होती चली गयी। यद्यपि संस्कृत में इस युग के नाट्य लेखन तो जारी रहा लेकिन उनमें कला का अभाव बढता ही गया।

मुगल काल में नाटक रचना प्रायः बंद हो गई, उनका अभिनय तो पहले ही बंद हो चुका था, किन्तु लोक जीवन में लोक नाटकों के रूप में नाट्य परंपरा जीवित रहीं।

संस्कृत नाटकों की ह्रासोन्मुख परंपरा में पड़नेवाली खाई को लोकनाट्य ने ही पूरा किया। इस लोक नाट्य का प्रारंभ शायद मानव अस्तित्व व मानव सभ्यता के समान्तर ही लोक धर्मी प्रवृत्ति ने जन्म लिया होगा। लोक रंजकता इस का मूल लक्षण है। प्रकृति के अनेक जंतु, वृक्ष जितना मुक्त है उतना ही मुक्त है यह लोक नाट्य। ***"अतः लोक नाट्य मानव-सभ्यता और संस्कारों के समांतर ही प्रवाहमान है।वह पुरातन काल से ही आज तक युगों के साथ थपेड़ों को झेलते हुए अब भी अपने अस्तित्व के साथ लोक जीवन में सतत प्रवाहमान है। वह सदा से ही जन-साधारण के जीवन के साथ घुलमिला रहा है तथा समय के साथ साथ व बदलती परिस्तितियों के अनुसार अपने को ढ़ालता रहा है।"***[17]

साधारणतः हम यह मान सकते हैं कि बंगला में जात्रा, बिहार में बिदेशिया, अवधी, पूर्व हिन्दी, ब्रज तथा खडी बोली में रास, स्वांग, नौटंकी, भांड आदि की जन्म लोक नाटक से ही स्वीकार करते है। लोक नाटक की अपनी विशेषता है कि वह अपनी प्रस्तुति हेतु किसी विशिष्ट रंगमंच की अपेक्षा नहीं रखता। आज भले ही लोक रंगमंच कुछ हद तक व्यावसायी हो गया हो लेकिन उसकी प्रारंभिक अवस्था ऐसी नहीं रही होगी।

लोक नाट्य अपने शुरुआत में लोक परंपरा, त्योहार और अनुष्ठानों से जुड़ा हुआ है। जबसे उसने कुछ अंशों में व्यावसायिकता को अपनाया है तबी से उसका मंच भी प्रभावित हुआ है। संक्षेप में लोक नाट्य परंपरा का आध्योपरांत हमारे बीच जीवित होना इस बात की पृष्ठी करता है कि उसकी परंपरा अबाध रहीं है और वह लोक मानस के संस्कारों से पूर्णतः अनुप्राणित है। वेदकालीन नाटक से लेकर आज के नाटक के बीच के अंचतराल को पूरा करने में लोक नाट्य ने अपनी महत्वपूर्ण भूमिका निभायी है।

संस्कृत नाट्य प्रवृत्तियों से अनुबंधित इन नाटकों के संदर्भ में डॉ, वीरेन्द्र कुमार शुक्ल का कथन उचित है कि - ***"पूर्व भारतेन्दु काल से भारतेन्दु युग तक नाटककारों की प्रवृत्ति संस्कृत नाट्य साहित्य तथा पौराणिक आख्यायनों को भाषांतर रूप दे कर हिन्दी नाट्य. साहित्य की परंपरा का आविर्भाव करना रहा है। ...नाटककारों की मूल प्रवृत्ति अनुवादों की ओर थी। ....समकालीन सामयिक वातावरण के प्रभाव के इस युग की मूल मनोवृत्ति प्रतीत होती है। इस युग के नाटककारों ने प्रेम- व्यापार के***

साथ वीर रस की अभिव्यक्ति से कथानकों को अनुप्राणित किया है। ...हिन्दी नाटकों में भी उसका अनुसरण किया गया था।"[18]

पचासोत्तर नाटककारों ने लोक नाटक शैली को अपनाया और इसलिए समकालीन हिन्दी नाटक के कथ्य और शिल्प पर इनका प्रभाव पड़ा था। कथ्य पर यह प्रभाव शिल्प की अपेक्षा कम पड़ा था । ***"उसके अतर्गत सत्य, करुणा, न्याय, उत्सर्ग, त्याग तथा जाति और संप्रदाय से परे एक व्यापक मानवतावाद के मूल्य आते हैं, अन्याय और असत्य के विरुद्ध स्तय और न्याय के लिए संघर्ष के मूल्य आते हैं और इन मूल्यों को ही समकालीन हिन्दी नाटकों में नये संदर्भों के साथ प्रस्तुत किया गया है।"***[19]

पचासोत्तर नाटककारों द्वारा हिन्दी नाट्य लेखन की दिशा बदलने में और हिन्दी रंगमंच को बदले हुए रूप में अधिक विकसित कल्पनाशील, व्यापक और उन्मुक्त बनाने में, उसे नयेपन और लोक जीवन से संबद्ध करने के लिए प्रयत्न किये गये हैं। मणि मधुकर, सर्वेस्वर दयाल सक्सेना, मुद्रा राक्षस, हबीब तन्वीर इस लोक नाट्य शैली को अपनाकर पचासोत्तर नाटकों को एक नया दिशा देने का प्रयत्न करते हैं।

'नया थियेटर' के साथ दिल्ली तथा महानगरीय दर्शकों को लोक नाट्य शैली से प्रभावित करके हबीब तन्वीर ने ग्रामीण कलाकारों की अभिनय से हिन्दी रंगमंच को एक नया दिशा दिये हैं। उनके नाटक 'आगरा बाजार', 'गाँव का नाम ससुराल', 'चरण दास चोर', 'इन्द्र सभा' में लोक नाट्य शैली का प्रभाव मिलता है। 'आगरा बाजार' में दो फकीरों के माध्यम से नाटक के विभिन्न घटनाचक्रों को वर्णन कराते हैं, जो दर्शकों के बीच से प्रवेश करते हैं और बाहर जाते हैं। वे नजीर की कविताओं की पंक्तियों गाते हैं, जिनमें मंच की घटनाओं पर प्रतिक्रिया होती है। तन्वीर का यह तरीका लोक रंगमंच के रंग और नट-नटी से मिलता जुलता है।

हबीब तन्वीर के नाटक ग्रामीण और शहरी दर्शकों को समन्वय करके प्रसंसनीय प्रभाव पैदा करते हैं। हबीब तन्वीर के नाटकों के लोक नाट्य शैली का प्रभाव पर दृष्टि लगाते हुए कैथरीन हुसैन इस प्रकार लिखते है कि - ***"रंगा या वितरणकार, स्थानीय लोगों का प्रतिनिधि समूह गीत, पारंपरिक काव्यात्मक छन्द गीत और नृत्य खुले मंच पर प्रस्तुति, व्यग्य और उपदेश प्रधानता- ये इन सभी नाटकों के समान तत्व है। ये सभी विशेषताएं लोक रंगमंच की परंपरा में प्रत्यक्ष देखी जा सकती है, विशेष रूप से नौटंकी में।"***[20]

राजस्थान में 'सुरंध्यानी ख्याल' नामक लोक नाट्य शैली से प्रेरित होकर मणि मधिकर 'रसगंधर्व' नाटक लिखते है। 'रसगंधर्व' देश के सामाजिक, राजनैतिक विशेष कर राजनैतिक संदर्भों को लेकर चलानेवाला, विसंगतियों को और आज की व्यवस्था में आम आदमी की जीन्दगी को चुबते व्यंग्य और हास्य के साथ प्रस्तुत करता है। दो अंकों की इस नाटक में मुख्य स्थल जेल का एक हिस्सा जो स्वयं व्यवस्था रूपी कैदखाने का प्रतीकात्मक संकेत बन जाता है। सामान्य की दिशाहीनता का परिचय नाटककार इस प्रकार करते हैं कि -

"हम क्या चाहते है?
कहाँ जाना चाहते है?
दायें या बायें?
रास्ता किस ओर है?
भविष्य कैसा हो? "[21]

दूसरी ओर :-

"मौत तुम्हारी आँखों में है और
जीवन तुम्हारी दमनियों में
गरीबी हट गयी
कुर्सी पट गयी
रात कट गयी"[22]

इस प्रकार इस नाटक में लोक नाट्य तत्वों की सहायता से जनता की जिंदगी से जुड़े सारे संदर्भ और व्यवस्था का खोकलापन उजागर करते हैं। यह पद्धति हिन्द नाट्य जग को परिवर्तित करनेवाले तत्वों में से एक है। डॉ. लक्ष्मीनारायण लाल द्वारा लिखित 'एक सत्य हरिश्चन्द्र' नाटक लोक नाट्य में प्रचलित पात्र के मिथकीय चरित्र का समकालीन संदर्भों में प्रस्तुत किया गया है। भारत के ग्राम समाज में आज भी सामंती मूल्यों का दबदबा है इस पर दृष्टि लगाते हुए डॉ. लाल ग्राम में चले परिवर्तन का चित्र प्रस्तुत करते हैं। इस नाटक में हरिश्चन्द्र (लौका) शोषित जनता का पर्तिनिधित्व करता है जिसको 'जीवन भर नरक की आग में जलकर' अपनी परीक्षा देना है। इसकी स्थिति असली हरिश्चन्द्र से भी दयनीय है। सत्य हरिश्चन्द्र के लिए तो इन्द्र एक ही है लेकिन यहाँ इन्द्र असंख्य हैं - पुलित अफसर, नेता, पूँजीपति, दलाल, गुंडा सब के सब इन्द्र है। अगर चैन से जीवन है तो उपयुक्त सबको संतुष्ट करना है। इस नाटक में डॉ. लाल द्वारा लोक नाट्य शैली से प्रतीकात्मक रूपों की

सहयता से समकालीनता का प्रस्तुतीकरण मिलता है। जैसे -

"हरिश्चन्द्र बिके हाथ सतयुग की धर्म हाट में
त्रेता में ही बिके देवता लंक हाट में
भीष्म बिके आखिर द्वापर के राजपाट में
सभी बिकाउ हैं कलयुग में कुछ भी ले लो
हरिश्चन्द्र बोलो तुम किन दामों में यहाँ बिकोगे।"[23]

सर्वेशेवर दयाल सक्सेना रचित 'बकरी' नाटक संपूर्ण लोक नाट्य शैली से ओत प्रोत नाटक है। 'बकरी' को अपने रूप बंध में नया सार्थक और समकालीन परिस्थिति का नाटक कहना चाहिए। इस नाटक की सार्थकता, मूल्यवत्ता सारे ऐतिहासिक क्रम में, आज के संदर्भ में नई शैली के प्रयोग में है। समकालीन सत्य को पारंपरिक नाट्य रूपों के जरिये प्रस्तुतु करने में और एक सही अनिवार्य दिशा के अन्वेशन और उसकी प्रतिष्ठा में सर्वेश्वर का विशेष स्थान है। इस नाट्य की विशेषताओं पर दृष्टि लगाते हुए गिरीश रस्तोगी इस प्रकार लिखते है कि - ***"बकरी बदलते हुए तेवर का सीधा-सादा प्रबावशाली नाटक है जिस में समसामयिक सामाजिक, राजनीतिक व्यंग्य का तीकापन भी है और सारे प्रपंच, दबाव को निरंतर झेलती हुई आम जनता का असंतोष विद्रोह, खींच भरी झुंझलाहट और एक निर्णय भी है। आम आदमी के चारों तरफ छाई क्रूर व्यवस्था के जाल, अन्याय के प्रति साहसपूर्ण प्रहार से सहसा दर्शक जुड़ जाता है क्योंकि यह उसका 'भोगा हुआ सत्य' है।"***[24]

लोक भाषा और वह भी ग्रामीणों के मुह से उनकी बोली का, उनके लहजे, लय का प्रयोग करना, उनकी बोली में उनकी पीडा को व्यक्त करना सार्थक लगता है। नाटक के शुरू में ही नाटककार अपने कथ्यगत परिवर्तन को हमें स्पष्ट कराते हैं। यथा -

"नट विद्रोही है। उसे मंगला चरण पर यकीन नहीं। सारी
मंडली मंगला चरण गाना शुरू करती है। नट चुप रहता है।
नटी के आँखें तरेरने पर वह गाता है पर उसे राजनीतिक संदर्भ के जोड़ जाता है।
नटी : (सववेत)
सदा भवानी दाहिने सम्मुख रहें गणेश
पांच देव रक्षा करें, ब्रह्म, विष्णु महेश।

नट : पांच देव सम पांच दल, लगी ढ़ोंग की रेस
जिनके कारण हो गया देश आज परदेश।"[25]

लोक नाट्य परंपरा में कहे हुए बात को सीधे कहना एक लक्षण है। 'बकरी' नाटक में लोक नाट्य शैली से गीतों द्वारा नाटक की कथा गमन को प्रभावित करनेवाली प्रवृत्ति को लिया गया है। सत्तर के आस पास के राजनीतिक दलों की मानसिकता को सीधे साक्षात्कार इस नाटक में करते हैं। 'झंडा ऊँचा रहे हमारा' गीत को व्यंग्य रूप में नाटककार इस प्रकार लिखते हैं -

"झंड़ा ऊँचा रहे हमारा।
सबसे प्यारा सबसे न्यारा।
झंड़ा ऊँचा रहे हमारा।
सुख सुविधा सर सानेवाला
शक्ति सुधा बरसानेवाला
प्रभुता सत्ता का रखवारा
झंड़ा ऊँचा रहे हमारा।

इस झंडे को लेकर निर्दय
हो स्वतंत्र हम विचरें निर्भय
बोलो शक्ति प्रदाता का जय।

दान दुखी का ताड़न हारा
झंड़ा ऊँचा रहे हमारा।"[26]

नाटक का अंतिम गीत नाटक का संदेश गीत है, जिससे समकालीन संदर्भ बहुत स्पष्टता के साथ उभरे हैं-

दिन में दो रोटी के हो जब देश में लाले पड़े
हो सभी खमोश सबकी जबां पर ताल पड़े,
......बहुत हो चुका अब हमारी है बारी
बदल के रहेंगें ये दुनिया तुह्मारी।"[27]

हबीब तन्वीर द्वारा रचा और नाचा लोक नाट्य शैली में रचित 'चरण दास चोर' भी एक परिवर्तनगामी नाटक है। अपने गुरु को दिया हुआ एक वचन की रक्षा के

लिए सत्यवीर अपने प्राण कबूल करता है लेकिन वचन की नहीं। 'चरण दास चोर' में लोक नाट्य के मूलभूत तत्व हास्य और करुणा के साथ सत्य निष्टा का कथ्य भी उभरता है। संगीत नृत्य युक्त नाचा शैली के माध्यम से प्रस्तुत इस नाटक ने भारतीय लोक रंग परंपरा को समृद्ध किया है। सत्य कहने पर किस तरह के कष्टों को झेलना पड़ता है इस नाटक में चरण दास के चरित्र को देखने से हमें पता चलता है। अंत में रानी चरण दास की हत्या करने के बाद पंथी गायक गाते हैं -

एक चोर ने रंग जमाया
सच बोलके।
संसार में नाम कमाया
भाग्य शाली अभागा कहलाया।"[28]

मुद्राराक्षस द्वारा लिखित 'आला अफसर' की प्रेरणा रूसी नाटक 'इन्सपेक्टर जनरल' से मिली है। लोक तांत्रिक व्यवस्था में व्याप्त कथा अनेक स्तर पर स्थिति भ्रष्टाचार को इस नाटक में उद्घाटित किया गया है। एक विदेशी नाटक को भारतीय जनमानस तक पहुँचाने केलिए मुद्राराक्षस इस नाटक में लोक नाट्य परंपरा की सहायता लिया होगा। इस नाटक में आज के लोक तांत्रिक नेता अधिकारी तथा कानून से मिलजुलकर सामान्य लोगों के प्राणों को चैन न रहने की कथा है। इस नाटक के कथ्य समकालीनता प्रदान करती है -

साफ़ करो साफ़ करो
झुग्गियाँ साफ़ करो।।
देखो वो इस सरफ़
मैली सी बुढ़िया और
दुर्बल से बच्चे लिए
अंधा एक बैटा है
उसको कहीं कस्बे से
बाहर खदेड़ कर
साफ करो साफ करो
झुग्गियाँ साफ करो।"[29]

नौटंकी शैली में लिखा गया इस नाटक में दोहा, चौबोला, बहरतवील का प्रयोग मिलता है। नाटक को एक अगल रंग देने में यह नौटंकी तत्व सफल हुए हैं। इस नौटंकी में मात्रिक और वर्णिक दोनों ही छन्द इस्तेमाल करते हैं। इस नौटंकी की प्रसंशा करते हुए स्वयं मुद्राराक्षस इस प्रकार लिखते है कि -

"कोई भी कथानक हो, नौटंकी की प्रस्तुति में वह समसामयिक देश काल के बोध को प्रतिबिंबित करता है। इसके लिए सिर्फ पात्रों द्वारा टिप्पनियाँ ही नहीं होती, बल्कि मूल चरित्रों के स्वभाव और आचरण में समसामयिकता की एक तस्वीर जरूर होती है। उसका देवता या राजा भी आज के आम आदमी जैसा होता है और उसकी क्रियाओं-प्रतिक्रयाओं में हम आस-पास की और अपनी तस्वीर देख सकते है। देवता और महाराज भी नहा-धोकर, नेम-धरम से खाते हैं और रानी -महरानी भी रसोई तैय्यार करती हैं।" [30]

सर्वेय्या, लावनी या कव्वाली और ठुमरी- दादरा के गीतों के छन्द भी इस नाटक में शामिल हैं। नौटंकी के विशेष छन्द चौबोला और दौढ़ भी इस नाटक में मिलते हैं। इस तरह के लोक नाट्य छन्द का उपयोग करके मुद्राराक्षस हिन्दी नाटक के दिशा को परिवर्तिति करने का प्रयत्न करते हैं। अपने माहौल के समस्या को लेकर उसे लोक नाट्य तत्वों से मिला जुला कर पेश करना निश्चय ही पचासोत्तर परिवर्तित नाट्य शैली का मिशाल कह सकते हैं। इस नाटक में इस्तेमाल किया गया एक छन्द चौबोला के तुक और भाषा संबंधी विशिष्टता नीचे दिये गये उदाहरण में द्रष्टव्य है -

आ पहुँची थी थोप या वहाँ हर एक अफसर घबराया था।
सबके दामन दाग भरे हर दांत को लहु लुभाया था।।
किया किसी ने गबन, बेचकर दफतर ही को खाया था।
घूस किसी ने लिया और झूठा दस्तख्त बनवाया था।।" [31]

इस लोक नाट्य तत्वों को लेकर ही 1980 के आस पास नुक्कड नाटक बाहर अता है। लोक नाट्य से लिया गया सामूहिक गान, दर्शक के बीच से अभिनेता मंच पर आना, जन समुदाय के बीच नाटक खेलना आदि लक्षण नुक्कड नाटक को लोक नाट्य शैली के करीब पहुँचाती है। इस लिए नुक्कड नाटक को लोक नाटक से जोड़ते हैं।

खुला मंच, पारंपरिक नाट्य तत्व, संगीत, गायक मंडली, नामहीन पत्र, बीचबीच में तुकबंधी प्रधान लयात्मक संवादों का प्रयोग, कथा गायन आदि लक्षण लोक नाट्य से ही हिन्दी नाटकों में पहूँच गई है। चार-पांच पात्र बदल-बदल कर कई-कई भूमिकाएँ करना, भूमिकाएँ बदलने पर सामान्य परिवर्तन से अपना परिचय स्वयं दर्शक को देना सभी लोक नाट्यों की विशेषता है। संवादों का आद्यंत तुकबंधी से युक्त और लयबद्ध होना, भाषाण शैली आदि लक्षण पचासोत्तर नाटकों को उपलब्धि के रूप में

लोक नाटक से मिला है। नट-नटी के वार्तालाप भी लोक नाटकों से मिला हुआ और एक सशक्त लक्षण है। पचासोत्र अनेक नाटकों व्यंग्य संबंधी अनेक दृश्य इस नट-नटी के द्वारा ही चलते रहते हैं और ये प्रसंग नाटक के मूल कथानक से कभी-कभी एक दम स्वतंत्र लगने लगते है।

सर्वेशेवर दयाल सक्सेना हिन्दी प्रदेश के लोक नाट्यों को, मणि मधुकर राजस्थानी लोक नाट्य रूपों से हबीब तन्वीर छत्तीसगढ़ नाट्य रूपों को लेकर अपने-अपने नाटक लिखे हैं। आंतरिक रूप से सभी लोक नाट्य समान रचना तत्वों और सौन्दर्य से पूर्ण होते हैं और उनमें आम आदमी को, जीवन की गति और लय को सहज रूप में संप्रेषित किया जा सकता है। पचासोत्तर रचित लोक नाट्य रूपों के द्वारा हिन्दी नाटक को भारतीयता मिल गई है। लोक नाट्य शैली से लिया गया सामूहिकता का प्रभाव हिन्दी नाटक को मिला हुआ और एक प्रबल लक्षण है। यह नाट्य शैली आजरामर है क्योंकि मनुष्य जब तक जीवित रहता है तब तक मनोरंजन जीवित रहता है, उस मनोरंजन के साथ-साथ नाटक भी जीवित रहता है।

3.3 नुक्कड नाटक

समसामयिक परिवेश और आग्रह के अनुरूप नाटक अपनी विकास यात्रा के दौरान अनेक रूप धारण करता रहता है। स्वतंत्रोत्तर परिवेश में अन्य रूपों के साथ सातवें-आठवें दशक में हिन्दी-नाटक का एक बहुत चर्चित और लोक प्रिय रूप उदभुत हुआ है जिसे 'नुक्कड नाटक' नाम से जाना जाता है। नुक्कड नाटक स्वतंत्रता के बाद से अवतरित रूप से हो रहे सामाजिक, आर्थिक, धार्मिक एवं सांस्कृतिक मूल्यों में परिवर्तन और एक लंबी प्रक्रिया का परिणाम है, क्योंकि ***"....... एक खास समय में हर साहित्य, सांस्कृतिक विधा की एक सीमा हुआ करती है। किसी भी नई विधा का उत्तरोत्तर विकास एवं उसमें विवधता, एक लंबी प्रक्रिया का परिणाम होता है। सामाजिक बदलाव तथा नये मूल्यों की स्थापना के साथ सीमाएँ बदली-टूटती हैं। नुक्कड नाटक को भी इसी परिप्रेक्ष में देखने की जरूरत है।"***[32]

दरअसल, नुक्कड नाटक भले ही अपने स्वरूप -कथ्य को लेकर सर्वथा एक नवीन विधा प्रतीक होता है लेकिन इस के बीज पहले से ही हमारे नाट्य परंपरा में विद्यमान रहे हैं। जितेन्द्र कौशल के शब्दों में - ***"भारत के लिए उस में कोई नयापन नहीं है। न तो नाम है, नहीं काम में, हमारी लोक धर्मी नाट्य परंपरा नुक्कड नाटक ही तो रही है। गाँव की चौपाल हो या किसी कस्बे में एक चौराहा, नौटंकी, माच, नकल, भवाई, तमाशा, जात्रा....सभी इस प्रकार से नुक्कड नाटक ही तो हैं।"***[33]

नुक्कड नाटक छोटी-सी अवधी में ही एक सशक्त नाट्य विधा के रूप में अलग पहचान बनायी है। रंग शिल्प की अधुनातन विधा राष्ट्रीय स्तर पर देश के कोने-कोने में व्याप्त हो गई है। नुक्कड नाटक में जन सामान्य की असाधरण हिस्सेदारी और इसकी बढती लोकप्रियता आकस्मिक नहीं है, शायद आज के समय की यह मांग है, उसकी अनिवार्यता और उसकी नियति है। इसलिए इन दिनों नाटकों के जनवादीकरण के साथ-साथ आगे के लिए कई नई संभावनाएँ जन्म ले रही हैं और आम लोग स्वयं को इस से जुड़ा हुआ महसूस करने लगे हैं।

नुक्कड नाटक रंगमंचीय तामझाम और उपकरणों से सर्वथा मुक्त है। जैसाकि इस के नाम से ही स्पष्ट है, किसी भी गली के नुक्कड, चौक, चौराहे या फिर आम रास्ते पर खेला जानेवाला नाटक। इसका आशय यह नहीं है कि नुक्कड नाटक रंगमंचीय संभावनाओं से सर्वथा मुक्त है। वह तो परंपरागत रंगमंचीय नाटक की विकास-यात्रा के दौरान समसामयिक परिवेश की एक उपज है। कोई भी कला समसामयिक आवश्यकताओं और अपेक्षाओं के साथ ही अपना रूप स्वयं तैय्यार कर लेती है। यहीं बात नुक्कड नाटक के भी साथ है। इस नाट्य रूप पर नज़र डालते हुए प्रदीप सौरभ लिखते है कि -***"अचानक आसमान से टपकनेवाली चीज नहीं है,बल्कि उसके अंकुर हमारी जातीय परंपरा में हैं। वस्तुतः नुक्कड नाटक भारतीय जनता के मन में रचे-बसे विभिन्न लोक रूपों का विकास ही है।"***[34]

सामाजिक, आर्थिक, धार्मिक, राजनैतिक एवं सांस्कृतिक परिवेश के कारण नुक्क्ड नाटक ने नाटककारों, रंगकर्मियों, नाट्य चिंतकों को नुक्कड नाटक की ओर उन्मुख किया है आज यह विधा अपने स्वतंत्र अस्तित्व के साथ जन जीवन में अपना स्थान पा चुकी है, चर्चा और विवेचन का विषय बन चुकी है।

नाटक में अभिनय. दृश्यत्व और कथोपकथन यह तीन तत्व अनिवार्य होते हैं जिनके अभाव में कोई भी रचना नाटक नहीं कहीं जा सकता। नुक्कड नाटक में भी यह तीन तत्व मौजूद हैं जिनसे नुक्कड नाटक को नाटक से अलग कर कतई नहीं देखा जा सकता। नुक्कड नाटक में अभिनेयता कूट-कूटकर भरी है। अभिनय ही नुक्कड नाटक का प्राण तत्व है। अभिनय कौशल भी तो है जो नुक्कड नाटक को रंगमंचीय उपकरणों के अभाव में भी आकर्षक और ग्राह्य बना देता है। नुक्कड नाटक में अभिनय ही हर दृश्य और बिंब को व्यक्त करने की क्षमता रखता है जो कि उसका अपना निजी वैशिष्टय है क्योंकि - ***"मंच तथा मंचीय सामाग्री के अभाव में नुक्कड नाटकों में संरचना- कौशल को जन्म दिया है तथा सांकेतिकता का विकास किया है। संरचना तथा सांकेतिकता नुक्कड नाटकों की महत्वपूर्ण उपलब्धियाँ है। मशीन,***

वायुयान, घर, बाग, पाठशाला, आग, समुद्र, सभी नुक्कड पर कलाकार अपनी संरचना द्वारा प्रस्तुतु कर सकते है। गीत-संगीत, नृत्य नुक्कड-नाटकों में यथावश्यक प्रयुक्त भी किये जा सकते हैं। सामूहिक गान (कोरस) नुक्कडनाटक का एक प्रसिद्ध उपकरण है जिसका उपयोग नाटक के अंत में लोक संबोधन के लिए किया जाता है।"[35]

अभिनय नाट्य रचना विधान में एक अपरिहार्य तथ्य माना गया है, नुक्कड नाटक में और भी अधिक सशक्त रूप में यह निहित है। इस प्रकार अभिनय के आधार पर नुक्कड नाटक को नाट्य परंपरा को अलग कर नहीं देखा जा सकता है। नुक्कड नाटक बिना किसी रंगमंचीय उपकरणों की सहायता के लिए बिना सहज और सरल रूप से 'मोबइल ड्रामा' के रूप में कही भी किसी भी जगह खेले जा सकते है, खेले जाते है, जिससे उसकी अभिनय क्षमता का पता चलता है।

नुक्कड नाटक प्रायः रंग संकेतों से शून्य ही होता है। कोई भी मंचीय नाटक नुक्कड पर प्रस्तुत नहीं किया जा सकता। नुक्कड नाटक की सार्थकता उसकी प्रस्तुति होने में ही है। रंग संकेतों के बारे में सफदर हशमी कहते हैं कि - ***"कास्टयूम्ज और प्रापर्टीज केवल इललिए नही होना चाहिए कि उनके होने से हम एक यथार्थ का भ्रम उत्पन्न कर रहे हैं। इनका कार्यशील होना जरूरी है। हम ने अक्सर देखा है कि एक टोपी, एक बैल्ट और एक झंडे से अभिनेता अपने आप को पुलीसवाले के रूप में स्थापित कर पाता है। एक खादी टोपी से नेता, गले में एक रंगीन रुमाल से गुंडा बन जाता है।"***[36]

नुक्कड नाटक के अधिकाधिक प्रभाविष्णु और लोक-ग्राह्य होने के पीछे एक कारण यह है कि उसकी प्रस्तुति के दौरान का वातावरण,उस के पात्र और उसकी गतिविधियों रंगमंचीय नाटक की तरह विशिष्ट न होकर सामान्य होती है। वह किसी अतीत की घटना को पौराणिकता, ऐतिहासिकता का आवरण नहीं होता और समसामयिक, वर्तमान माहौल को ही अपने कथ्य में डालकर उसे दृश्यत्व देता है, इललिए दर्शक की अनुभूति का तादात्म्य नाटक के पात्रों के साथ हो जाता है।

रूपगत स्तर पर नुक्कड नाटक हमारी लोकनाट्य परंपरा रूपों से काफी करीब है। हर नुक्कड नाटक रचना अपने परिवेश से ही कथ्य ग्रहण करती है। इस प्रकार किसी भी दशा में नुक्कड नाटक को नाटक से अलग करके देखना नाइन्साफी है। वह हमारी नाट्य परंपरा के सतत् विकसित होने के दौरान ही उसी से निकला एक नव्य नाट्य रूप है। नाटक और नुक्कड नाटक के अतः संबंध की पुष्टि भी दोनों

में निहित अभिनय, दृश्यत्व, कथोपकथन, संवाद योजना जैसे तत्वों के आधार पर ही होती है।

नुक्कड नाटक की सीमा राजनैतिक दायरे तक ही नहीं वरन उसकी परिधि में जन-जीवन-मूल्यों को प्रभावित करनेवाले समूचे परिदृश्य का समावेश हो जाता हैं। परिवेश गत वैषम्य के परिणाम स्वरूप उपजे दबावों और समसामयिक आग्रहों ने नुक्कड नाटक को जन्म दिया है। कोई भी कला सर्वथा के लिए किसी वर्ग विशेष अथवा प्रवृत्ति विशेष की बंधुआ नहीं रह सकती। यहीं नुक्कड नाटक के साथ हुआ है - ***"चूँकि जनवादी रंगकर्मी जनवाद को फैलाने, उसे पुख्ता करने निकले है, इल लिए ज्यादा कसे मर्यादा दर्शकों तक पहुँचना उनकी खास जरूरत है। बड़े बड़े शहरों के बड़े बड़े प्रेक्षागृहों से चिपके रहकर यह जरूरत पूरी नहीं की जा सकती। जनता के बीच जाना ही है, इसलिए जाहिर है कि नाटक का कथ्य, प्रस्तुतिकरण की शैली, पात्रों की संरचना यानि कि हर वह चीज जो नाटक से जुड़ी हुई है उसके स्वरूप में बदलाव तो आयेगा ही।"***[37]

किसी विशिष्ट रंगमंच और विशिष्ट वर्ग से नाटक को मुक्त होना है तो उसे अपनी तरह से स्वरूप- कथ्यगत परिवर्तन का शिकार तो होना ही पड़ेगा। नुक्कड नाटक में भी शासक वर्ग की कला के कठघरे को तोड़ा है। नुक्कड नाटक के जन्म और विकास के बारे में डॉ. रमेश उपाध्याय इस प्रकार लिखते हैं कि - ***"उसका जन्म और विकास हुआ है, जनता की अपनी कला के रूप में जिसके जरिए जनता स्वयं शिक्षित, सचेत और संघर्षशील होना चाहती है। नुक्कड नाटक केवल नाट्य रूप ही नहीं, बल्कि एक सांस्कृतिक प्रक्रिया भी है।"***[38]

नुक्कड नाटकों की कथा वस्तु प्रायः किसी न किसी अत्याचार या संवेदन पूरक दबाव की चर्चा करती है। शोषण के अनेक रूप इसमें दीखते हैं। स्त्रियों के बलात्कार, मजदूरों की हड़ताल, मजदूरों की दुर्दशा, दहेज के लिए जलायी जानेवाली स्त्री की व्यथाएँ, बड़ती महँगाई आदि रोजमर्रा जिन्दगी से जुड़ी छोटी या बड़ी घटनाओं का सम्यक विश्लेषण प्रस्तुत करना नुक्कड नाटक का अपना कथ्यगत वैशिष्ट्य है। पारिवारिक समस्याएँ नारी समस्याएँ व सामजिक अन्याय जैसी चीजें नाटक के कथ्य बन जाते हैं। नारी को केन्द्र में रखकर नुक्कड नाटकों की वस्तु बहुत कुछ स्पष्ट कर देती है -

"लडकी.....आज मैं आप को अपनी कहानी सुनाना चहती हूँ। लोग मेरे शरीर की कहानी सुनाते हैं। मेरे जिस्म की नंगी तस्वीरें दिखाते हैं। मेरा मासूनियत

का कलाम बताते हैं। लेकिन मेरी कहानी है कि मैं रोज आत्म-दाह करती हूँ। रोज अपने घर, दफ्तर, मिल और बाजार में बेइज्जत होती है।.....और मेरी शादी के दहेज के लिए मेरा घर-संसार तहस-तहस हो जाता है।"[39]

नारी को केन्द्र में रखकर नुक्कड नाटक न केवल दहेज बल्कि उसकी अस्मिता से जुडी अन्योन्य समस्याओं व शोषण का चित्रण भी करता है। जन नाट्य मंच द्वारा लिखित 'औरत' नाटक से सामाजिक रूढ़ियों के दबाव के तहत नारी की पराधीनता का चित्रण देखीए - ***"औरतः चार बच्चे है। कमजोर, गंदे और चीं-पीं करते हुए 24साल की उमर में चालीस साल की बुढ़िया लगती हूँ। मुह अंधेरे जागती हूँ। घर का काम-काज करती हूँ, चक्की पर जाती हूँ, रोहूँ साफ करने, दोपहर को चौका-बर्तन कर फिर काम पर जाती हूँ, शाम ढ़ले लौटती हूँ। फिर सारा काम। ससुर जी के मरने के बाद से ही मेरा आदमी शराबी हो गया है।.....रात-दिन मारपीट और गाली-गलौज करता है। थाने मैं नाम दर्ज है उसका।"[40]***

वर्तमान आर्थिक व्यवस्था की असमानताएँ जन जीवन को पूरी तरह से अपने कब्जे में लिए हुए हैं। देश की आर्थिक नीतियाँ भी सामान्य को शिकार बना रही है। अनेक नाटक बेरोजगारी, महंगाई, भ्रष्टाचार पर अपने प्रतिक्रिया दिखाकर हिन्दी नाट्य जगत को एक नई दिशा दिलाने की प्रयत्न करते हैं। शोषित-पीडित जन से प्रतिबद्ध नाटक में एक मिल कर्मचारी की कथनी इस प्रकार व्यक्त किया गया है - ***"चार : (आगे आकर) मैं दयाल, पेपर मिल में मशीन मैंन हूँ। मेरा नाम राधेश्याम है। मुझे हर महिने दो सौ रुपये मिलते हैं। अगर आफिस के इंचार्ज बाबु नाराज हो जाएँ, तो इस में दो-तीन दिन की तनख्वाह कट जाती है। बाबु नाराज ही रहते हैं। डेढ़-दो सौ के बीच झूलती हुई तनख्वाह और घर में चार सदस्यों का पेट, उनकी जरूरतें। घर में बूढ़ी खांसती हुई माँ है, सयानी कुंवारी बहन है और है दो पढ़नेवाले। बहन ने एम.ए किया है, पर बेकारा अभी तक उसकी शादी नहीं हो पाई। न तो हमारे पास नोटों की गड्डी है और न बहन नौकरी पेशा। लोग या तो सोना चाहते हैं या सोने का अंडा देनेवाली मुर्गी।"[41]***

आर्थिक मूल्य संक्रमण के दौर में बेकारी व बेरोजगारी ने भी एक विभीषिका का रूप धारण कर लिया है। बेकारी की समस्या के साथ-साथ शिक्षा के क्षेत्र में होने वाले भ्रष्टाचार, अनेकताओं को जन-नाट्य मंच दिल्ली के ही नुक्कड नाटक 'राजा का बाजा' के माध्यम से वास्तविकता के साथ उभारा गया है -

" प्रतिकोरस : राहों की गर्द फूँकता

दर्वाजों को खटखटाता
अर्जियाँ लिखता याचनाएं करता
रामेश्वर : हर जरह से लौटा हूँ मायूस।
कोरस : भीड खड़ी है नीचे उम्मीदवारों की
अपनी-अपनी माँ के राज दुलारों की
यहीं कोई चालीस हजार लड़के आए हैं
जनरल नालेज रास्ते में भी रटते आए हैं।।"[42]

राजनैतिक जरूरतों के तहत जन्मे नुक्कड नाटकों की वस्तु के मूल में अधुक से अधिक रूप में राजनैतिक विश्लेषण होता है। आज की दूषित राजनीति में जनता के आक्रोश को नुक्कड नाटक अभिव्यक्ति देते हैं। भ्रष्ट राजनीतिक प्रवृत्तियो पर व्यंग्य करते हुए उसकी असलियत को जनता के सामने रखना नुक्कड नाटक के कथ्य का अपना अलग वैशिष्ट्य है। पहली बार हिन्दी नाट्य जगत में राजनीति संबंधों पर खुल कर जन भाषा में विश्लेषण मिलता है -

"जादूगर : नहीं जमूरे, नहीं। इस देश का बंटादार नहीं होगा इस मजमें में खड़े और बैठे तमाशबीन कोई काठ के उल्लू नहीं हैं। पर अच्छी तरह जानते हैं कि आज जो कुछ मैंने दिखाया वह हाथ की सफाई नहीं; जादू टोना नहीं; बल्कि पिछले पैंतीस साल के हिन्दुस्थान की सच्चाई है। (दर्शकों से) मेहरबानों.... मैंने जो मंत्री आज पेश किया वह भाडे का जमूरा नहीं ; हिन्दुस्थान का समाजवादी शाहनशाह है.. आपको अपनी आँखें खुली रखनी होंगी।....... आपको सोचना होगा, आपको फैसला करना होगा कि आपके दुश्मन कौन है ?"[43]

वस्तुतः परिदृश्यगत दबावों में राजनैतिक विसंगतियों ने सर्वाधिक रूप से नुक्कड नाटक के लिए वस्तु प्रदान की है। यह आमतौर पर देखा जाता है कि राजनैतिक सरोकारों से जुडे कथ्य को नुक्कड नाटक अधिकाधिक रूप से अभिव्यक्त देता है। संभवतः इसका कारण यही है कि राजनैतिक वैशम्य के विचलन के परिणामस्वरूप जन जीवन जितना अधिक प्रबावित होता है उतना अन्य सामाजिक, आर्थिक आदि से नहीं। व्यवस्था की अस्तव्यस्त को, जन के आक्रोश को नुक्कड नाटक ने अपने कथ्य के माध्यम से अभिव्यक्ति दी है।

भारत देश पुरातनकाल से ही विभिन्न धर्मों और साम्प्रदायों का समन्वित रूप लेकर चलता रहा है। अनेक वर्षों तक भारत में धर्म लोगों को जोड़न के लिए एक शक्ति के रूप में काम कराया। लेकिन मध्ययुग के आसपास धर्म कुछ ठेकेदारों के हाथ में चला गया है। उनके हाथों में धर्म जाने के बाद से ही राष्ट्रीय एकता और आखण्डता को खतरा पैदा हो जाता है। नुक्कड नाटक समसामयिक समस्याओं को अपने कथ्य बनाकर चलने के कारण इस पतनोन्मुख समाज को और मनसिकता को आमंत्रण देता है। इस क्रम में, हिंसा -विरोधी स्वर, धार्मिक साम्प्रदायिक एकता के लिए अपील, एक नुक्कड 'हत्यरे' के कथ्यांश के माध्यम से द्रष्टव्य है -

"सूत्रधार : मौत फिर मौत है, आगाज से अन्दाज तक मौत न हिन्दू है, न मुसलमान। इन्सान का खून आपको अच्छा लगता है न मुझे।....... मिट्टी की सिफ्त है कि वह मिट्टी से जुदा नहीं होती। मुल्क के अमन परस्न बाशिंदों में फूट डालने वालों के पूरे लडकर के बावजूद इस देश के लोग मुहब्बत से रहने के राज से बखूबी वाकिफ हैं।"[44]

दरअसल, नुकक्ड नाटक का जन्म और विकास जनवादी आंदोलन के साथ-साथ हुआ है। कोई भी साहित्यिक विधा अथवा कला जब महनतर उद्धेश्यों को साथ लेकर चेतना के धरातल से गुजरती है तो वह बहुत स्वाभाविक है कि कडवे यथार्थ को अभिव्यक्त देने के क्रम में अनेक आपत्तियों से गुजरना पड़ता है। एक स्वस्थ समाज एवं व्यवस्था की परिकल्पना में नुक्कड नाटक ने सामाजिक-राजनैतिक बदलाव का जो बीडा उठाया है, वह एक प्रकार की खुली चुनौती भी है।

साधारण रूप से कोई भी बदलाव यूँ ही नहीं आ जाता बल्कि उसके मूल में एक चेतना विद्यमान रहती है और इसी चेतना से प्रतिष्ठित होकर नुक्कड नाटक आम आदमी तक अपनी पैठ कायम करता है। शोषित, पीड़ित, सर्वहारा को अपने अधिकारों का बोध कराते हुए नुक्कड नाटक कभी भी हिंसा या प्रतिहिंसा का आव्हान दर्शक से नहीं करता। फिर भी हम इसको क्रांतिधर्मी इललिए कहते है कि राजनैतिक विसंगतियों से जन साधारण को भली भाँति अपना कराते हुए उसे अपने अधिकारों की रक्षा के लिए सचेत करता है। नुक्कड नाटक की यह चेतनाधर्मी प्रवृत्ति ही उसके क्रातिधर्मी होने की पृष्ठभूमि बनती है।

किसी भी काल अथवा विधा की सार्थकता, प्रासंगिकता युगीन संदर्भों से जुड़ी होती है। समसामयिक संदर्भों में आज की जरूरतों के तरह विकास नुक्कड नाटक भी इसका अपवाद नहीं है। उसकी प्रासंगिकता के मूल में आज के तमाम संदर्भ और

आग्रह जुडे हुए हैं। क्योंकि ......***"नाटक विधा ही ऐसी है जो अपनी जीवन्तता, सरलता और अपने असर अन्दाज की वजह से जनता के व्यापक हिस्से के बीच जनवादी चेतना और स्वस्थ वैकल्पिक संस्कृति के फैलाने में बहुत कारगर होती है।......यह हमारी समझ है कि सशक्त जन नाट्य आंदोलन को देशव्यापी स्तर पर खडा करना आज बहुत जरूरी ही हो गया है।"***[45]

हिन्दी नाटक में सामान्य जन जीवन से जुडकर चलने की बात देखी भी जाती है लेकिन नुक्कड नाटक का सार्थक्य अधिक व्यापक है। सीधे साधे रूपों में जन से जुड़कर बिना किसी वैयक्तिक स्वार्थ के, मात्र मनोरंजन के लिए कला के पक्ष को नाटककार उसे जन-पक्षधर भी सिद्ध करना नुक्कड नाटक की अपनी खास विशेषता है। शोषित, पीड़ित जन और सर्वहारा के प्रति प्रतिबद्धता का भाव लेकर उसके स्वयं को 'जन' से जोड़ लिया है। यह विशेषता अन्य नाट्य विधाओं में देखने को नहीं मिलती है।

अनेक विषम परिस्थितियों में से नुक्कड नाटक बाहर आकर जंगल में आग की तरह हिन्दी पट्टी एवं पूरे देश में फैल गयी। देश के कोने-कोने में अनेक रंग मंडलियाँ सामने आई और देखते-देखते एक सार्थक रंग आंदोलन का रूप धारण किया है। नुक्कड नाटक की लोक प्रियता के रहस्य, दर्शक की साझेदारी है। प्रेक्षक से सीधे तादात्म्य स्थापित कर लेना नुक्कड नाटक की कला भी है। राह चलते लोगों को रोकना बहुत मुश्किल काम है, वह काम नुक्कड नाटक आसानी से करता है। आज भी केवल प्रयास से नहीं रूक सकता, उसे कुछ आकर्षण भी चाहिए। नुक्कड नाटकों में आकर्षण भी है कुछ मनोरंजन तत्व भी। हास्य व्यंग्य से शून्य नुक्कड नाटक की कल्पना भी नहीं की जा सकती, उसका वस्तु तत्व बहुत समृद्ध है। यही नुक्कड नाटक की कालात्मकता को बढ़ाती है।

समाज परिवर्तन को दृष्टि में रखकर नुक्कड नाटक बाहर आया है। रंगमंच की श्रृंखलाओं को तकनाचूर करके सामान्य लोगों के आगे नाटक प्रक्रिया को लाकर रख दिया है। एक विधा की सार्थक भूमिका नुक्कड नाटक पूरा करके दिखाया है। सामाजिक, सार्थक और उत्तेजक कथ्यवाले इन जन जागरण प्रधान प्रासंगिक प्रदर्शनों ने जन सामान्य में एक नई हलचल पैदा की है। हिन्दी रंगमंच व्यक्ति परिवेश से समाज परिवेश को बदलनेवाले समय में नुक्कड नाटक का उदय हुआ है। उसी समय में व्यक्ति अपने परिवेश से बाहर आकर सूक्ष्म के प्रति अपनी प्रतिक्रिया व्यक्त करना हिन्दी नुक्कड नाटक की वैशिष्ट्य है।

साहित्य का मूल मकसद समाज, समाज व्यवस्था और सामाजिक संबंदों के बुनियादि बदलाव के लिए चेतना जगाना होना चाहिए। नाटक एक ओर मनोरंजन का साधन है और दूसरी ओर मनुष्य की ज्ञानवृद्धि और भावात्मक एकता में भी सहायक है। लेकिन खाली मनोरंजन से कुछ नहीं होता है। अगर कोई विधा समाज का अवलोकन करने से काम नहीं चलता है। उसे परिवर्तन का मार्ग दिखाने में ही उस विधा का महत्व है।

3.4 नाट्य रूपांतरण

नाटक की परंपरा हमारे आदि नाट्य साहित्य में प्रारंभ से ही विद्यमान रही है, किन्तु उसका स्वरूप और समय-समय पर बदलता रहता है। उसी बदलाव के एक रूप नाट्य रूपांतरण है। किसी एक रूप को दूसरे रूप में अंतरित करना रूपांतणर कहलाता है। यह किसी भी माध्यम से घटित किया जा सकता है। हिंदी नाट्य प्रवाह में रूपांतरण एक विधा की प्रमुखता पाकर साहित्य की गरिमा को और भी अग्रसर कराकर विकास यात्रा पथ पर निरंतर अग्रसर है।

रूपांतरण अर्थात एक रूप को बदलकर दूसरे रूप में उस रूप का परिवर्तन करना। यह रूपांतरण साहित्यिक विधाओं में भी हो सकता है तथा साहित्येतर भी हो सकता है। भोलानाथ तिवारी इस विषय में कहते है - ***"रूपांतरण (Adoptation) इस शब्द का अर्थ है रूप को बदलना। अनुवाद के इस प्रकार में रूपांतरकार मूल को अपनी रूची, सुविधा तथा आवश्यकता के अनुसार परिवर्तित करके भाषा में रखता है। इसमें मूल सामाग्री, संक्षप्त या विस्तृत, सरल या कठिन तथा विद्या -रूप में परिवर्तन। अर्थात कहानी से नाटक, नाटक से कहानी आदि होकर आती है। पात्रों के नाम, देश काल वातावरण आदि परिवर्तन किये भी जाते हैं और नहीं भी।"***[46]

स्वातंत्र्योत्तर परिवेश ने अनेक नवीन प्रयोगों के लिए प्लाटफार्म तैय्यार करने में सफल हुई है। अनुवाद का अगला रूप इस रूपांतरण की सार्थकता पर दृष्टि लगाते हुए गिरीश रस्तोगी इस प्रक्रिया को नीचे दिये गये वक्तव्य से परिभाषित करते हैं कि - ***"नाट्य रूपांतरण न गौण वस्तू है, न द्वितीय तृतीय स्तर की चीज। यह भी सृजन है -एक मौलिक कृति का पुनर्सृजन इस लिए उसका तात्पर्य किसी बनी बनायी रचना केवल इस्तेमाल करना नहीं है - उस रचना में अंतर्निहित दूरगामी संभावनाओं और काल एवं साहित्य के विलक्षण संबंध सूत्र को तलाशना, पुराना और नवीन सौंदर्य बोध के साथ बडे समूह तक सम्प्रेषण करना है। लिखित शब्दों को दृशयात्मक लय, टोन और भिन्न आकार देना है।"***[47]

हमारे देश में रूपातरण की प्रक्रिया अत्यंत प्राचीन रही है। रामायण और महभारत की कथाओं को नाट्य की रुप में अभिनय करते हुए प्रस्तुत किया जाता था। यह प्रक्रिया कुछ लोगों का व्यवसाय बन गया था। - ***"रामायण और महाभारत के ये व्यवसायिक कथावाचक स्थान स्थान पर कथा-पारायण आयोजन रचते थे। ग्राणीन जनता के धार्मिक और सांस्कृतिक ज्ञान के यहीं शिक्षक होते थे।"***[48]

सामान्यवर्ग पुरातन काल में अशिक्षित ही थे, उस समय पढ़ना लिखना हर कोई नहीं जानते थे फिर भी रामायण तथा महाभारत की कथा सब को मालूम थी। इस का श्रेय इन रामायण तथा महाभरत के 'कथावाचकों' को ही जोता है। भारतीय परिप्रेक्ष्य में इतिहास और पुराणों के लेखन के बाद उसमें जो कथा या गाथाएँ मिलती हैं उनके प्रचार-प्रसार की आवश्यकता महसूस हो गयी, चाहे वह धार्मिक कारणों से ही क्यों न हो। इस आवश्यकता के कारण कहानी अथवा अख्यान के रूप में मिलनेवाली वस्तु को अनेक माध्यमों के द्वारा रूपायित करने की परंपरा का श्री गणेश हो जाता है। पहले अधिकतर नाटक कथा गायन के रूप में ही होते थे।

पचासोत्तर रंगकर्म की तीर्वगति प्रयोग शीलता और उत्साह ने नवीन कृतियों, नवीन संभावनाओं की तलाश की ओर विभिन्न देश विदेश कृतियों के नाट्य रूपांतरण पर लोगों का ध्यान केन्द्रित हुआ। बगला. मराठी, गुजराती, कन्नड आदि भारतीय भाषाओं के साथ-साथ फ्रेन्च, जर्मण, अंग्रेजी रूसी आदि भाषों की श्रेष्टतम नाट्य कृतियों के अनुवाद और रूपांतरण भारतीय रंगमंच को प्रभावित किया। नाट्य रूपांतर की विश्ष्टता पर दृष्टि लगाते हुए डॉ. नगेन्द्र इस प्रकार लिखते हैं कि - ***"अच्छे साहित्य को जनता तक पहूँचाने के लिए कल्पनाशील नाट्य कर्मियों और नाट्य मंडलियों ने कविता, कहानी, उपन्यास आदि के नाट्य रूपांतरों का सहारा लिया है। प्रेमचन्द,यशपाल, श्रीकांत की कहानियाँ, मुक्तिबोध, रघुवीर सहाय, सर्वेश्वर, भवानीप्रसाद मिश्र आदि ख्यातिलब्धि कवियों की कविताओं के नाट्य रूपांतरण और पाठ बढ़ा सफलता से किये गये है। मन्नुभंडारी के 'महाभोज' का नाट्य रूपांतर बेहद जनप्रिय हुआ। नाट्य रूपांतर की इस कला से देश विदेश के किसी भी रचनाकार की कृतियों को दर्शकों तक पहूँचाया जा सकता है और इस टेकनीक से हम श्रेष्ठ साहित्य के प्रति संस्कारवान दर्शक भी तैय्यार कर सकते हैं।"***[49]

साधारण रूप से हर साहित्यिक विधा केलिए अपने निश्चित स्वरूप, शिल्प, विशिष्ट सौन्द्रर्य और शर्ते होती हैं अनेक भेद होने पर भी इन विधाओं के कहीं न कहीं संबंध सूत्र परस्पर एक दूसरे से जुडते ही हैं। काव्य को नाटक, कहानी को नाटक और उपन्यास को नाटक के रूप में रूपांतरण कर सकते हैं। इस पर गिरीश

रस्तोगी का वक्तव्य सही लगता है कि - *"आज का समय विधाओं और कलाओं के अंतर संबंधों के बिलकुल घुलमिल जाने का है। रंगमंच से विधाओं और कलाओं का इतना अधिक अंतः संश्लेषम इस समय हुआ ही है -संचार माध्यों और फिल्म मीडिया से इतना अधिक रचनात्मक संबंध कहानी- उपन्यास और काव्य का बना है कि विधाओं और माध्यमों, साहित्य और कलाओं के सूक्ष्म जठिल रिस्ते और उससे होनेवाले सृजन-पुनःसृजन को लेकर अनेक सवाल उठते हैं - उठे हुए हैं और कोई निर्णयात्मक उत्तर की स्थिति संभव न हो सकी है क्यों कि चुनौति, प्रयोग की संभावनाएं कभी समाप्त नहीं होती और सृजन की प्रक्रिया का कोई गणित या व्याकरण नहीं होता।"*[50]

हिन्दी रंगमंच के आरंभिक दौर में जहाँ काव्य पाठ, कहानी के नाट्य पाठ को महत्व दिया गया, वहीं रंगांदोलन के तीव्र दौर में मुख्यतः कहानी और उपन्यासों के नाट्यांतरों ज्यादा संख्या में आने लगा। मूल कृति की रचनाकार- कहानीकार उपन्यासकार-की अपनी प्रतिक्रियाएँ, रचनाकार की भूमिका, बाहरी हस्तक्षेप को लेकर अनेक सवाल उठे। निर्देशक रंगकर्मी, कलाकार की अपनी कल्पना और अपने दृष्टिकोण, निर्देशीय अवधारणा एवं कृतित्व के प्रश्न भी खड़े हुए हैं। असंख्य कहानियाँ-विशेष कर प्रेमचन्द की नाट्य रूपांतर से बृहद् समूह के बीच पहूँची। अन्य देश-विदेशी कहानियों के भी रूपांतरण मंच, दूरदर्शन, फिल्म के लिए भी हुए।

कहानी या उपन्यास को रूपांतरित करने पर मौलिकता को हानी पहुँचाती है। नाट्य रूपांतरण में पाठकों को दर्शक के रूप में देखना पड़ता है। इस नाट्य रूपांतरण प्रक्रिया को विश्लेषित करते हिए गिरीश रस्तोगी इस प्रकार लिखते हैं कि - *"सवाल किसी भी रतना को एक नई सृष्टि के रूप में लाने का है -केवल नाटक बना देने का नहीं। कथाकार के कथ्य को मूल संवेदना को निश्चित रूप से आरंभ से अंत तक रूपांतर करते समय सुरक्षित रखना है। कोई जरूरी नहीं कि हम उस कृति को ज्यों का त्यों अंत तक लेकर चले - हमारे सामने जठिलताएं, चुनौतियाँ रंगमंच की है। रंगमंच की निरंतरता, शर्ते, क्रिया तत्व और संप्रेषण को ध्यान में रखते हुए अगर कुछ या कोई दृश्य या स्थल छोडना पड़ता है, तो अनिवार्य तौर पर कहीं कुछ जोड़ना पड़ता है चाहे संकेत, चाहे व्यजनाएं अथवा शब्द, वाक्य या दृश्य भी तो वह उस रचना को नष्ट करने के लिए नहीं - उसकी जीवंत शक्ति को ऊर्जा देने के लिए।"*[51]

पचासोत्तर हिन्दी नाट्य विधाओं में यह रूपांतरण बड़ी सशक्त विधा के रूप में पहूँचता है। हम सुथूल रूप में इस नाट्य रूपांतरण को दो भागों में विभक्त कर सकते हैं जैसे -

1. उपन्यास का नाट्यरूपांतरण
2. कहानी का नाट्य रूपांतरण।

इस विधा में जो कुछ भी परिवर्तन देखा जाता है उसको शैली के अनुसार ही रखा गया है। इस विधा के अतर्गत जन्मे संभावनाओं पर हमें दृष्टि लगाने से ही इसकी महत्वपूर्णता हमें मालूम पड़ता है

3.4.1 उपन्यास का नाट्य रूपांतरण

किसी भी विधा को उससे भिन्न विधा के रूप में बांधना और एक विशेष कलागत माध्यम से जोडना बहुत जठिल और साहस का कार्य होता है। साधारण रूप से उपन्यास की प्रक्रिया बड़ा बृहद होता है। उपन्यास में सारा जीवन का दर्शन बिखेर कर दिया जाता है। उपन्यास का आकार, घटनाओं, पात्रों की अनेकता और विस्तार, अनेक उतार चढ़ाव, विभान्न विषय और स्थितियाँ ज्यों का त्यों नाटक रूप में लाना संभव नहीं है। उपन्यास में सीमाएँ कम, स्वतंत्रता ज्यादा होती है।

उपन्यास को नाटक के रूप में बदलने पर बिषय को संवादों में बांधकर अवांछित को छोडकर, आवश्यकता को जोड़ना पड़ता है। उपन्यास को नाट्य रूपांतांर करते समय तीन विषय को दृष्टि में रखना पड़ता है कि (1) उपन्यास की मूल आत्मा, लेखक के व्यक्तित्व, दृष्टिकोण तथा स्तर की रक्षा करनी चाहिए। (2) उस मूल आत्मा को नाट्य विधा का संश्लिष्ट स्वाभाविक और उपन्यास के अनुकूल स्वरूप प्रदान करना है। (3) नाट्य रूपातरण करते समय दर्शक, अभिनेता आदि का ध्यान रखते हुए रंगमंच की सीमाओं, संभावनाओं, शर्तों आवश्कताओं आदि सभी के प्रति पूर्ण सतर्क रहना चाहिए।

सादारणतः उपन्यास को रूपांतरण करते समय रूपांतरकार के पास निर्देशक की रचनात्मक दृष्टि और साहित्यिक समझ के साथ दोनों के संतुलन की योग्यता होनी चाहिए। अपने कृति को नये रूप में प्रस्तुत करना उतनी आसानी नहीं है। पाठक के पास जो समय रहता है उतना समय दर्शक के पास नहीं होता है इसलिए उपन्यास के कुछ बुन्दि कमजोर लगाने से उसे सशक्त बनाना चाहिए।

पचासोत्तर परिवेश अनेक उपन्यासों को नाटकों के रूप में परिवर्तित करके एक नयी विधा का सृजन की है। लेकिन मैं ने चार प्रसिद्ध उपन्यासों के नाट्यांतरण को विश्लेषित किया। प्रेमचन्द द्वारा लिखित विश्वप्रसिद्ध उपन्यास 'गोदान' को

नाटककार विष्णु प्रभाकर ने 'होरी' नाम से रूपांतरित किया हैं। फणीश्वरनाथ रेणु के 'मैला आंचल' को वहीं नाम से 'हृषीकेश सुलभ' ने रूपांतरित किया हैं। महाभोज उपन्यास को मन्नुभंडारी ने ही नाट्य रूपांतरण करके सक्षम बनायी है। श्रीलाल शुक्ल द्वारा लिखित प्रसिद्ध व्यंग्य उपन्यास 'राग दरबारी' को गिरीश रस्तोगी द्वारा नाट्य रूपांतरित हो कर प्रसिद्धि पायी है।

रूपांतरकार अपनी सुविधा के अनुसार नाट्यरूपांतरण में बहुत से परिवर्तन करते रहते हैं। महाभोज उपन्यास छोटा है इस लिए नाट्यरूपांतरण में पात्रों तथा दृश्यों आदि को जोड कर कथा को विस्तृत किया गया है। 'गोदान' उपन्यास के 304 पृष्ठों को होरी में 78 पृष्ठ बनाया दिया गया है और रागदरबारी के 326 पृष्ठ को 'रंगनाथ की वापसी' में 83 पृष्ठ बना दिया गया है। इस प्रकार कहीं निकाला, कहीं कुछ बदला तो साथ ही कहीं जोड भी गया है जिससे आकारगत परिवर्तन दिखाई देता है।

'होरी' नाट्यांतरण में केवल गाँव की घटनाओं को केन्द्र में रखकर रचना की गयी। शहरी घटनाओं का वैसे भी होरी से कोई प्रत्यक्ष संबंध नहीं था इस लिए शहरी घटनाओं को छोड दिया गया है। इस नाटक की प्रतिक्रिया करते हुए रूपांतरकार विष्णुप्रभाकर इस प्रकार लिखते हैं कि - ***"हर निर्देशक अपनी दृष्टि ,से उसकी प्रस्तुति करता है मगर मूल कथा के साथ कोई स्वतंत्रता नहीं लेता। होरी में स्वीकार करना पडेगा। हमने उपन्यास के अंश को छोड दिया है जिस का संबंध शहरी जीवन से था। प्रेमचन्द जी अगर स्वयं इस नाटक को लिखते तो निश्चय ही वे इस अंश को छोड़ देते है। समय की दृष्टि से नहीं बल्कि प्रभाव की दृष्टि से भी।"***[52]

नाट्य रूपांतरण में भाषा शैली को बदलने की कोशिश तो नहीं की गई है। फिर भी कुछ शब्दों को बदलना जरूरी हो जाता है। कहीं संदर्भ के अनुसार तो कहीं संक्षिप्तीकरण के लिए जैसे -

(उपन्यास में) धनिया ने लजाते हुए कहा - ***"ऐसे ही बड़े लजीले जवान हो कि साली-सलहजे तुम्हे देखकर रीझ जायेंगी। होरी ने फटी मिरजयी को बड़ी सावधानी से सह करके खाट पर रखते हुए कहा।"***[53]

(रूपांतर में) ***"धनिया : धीरे-धीरे, दाँत बाहर निकल आएँगे।"***[54]

ऊपर संवादों से हमें पता चलता है कि नाट्यरूपांतरण में राय साहब का प्रसंग नहीं है तो स्वभाविक है। लेकिन उपर्युक्त संवाद नटकीयता से युक्त है। अतः उस प्रसंग को बदल दिया और संवाद रखा गया। उपन्यास में होरी राय साहब के पास जाने की बात करता है तो धनिया लाठी-मिरजई, जूते, पगडी लाकर देती है तब होरी कहता है -

(उपन्यास में) ***"क्या ससूराल जाना है, जो पाँची पोसाक लायी है? ससूराल ने भी तो जवान साली-सलहज नहीं बैठी है, जिसे दिखाऊँ। होरी के गहरे साँवले पिचके हुए चेहरे पर मुस्कुराहट की मदुता झलक पडी।"***[55]

(रूपांतरण में) ***"होरी जोर जोर से कुल्ला कर रहा है।***
तब धनिया कहती है कि दाँत निकलाएँगें।"[56]

इस प्रकार कई उदाहारण हमें मिल जाएँगें जिस में बात को सटीक बनाने के लिए कहीं बहुत कुछ तथा कहीं कुछ परिवर्तन किए गये हैं। इस का मंचन भी बहुत ही प्रख्यात हुआ है। कलाकारों को उसमें अभिनय करने से बहुत ही आत्मसंतुष्टी मिली है। इसमें होरी का पात्र निभाने वाले हीगल कहते है कि - ***"उससे एक प्रश्न किया गया है कि किस नाटक में, कौनसा रोल करने पर आपको सबसे अधिक संतोष प्राप्त हुआ तो उनका स्पष्ट उत्तर था कि होरी का रोल करते हुए मुझे सबसे अच्छा लगा, मैं जैसे उसके चरित्र से एकाकार हो जाता था।"***[57]

'मैला आँचल' के रूपांतरण में भी बहुत कुछ छोड़ा गया है। घटनाओं का क्रम भी थोड़ा बहुत बदल गया उपन्यास में तो वर्णन लेखक करता है तो नाट्य रूपांतरण में इसके लिए सूत्रधार, नटी तथा विदूषक पात्रों को सृजित किया गया है।

(उपन्यास में)

"गाँव में खबर तुरंत बिजली की तरह फैल गई मलेटरी बहरा चेथरू को गिरपत कर लिया है और लोबिन लाला के कूँए से बालटी खोलकर ले गये है। यद्यपि 1942 के जन आंदोलन के समय इस गाँव में न तो फौजियों का कोई उत्पात हुआ था। और न आंदोलन की लहर ही इस गाँव में पहूँच पाई थी, किन्तु गाँव भर की घटनाओं की खबर अफवाहों के रूप में यहाँ तक जरूर पहूँची थी।..... मोगलाटी टीशन पर ...। दुहाई बाबा लहसिंह।"[58]

ऊपर बताया गया विषय उपन्यास की प्रथम घटना है जिसका विवरण रेणु दे रहें हैं। लेकिन नाट्य रूपांतरण में अनेक परिवर्तन पाया जाता है। हृषीकेश सुलभ

द्वारा नाट्यरूपांतर में घटना का इस तरह रूपांतर किया गया है। पहले सूत्रधार नटी और विदूषक आते हैं, नृत्य करते हैं। नाटक को इस तरह प्रारंभ करते हैं कि -

(रूपांतर में)

"समाजी एक : का हुआ रे धिकला? का हुआ?

धिकला : अरे गाँव में मलेटरी घुस आई है। भागो रे भाई, भागो.....

समाजी दो : अरे भोरे- भिनसारे गाँजा का चिलम चढाकर आया है का रे?

धिखला : हाँ-हाँ, बनिया का बेटा भूख से मरे, लोग कहे निशा में मातल है। अरे मलेटरी घुस आई है गाँव में। बहरा चेथरू गिरफ्फा मलेटरीवाले लोबन लाल के कुएँ से बाल्टी खोल कर ले गये।"[59]

'मैला आँचल' आँचलिक उपन्यास है। इसकी भाषा शैली आँचल विशेष की भाषा से युक्त है। कुछ शब्द तो बिलकुल ठेठ बोलियों के हैं। वैसे मूल लेखक और नाट्यरूपांतरकार दोनों ही बिहारी के हैं। मंच के लिए भाषा शैली सटीक नहीं है इसलिए भाषा शैली को मंच के अनुरूप रखने का प्रयास किया गया है। हिन्दी रंगमंच के लिए भी उसका विशेष स्थान है। राजनीति की विद्रूपताओं से लेकर प्रेम की कोमलतम संवेदना तक को रचने वाले रेणु के उपन्यास का यह नाट्य रूप प्रयोग धर्मी चेतना के कारण सघन प्रभाव छोड़ता है।

'महाभोज' नाट्यरूपांतरण में भी कुछ घटनाओं को नहीं रखा गया है। साथ ही कुछ अन्य घटनाओं को जोड़ा गया। मूल लेखक और रूपांतरकार एक होने से, जो संवेदना उपन्यास में हम पाते हैं वहीं संवेदना नाटक में भी मिलती है। संवादों को अच्छी तरह व्यक्त किया गया है। उपन्यास में अंत की घटना को नाट्य रूपांतरण से निकाल दिया गया है और एक नयी घटना को जोडा दिया गया है। नाटक को और भी सशक्त बनाने के लिए ये बदलाव किये जाते है। नाट्यरूपांतरण के अंत से रूपांतरकार भी संतुष्ट नहीं है वे इस विषय में कहती है कि -

"नाटक की समाप्ति पर सूत्रधार का शब्दहीन संवाद इस बात को तो स्पष्ट कर देता है कि स्थितियाँ अब कहने-सुनने से परे चली गयी हैं, लेकिन इस से उपन्यास में विद्रोह और संघर्ष की जिस निरंतरता की ओर संकेत है, वह कहीं-न कहीं धुँधला होकर टूटता सा लगता है बेहतर तो यह होता कि महेश किस प्रकार

बिंदा के संघर्ष को आगे बढ़ाने की पुष्टि करता कि विद्रोह की आग दबायी तो जा सकती है, पूरी तरह कुचली नहीं जा सकती।"[60]

रागदरबारी नाट्य रूपांतरण में कई पात्रों को तथा कई स्थलों को छोड़ दिया गया है। चुनाव के वर्णन, गाँव का मेला, मंदिर में पुजारी का प्रसंग आदि छोड़ दिया गया है। इस उपन्यास के नाट्य रूपांतर पर दृष्टि लगाते हुए गिरीश रस्तोगी लिखती है कि - ***"राग दरबारी में नाटकीयता कथा की संबद्धता, निश्चित आरंभ, मध्य, अंत और पात्रों का बंध-बंधाया स्वरूप नहीं है।...... इसलिए एक ओर उसका नाटयरूपांतर असंभव सा काम भी लगा और रह-रहकर उसका देश व्यापी व्यंग्य और मानवीय संवेदना आकृष्ट भी करती थी। एक बार नहीं, उपन्यास को कई बार पढ़कर कम से कम दस बार उसके लक्ष को और उसे दर्शकों के सामने पहूँचाने की दृष्टि के साथ पले उपनयास की रूप-रेखा मस्तिष्क में बनी, फिर कागज पर आयी।"***[61]

साधारण रूप से नाटक में आरंभ से ही दर्शकों की मानसिक भूमिका को उपन्यास की मूल संवेदना की सही पकडने के लिए तैय्यार करना है। कम से कम उपन्यास के कथ्य को संप्रेषण करने के लिए सूत्रधार का प्रयोग अनिवार्य होता है। जहां तक नाटक का आरंभ अपन्यास के आरंभ से भिन्न है इस के मंचन में कथानक में अनेक परिवर्तन किए गए हैं -

(उपन्यास में)

"अब तुम किस दर्जे में पढ़ते हो रूप्पन?
उनकी शकल से लगा कि उन्हें यह सवाल पसंद नहीं है। वे बोले,
टेन्थ क्लास में हूँ.....
तुम कहोगी उसने तो मैं दो साल पहले भी था।
पर मुझे शिवपाल गंज में इस क्लास से बाहर निकलने का रास्ता ही नहीं सूझ पड़ता।......
तुम जानते नहीं हो दादा, इस देश की शिक्षा-पद्धति बिलकुल बेकार है। बड़े-बड़े नेता यहीं कहते हैं। मैं उनसे सहतम हूँ......।"[62]

(रूपांतर में)

"....... अपनी बताओ कुछ। क्या हुआ, दसवीं कक्षा से तुम्हारा रिश्ता टूटा या नहीं?......नाराज क्यों होता है। मैं क्या जानता नहीं हूँ कि पढ़ने से और वह भी खासकर दसवीं कक्षा में पढने से तुम्हें बहुत प्रेम है।
रुप्पन :साली अपने देश की शिक्षा-पद्धति ही बड़ी ना कामयाब है.......जो लड़के पास हो जाते हैं न, वे बशर्म लड़के हैं और ऐसे बेशर्मी कुछ ही लड़के

करते हैं और अब? अब क्या है? अब तो बाप भी नकल कराए और गुरु भी नकल कराये, माँ नकल के गुरु सुखाये जिसे देखो फस्ट क्लास।"[63]

मंच की दृष्टि से यह रूपांतरण अनेक बार खेल चुके हैं। 1978 में एक महीने में पांच प्रस्तुतियाँ हुई। जिसके माध्यम से यह नाट्य रूपांतरण कितना सफल है, कहा जा सकता है। इस नाटक को रूपांतरण करने में और मंचित करने में प्रसिद्ध रंगकर्मी गिरीश रस्तोगी का दयित्व ज्यादा है - ***"नाट्य-रूपांतर करते समंय मेरे सामने उपन्यास भी स्पष्ट था और उसकी रंगमंचीय संभावनाएं भी। इसीलिए रंगमंचीय दृष्टि से उसके नाट्य रूप के तैय्यार करते जाने में मेरे सामने कोई संकट नहीं था। बल्कि नाट्य लेख के साथ ही रंगमंचीय संकेत, स्थितियाँ प्रकाश एवं संगीत के निर्देश, प्रस्तुति के नियम आदि उभरते-बनते गयी। सबसे कठिन थी पूरे दृश्य बंध की कल्पना, ताकि उसमें ही पूरे उपन्यास को प्रस्तुत किया जा सके।"***[64]

नाट्य रूपांतरण में साधारणतः मूल कथानक का परिवर्तन तो होता ही है। लेकिन आधार भूमि से कोई भी रूपांतरकार पूरा हटकर कहीं भी नहीं लिखता है। जो कुछ मूल कथानक में होता है उसे रंगमंच के अनुसार परिवर्तित करके हमें प्रस्तुतु करने के लिए प्रयत्न करता है। साधारणतः कहानी रूपांतरण में कथानक परिवर्तन कथा के विस्तार के लिए किया जाता है। उपन्यास में इसका उल्टा होता है। अधिकतर उपन्यासों के नाट्य रूपांतरों में पात्रों की संख्या, दृश्यों की संख्या आदि को घटाकर कथानक परिवर्तन किया जता है। ऐसा भी देखा गया है, अगर उपन्यास के नाट्य रूपांतरण में किसी वजह से अगर पात्रों की संख्या, दृश्यों की संख्या आदि बड़ा दी जाती है तो कहीं-न-कहीं कुछ पात्रों, दृश्यों को निकाल भी दिया जाता है।

रंगमंचीय परिकल्पना की दृष्टि से भी यह नाट्य विधा मशहूर हुई है। खासकर 'होरी' 'रंगनाथ की वापसी' अनेक प्रदर्शन दे कर सफल सिद्ध हुए हैं। रंगमंच के लिए ये नाटक बिलकुल उपयुक्त साबित हुआ है। अपने नाट्य प्रस्तुती पर मन्नुभंडारी इस प्रकार कहती हैं कि - ***"अगर पत्र-पत्रिकाओं नाट्य समीक्षकों और सबसे अधिक दर्शकों की प्रतिक्रियाओं पर विश्वास किया जाये तो यह नाट्य जगत की एक अभूतपूर्ण घटना है। नाट्य विद्यालय के रंगमंडल के सधे और मँजे हुए कलाकारों का अभिनय-सभी बातों का कुछ ऐसा संतुलन ताल-मेल बैठ गया था कि नाटक के प्रभाव में एक बार तो दर्शकों को स्तब्ध कर दिया। कथ्य की प्रासंगिकता को देखते हुए यह विश्वास तो हम सभी को था कि दर्शक सहज ही इसके सहभागी हो जाएँगे, लेकिन नाटक इस हद तक उनको आंदोलित और उद्वेलित कर देगा, इसकी कल्पना नहीं की थी। वस्तुतः इस प्रभावोत्पादक सफ़लता का इसकी प्रस्तुति को ही है।"***[65]

3.4.2 कहानी का नाट्य रूपांतरण

नाट्य रूपांतण में कहीं न कहीं कुछ न कुछ तो परिवर्तन आवश्यक होता है। कहीं-कहीं एक दो शब्दों के ही परिवर्तन मिलते हैं तो कहीं कहानी में अनेक नए दृश्यों को जोड़कर उसको नया रूप दिया जाता है। इससे कहीं थोड़ा बहुत तो कथानक पर असर पड़ता ही है। उदाहरण के लिए अगर किसी कहानी में एक या दो तीन दृश्य है और कथानक सीमित है, तो उसमें नई दृश्यों को जोड़कर उसके कथानक को भी व्यापक रूप दिया जाता है।

पचास के बाद हिन्दी में आवश्यकता ऐसे नाट्य लेखन और रंगमंच की है जब वैविध्य पूर्ण प्रयोग, अनंत कलाओं की गूँज और शिल्प दिखाई दे। लोक नाट्य शैली, नुक्कड नाट्य शैलियों के भी और हिन्दी नाटक की अपनी अस्मिता का अन्वेषन करते हुए यह तभी संभव है जब हिन्दी रंगमंच नियमित और प्रयोगशील होना है उसकी जड़े व्यापक और गहरी होना है।

छटे दशक तक आते-आते रंगमंच इतना सक्रिय ,सशक्त माध्यम विविध रंगी और रचनात्मक लगा कि कई कवि-कथाकार नाट्य लेखन की ओर मुड़े हैं। सर्वेश्वर दयाल सक्सेना, मणि मधुकर, गिरिराज किशोर, मृदुला गर्ग, मृणाल पाण्डे ने उस समय हिन्दी नाट्य को संमृद्ध किये हैं। कथाकार से नाटककार बनना इतना आसान नहीं है। प्रस्तुतीकरण प्रक्रिया से जुड़ना और परिवर्तित संस्करण को लाना एक दृश्य विधा की जटिल संरचना का प्रमाण है। इस प्रक्रिया के बारे में गिरीश रस्तोगी इस प्रकार लिखती हैं कि - ***" कथाकार से नाटककार अथवा कथा लेखन से नाट्य लेखन तक आने की प्रक्रिया इतनी जटिल है और कथाकार के लिए वस्तुतः अपने भीतर अपने सोच और कल्पनाओं में, भाषा और संरचना में इतना बदलाव लाने की जरूरत होती है कि उससे कथा वस्तु का संघटन, पात्रों की परिकल्पना और चित्रण, भाषा और शिल्प सब अचानक प्रभावित होता है। इस संघर्ष और अनजाने व्याप्त इस कमजोरी से दृश्य पक्ष के दबाव से लेखक अपनी रचना में व्यक्त होता दीखता है।"***[66]

कहानी का रूपांतरण यह प्रक्रिया समकालीन परिवेश से उपजा हुआ है। कहानी का रूपांतरण क्या है? इसी सवाल से शुरूआत करें तो कह सकते हैं कि कहानी पढ़ते समय पाठक जिस अनुभूति का साक्षात्कार करता है और सूक्ष्म रूप से चुपा हुआ जो दृश्य संसार उसके सामने बनाता संवरता है उन दृश्यों को रचना के भीतर से तलाश करके मंच पर प्रदर्शित करने से ही कहानी के रूपांतरण का रूप बनता है। एक पाठक जब कहानी को पढ़ता था या सुनता है, उसी समय कहानी के

पाठ के समानांतर वह कहानी को दृश्यात्मक रूप से भी देखता चले, इसी कल्पाना को देवेन्द्रनाथ अंकुर ने अनेक रंग प्रयोग से साकार किये हैं।

दरअसल, इस प्रयोग में कहानी से उस अदृश्य मर्म को पकडने की कोशिश है, जो कहीं एक दो शब्दों या वाक्यों के बीच उपस्थित रहता है। इस प्रक्रिया में कहानी की दुनिया छोटी होते हुए भी उन कई अर्थ छायाओं को उजागर करती है, जितनी केवल पढने पर अनुभव नहीं किया जा सकता। कहानी के नाट्य रूपांतरण में कथानक परिवर्तन के नाम पर कथा के विस्तार को देख सकते हैं। चयनित पाँच कहानियों में यही देखा गया है कि सभी कहानियों के नाट्यरूपांतरण में कथा को विस्तृत किया गया है। इस प्रकार विस्तार के लिए नाट्य रूपांतरण में अनेक दृश्यों को जोडा जाता है।

रूपांतरण एक तरह से आम आदमी की कहानी को समझाने के लिए प्रयत्न करता है। क्योंकि पाठक अगर कहानी को समझ भी नहीं पाता है तो उसके सामने विकल्प होता है कि वह कहानी को कई बार पडे। कहानी में अधिकतर वर्णन होता है। यह अलग बात है कि किसी कहानी में अपवाद के रूप में संवाद अधिक मिल जाते है। नाट्य रूपांतरण में अधिकतर यह संवादों के रूप में बदल जाता है। यह भी विस्तार का एक कारण है। कहानी की नाट्य रूपांतरण तब सृजन होता है और कथानक की बिन्दुओं को विस्तार के साथ लेकर चलता है।

यदि नाटक का परंपरागत चैखट टूटता है और एक कहानी, अपने मूल स्वभाव के अनुरूप छोटे-छोटे परिवर्तनों आदि के साथ रंगमंच पर प्रस्तुत की जाती है, जिससे दर्शक को कहानी का भी रस मिलता है और
नाटक का भी। सहज, सरल लगते हुए भी इस विधा की अपनी कठिनाइयाँ है. इस पर नेमिचन्द्र जैन स्पष्ट रूप से इस प्रकार लिखते है कि - ***"इन सब उपलब्धियों के बावजूद, यह बात अपनी जगह सही है कि कहानी का रंगमंच नाटक के रंगमंच का स्थापनापत्र नहीं हो सकता। आज के दौर में एक हद तक वह कुछ जरूरतों तो पूरी करती, पर एक था अधिक कहानियों एक वास्तविक नाटक की जगह नहीं ले सकती। कहानी का रूपांतरण एक नए आस्वाद के लिए, जायका बदलने के लिए तो ठीक है, पर इसे ही रंगकार्य का ए मात्र या प्रमुख रूप मानना एक तरह का सरलीकरण है।"***[67]

प्रेमचन्द की प्रसिद्ध कहानी 'सत्याग्रह' के नाट्यरूपांतरण को देखा जाय तो कहानी को सिर्फ आधार बनाया गया है और उसके अनेक घटनाओं को जोडकर एक

नया नाटक बना दिया है। कहानी में जहाँ मात्र 11 पृष्ठ हैं कहीं इसके नाट्य रूपांतरण में 57पृष्ठ हैं। रूपांतरण में बहुत कुछ जोडा गया है। कहीं-कहीं कुछ बदला भी गया है। लेकिन फिर भी शैली को मूल के अनुसार रखा गया है। उदाहरण इस प्रकार है -

कहानी में :

"काग्रेस से हुजूर कहे कि तुम हडताल बन्द करा दो, तो सबको सरकारी नौकरी दे दी जायेगी। उसमें अधिकाश बेकार लोग भरे पड़े हैं, यह प्रलोभन पाते ही फूल उठेंगे।"[68]

रूपांतर में :

"ऐसा कीजिए हुजूर, आप राजनीतिक पार्टियों से कह दें कि हडताल वापस ले लो तो सबको सरकारी नौकरी दे दी जायेगी उनमें अधिकांश बेकार लोग भरे पड़े हैं।"[69]

इस रूपांतर में तो सफदर दृश्य भी कथयगत विषय को और भी सशक्त और प्रभाव पूर्ण बनाने के लिए समूहगाना का सहरा लेते हैं। जिस शैली में कहानी के संवाद हैं, उसी शैली में संवाद को गाना बनाकर विस्तृत किया है। जैसे -

"खान बहादुरा मैं चाहु तो
चलती हवा को रोक दूँ
ठहरी को चला दूँ
सूखे में बाढ़ कर दूँ मैं
सैलाब सुखा दूँ

पत्थर को आब कर दूँ मैं
पानी को जला दूँ
अजी, ये सब तो मामूली बातें हैं। अगर मैं ठान लूँ तो
गेहूँ के गिरने भाव को
मैं फिर से चढ़ा दूँ
सोने के दाम काट दूँ
चाँदी के बढ़ा दूँ।"[70]

कहानियों में विविधता की बहुत गूँजाइस है। थोडे-से परिश्रम से ही अलग अलग कथ्य को, अलग-अलग शैली को, अलग-अलग भाव दशा को, अलग-अलग सामाजिक परिवेश को कहानियाँ सुनी जा सकती है। ऐसी विविधता नाटक में बहुत आसानी से नहीं मिल सकती। कथाओं का जो विराठ और विपुल साहित्य संसार हमारे सामने हैं, इसमें कथ्य का बड़ा विस्तार है। अनेक तरह के अनुभव को कहानियों के माध्यम से रंगमंच पर लाया जा सकता है और उसे दर्शकों तक पहुँचाया जा सकता है। इसी प्रकार शिवमूर्ति द्वारा रचित 'कसाई बाड़ा' कहानी को स्वयं उन्होंने ही नाट्य रूपांतरित किया है। कहानी के सारे घटनाओं को नाट्य रूपांतरण में प्रस्तुत किया गया है। बल्कि कुछ संवाद, पात्र आदि जोड़े गये हैं। लेकिन घटनाक्रम कहानी के क्रमानुसार नहीं है। कहानी में कथा का आरंभ ऐसे होता है -

कहानी में :-

"गाँव में बिजली की तरह फैलती है कि शनिचरी धरने पर बैठ गयी है, परधान जो के दुआरे। लीडरजी कहते हैं, जब तक परधानजी उसकी बेटी वापस नहीं करते, शनिचरी अनशन करेगी, आमरण अनशन"[71]

नाट्य रूपांतरण में पहली घटना कुछ इस प्रकार है -

"गाँव की पगडंडी रात का अंधेरा। एक 15-16 वर्ष की लडकी भागती जा रही है गाँव की ओर। उसके पैरों पर और एकाध बार पूरे शरीर पर प्रकाश पड़ता है। स्टेज से उसके ओझल होती ही चार-पाँच भयानक आकृतिवाले कद्धावर गुंडा टाइप लोग मंच पर भागते हुए आते हैं। लड़की का पीछा कर रहे ये लोग मंच पर आकर हांफते हुए दाहिये-बाहें देखकर जायजा लेते हैं और फिर वे नेपथ्य की तरफ भागते हैं। रह-रहकर पडनेवाली हल्की रोशनी में खूँखार आँखे चमकती है।"[72]

कहानी के लेखक और नाट्य रूपांतरकार एक होने पर भी रूपांतरण में कहीं कुछ जोडा भी गया है, कहीं कुछ छोडा भी गया और कहीं कुछ परिवर्तन भी किये गये हैं। कहानी में जो आंचलिक बोली की प्रयोग किया गया है नाट्य रूपांतरण में भी वहीं उपयोग किया गया है। लेकिन रूपांतरण की नाटकीयता आँचलिकता आदि का भाव लाने के लिए भाषा शैली में थोडा बहुत परिवर्तन किया गया हैं। 50 से अधिक बार इस कहानी का मंचन हुआ है। बहुत सफलीकृत नाट्य प्रस्तुतियों में 'कसाई बाड़ा' को भी गिनाया गया है।

प्रसिद्ध रंगकर्मी मोहन राकेश द्वारा लिखा गया प्रसिद्ध कहानी 'परमात्मा का कुत्ता' को जैनेन्द्र मित्तल ने व्यापक बनाने का प्रयत्न किया। इसलिए कहानी की

घटना के साथ-साथ कुछ और घटनाओं को भी नाट्य रूपांतरण में स्थान दिया गया है। कहानी में परमात्मा का कुत्ता (किसान) का कोई नाम नहीं हैं। लेकिन नाट्य रूपांतरण में उसको 'साधुसिंह' नाम से संबोधित किया गया है। नाट्य रूपांतरण को विस्तृत बनाने के लिए कुछ घटनाएं जोडी गई है। कहानी का आरंभ कुछ इस प्रकार है -

कहानी में :

"बहुत से लोग यहाँ-वहाँ सिर लटकाए बैठे थे जैसे किसी का मातम करने आये हो। कुछ ले....... हो जाती है या नहीं।"[73]

प्रस्तुति में उपर्युक्त वर्णन को कुछ सीमित कर दिया गया -

रूपांतर में :

"किसी छोटे जिले की कचहरी का दृश्य। मोटर का हार्न तांगे व घोड़े के टापों की आवाज। खोम चेवाले.... पास प्रकाश होती है।"[74]

इस कहानी के नाट्य रूपांतरण में बहुत कुछ जोडा गया है। और कहीं कुछ बदला भी गया। फिर भी भाषा शैली का ध्यान रखा गया है, भाषा शैली को बदल नहीं गया है। ये अलग बात है कि सुविधानुसार कुछ शब्दों आदि को बदला गया है। कहानी में जहाँ लड़के का पात्र हैं वहीं नाट्य रूपांतरण में उसे लडकी बना गया है ताकि मंचन में और भी भावुकता का निर्माण हो सके। जैसे -

कहानी में:

"यह मेरे भाई का लडका है जो अभी से तपोदिक का मरीज है।"[75]

रूपांतर में :

"यह मेरे भाई की लड़की है जो अभी से तपोदिक की मरीज हो गई है।"[76]

'परमात्मा का कुत्ता' कहानी में अधिकतर बलोचाल की भाषा ही है। क्योंकि कहानी का विषय भी ऐसा ही है। लेकिन नाट्य रूपांतरकण के भाषा शैली में अंतर नहीं आया है। यह रूपांतरण मंचन की दृष्टि से सफल हैं। इसको प्रकाशित रूप में भी पाया जा सकता है।

'नंगी आवाजें' सआदत हसन मंटो की प्रसिद्ध कहानी है। इसको जितेन्द्र मित्तल ने रूपांतरित किया है। इस कहानी से एकाध घटना तो निकाला गया है। लेकिन विस्तार से नाट्य रूपांतरण को बढ़ाया गया है। कहानी में 7 पृष्ठ है तो नाट्य रूपांतरण में 62 पृष्ठ है। इसका घटना क्रम भी कहानी के अनुसार नहीं है मंचन

को दृष्टि में रखकर घटनाक्रम को रखा गया है। रूपांतरकार ने अपने अनुसार अपनी भाषा रखी, लहजा पात्रों के अनुसार रखा। केवल एक ही वाक्य को नाट्यरूपांतरकार किस प्रकार संवाद रूप दे दिया है, उसको समझने के लिए नीचे दिया गया उद्धरण से हमें पता चलता है -

कहानी में :

"मेरा शादी कर दो, नहीं तो मैं पागल हो जाऊँगा।"[77]

रूपांतरण में :

"गामा : (अटकते हुए) भो....लू..

भोलू : नशो में) हूँ....।

गामा : (सकुचाते हुए) भोलू

भोलू : (थोडे तेज स्व में) हाँ।

चुप्पी

(गामा चारों तरफ देखता है फिर हिम्मत जुटाकर)

गामाः ..... भोलू...

भोलू : (नाराजगी से) क्या है?

चुप्पी

भोलू : अबे कुछ कह भी रहा है?

गामा : (झटके से) भोलू मेरी शादी कर दें।"[78]

नाटक में नाटकीयता होती है। उस पर जोर देने से ही नाटक के पूरे तत्व सफल हो जोते है। कहानी में केवल 'शादी कर दो' पंक्ति को नाटकरूपांतरण में एक पृष्ट का संवाद किया गया है। रूपांतरण के संवाद में आत्मीयता की झलक मिलती है निम्न उदाहरण से विषय ज्यादा प्रभावपूर्वक मालूम पड़ता है -

कहानी में :

"भोलू शर्मा गया। फिर बोला, वह जो कल्लन है, उसने तो हद ही कर दी है..... साला रातभर बकवास करता रहता है....साली उसकी बीवी की भी जबान तालू से नहीं लगती... बच्चे रो रहे हैं.... पर वह।"[79]

रूपांतरण में :

"गामा : यह पूछ क्या नहीं हुआ? इस की कल्लन की तो.... जब तो साले ने टाट लगाकर ऊपर सोने का इंतजाम किया है तब से सारी कालोनी को हवा लग गई है, जिधर देखों टाट के परदे लटके हूए है और परदो में ...किसी की धोती कहीं पड़ी है तो किसी का तहमद कहीं। बच्चे रो रहें हैं.. मगर साला फौजी अपने काम में

लगा है। कल्लन तो रात भर बकवास करता है और उसकी बीवी की जुबान तो तालू से लगती ही नहीं है। दायें बायें जिधर भी नज़र डालों कुछ न कुछ हो रहा होता है। अजीब आवाजें आती है, ऐसे में नींद क्या आयेगी ? खाका।"[80]

इस प्रकार की स्थानों पर ऐसे परिवर्तन किये गये हैं जिस के माध्यम से भाषा शैली बदली है। लेकिन जहाँ भी भाषा में फर्क आया वह सकारात्मक रूप में ही पाया गया है। रूपांतरकार जितेन्द्र मित्तल ने नाट्य रूपांतरण के माध्यम से कहानी के एक नई जिन्दगी प्रदान की हैं। नाट्य रूपांतरकार को सराहना करते हुए कहा गया है कि - ***"मंटो जैसे सिद्ध हस्त कथाकार की इस पेचीदा कहानी का नाट्य रूपांतर निश्चय ही एक जोखिम भरा काम था। जितेन्द्र मित्तल ने जिस अद्‌भुत कल्पनाशीलता से कथ्य को नाट्य रूप में परिवर्तित किया है वह निःसंदेह उन्हें एक जागरूप नाटककार के रूप में दर्शकों -पाठकों के सामने ला खड़ा करता है। नंगी आवाजे निः संदेह दर्शकों और पाठकों की चेतना को झकझोरते हुए, सोंचने की एक नई दिशा देता है।"[81]***

पचासोत्तर नाटक की उपलब्धियों में इस कहानी नाट्यरूपांतरण एक नयी विधा के रूप में विस्तार पूर्वक साकार हो उठा है। कथाकार के शैली से नाटककार अथवा कथा लेखन से नाट्य लेखन तक आने की प्रक्रिया इतनी जठिल है और कथाकार के लिए वस्तुतः अपने सोच, कल्पना, भाषा और संरचना में बदलाव लाने की जरूरत है। कहानी लेखन से नाट्य लेखन तक जाने पर होनेवाले परिवर्तनों को प्रसिद्ध नाट्यकर्मी गिरीश रस्तोगी इस प्रकार व्यक्त करते हैं - "

1. कथा संघटन और परिकल्पनाएँ
2. निरर्थक, अनपेक्षित विस्तार
3. अतिरिक्त सतर्कता और शिल्पगत नवीन प्रयास का बल
4. शाब्दिक पक्ष की प्रधानता
5. पात्रों का स्पष्टीकरण और विश्लेषण अधिक
6. प्रत्यक्षत्व का अभाव.....आदि-आदि।"[82]

नाटक दृश्यात्मक है। उसमें कोई तात्कालिक या क्षणिक दृश्य का उपभोगता नहीं होता है, अगर होता भी तो उससे संपूर्ण नाटकीय प्रवाह प्रभावित होता है। लेकिन कहानी में जिन्दगी का कोई न कोई टुकडा मौजूद रहता है। इसलिए उस टुकडा को विस्तृत बनाने के लिए रूपांतरकार को उन नाटकीय स्थितियों, रंगयुक्तियों के चयन, बिंबों-प्रतीकों-संकेतों के चयन और प्रयोग, शैली और शिल्पगत नवीता की

ओर अधिक ध्यान देना पड़ता है। इस पर पचासोत्तर नाट्य जगत में ज्यादा ही प्रयोग मिलते हैं।

हिन्दी साहित्य जगत में बहुत विधाओं में प्रयोग करके अधिक रंगकर्मी तादात्म्य स्थापित करते हैं। हिन्दी नाटक के कर्म को आगे ले जाने के विधा के रूप में यह नाट्य रूपांतरण प्रक्रिया सामने आता है। खाली किसी भी कृति को संवाद बद्ध कर देना ही नाट्य रूपांतर नहीं हौ। पाठ्य दृश्य को रंग दृश्य बनाकर कल्पनाशीला से काम लेना पडता है। कभी-कभी दर्शकों तक स्थिति को संप्रेषित करने के लिए नये ढंग से पूरे दृश्य को सोचना पड़ सकता है। प्रेमचन्द और रेणु के कहानियों से यही कठिनाई को सामना करना पड़ा है।

यह विधा स्पस्ट रूप से दर्शकों को लेकर बाहर आयी है। रंगमंच के लिए नयी प्राण प्रतिष्ठा करने के लिए किए गए प्रयत्नों को दर्शक सफल भी किए हैं। सारे के सारे कहानी नाट्य रूपांतरण दर्शकीय चेतना से सफल हुए हैं। जो गहराई कहानीकार द्वारा मूल संवेदना के रूप में प्रयुक्त हुआ है वहीं संवेदना को रूपांतरकार ने अपनी कल्पना शक्ति से अधिक प्रभावशाली ढंग से एक नये विधा के रूप में प्रयुक्त किया है। निस्कर्ष के रूप में कहना है को आधुनिक संवेदना और रंगमंचीय संवेदना दोनों पैदा करने का श्रेय इस रूपांतरण प्रक्रिया को मिलता है।

3.5 अनुवाद

हर संस्कृति की कुछ अपनी विशेषताएँ होती हैं, उन विशेषताओं के अनुरूप, उस संस्कृति की भाषा में कुछ विशिष्ट शब्द और अभिव्यक्तियाँ होती हैं। अनुवाद आज की सर्वाधिक चर्चित विधा है। आज हिन्दी में लगभग हर विषय पर अनुवाद किया जा रहा है जैसे तकनीकी क्षेत्र, व्यावसायिक, सूचनापरक और साहित्यिक सभी प्रयुक्तियों के स्थर पर अनुवाद अनिवार्य बन गया है।

डॉ. शशिमुदिराज के मतानुसार - ***"अनुवाद का इतिहास भी उसी क्षण में आरंभ हुआ होगा जिस क्षण मानवीय भाषा के किसी अंश पर अंगुली रखकर किसी मानव समूह ने कहा होगा कि यह हमारी भाषा।"***[83] भारतीय साहित्य जगत के लिए अनुवाद कोई नयी बात नहीं है, यद्यपि अनुवाद प्रक्रिया से संबंधिक विभिनि पक्षों, सिद्धांतों समस्याओं और उनके निवारणीपक्षों या प्रतिपादक कालांतर में हुआ है। वर्तमान भारतीय भाषाओं में उपलब्द रामायण, महाभारत, भागवत जैसे काव्य में प्रचलित अनुवाद प्रक्रिया के ज्वलंत उदाहरण है।

समस्त भारतीय भाषाओं के साहित्य विकास के क्रम में अनूधित रचनाओं का किसी न किसी रूप में योगदान रहा। अपनी मातृ भाषा या परिचित किसी भाषा में उपलब्ध अनूधित भाषा से अध्ययन से पाठक कई साहित्यिक सामाजिक और सांस्कृतिक आयामों से संबंधित ज्ञान भी प्राप्त करता है। इसके साथ ही साथ हम यह देख सकते है कि इस तरह के अनुवाद के भावों व विचारों में एकरूपता की झांकी देखी जा सकती है। हमारे देश में या संसार के अन्य देशों में अगर लोगों के भावनाओं व विचारों के धरातल पर एक करना है तो उसका एक ही सेतु हो सकता है और वह है अनुवाद सिर्फ अनुवाद।

"सातवें दशक में हिन्दी नाट्य लेखन के साथ साथ भारत की अन्य भाषाओं को बेहतरीन नाटकों का हिन्दी में अनुवाद एवं मंचन की प्रक्रिया भी आरंभ हो गई। उस समय हिन्दी में नट्य लेखन के अभाव को पूरा करने के लिए और हिन्दी रंगमंच को गति, प्रयोग शीलता और सृजत धर्मी चेतना देने के लिए यह अच्छा कदम था।"[84] हिन्दा भाषा में जो उल्लेखनीय अनुवाद हुए है उनमें प्रमुख है - गिरीश करनाड के तुगलक, हयवदन, ययाति, बादल सरकार के एवं इन्द्रजीत, बाकी इतिहास, पगला घोडा, अंत नहीं, जुलूस, बुआँजी, विजय तेंदूलकर के खामोश अदालत जारी है, घासीराम कोतवाल, गिधाड़े, आद्य रंघाचार्य का सुनी जनमेजय इत्यादि। भारतीय भाषाओं के साथ विदेशी नाटकों के अनुवाद एवं मंचन की ओर भी प्रवृत्ति बढ़ी है। सेक्सिपियर, मोलियर, ब्रेख्त, चेखव, बेकेट आदि की रचनाएं अनुवदित होकर मंचित भी हुए हैं।

अनुवाद मनुष्य सभ्यता के विकास के एक दूसरे ही पक्ष का प्रतिनिधित्व करता है। भाषाओं का संप्रेषण असहाय स्थिति को पहुँच गया तब अनुवाद की आवश्यकता महसूस हुई। इस अभिशाप को वरदान में परिणत करने का उपाय खोजा गया अनुवाद में विभिन्न भाषाओं के इस महासागर में अनुवाद ही सेतुबंध बनकर आया। इस प्रकार हमने मानवीय सभ्यता के विकास की एक समानांतर दिशा अनुवाद के माध्यम से उद्घाटित की।

डॉ. नगेन्द्र के कथानुसार कथ्य और कथन का समन्वय रूप ही साहित्य है। यह साहित्य सृजन जितना क्लिष्ट कार्य है, इस का अनुवाद में उतना ही जठिल है। 'साहित्य का अनुवाद' कहने पर अनुवाद का क्षेत्र अत्यंत विस्तृत हो जाता है और साथ ही साथ संबंधित समस्याएं भी विभिन्न एवं असंख्य हो जाती हैं। इस संदर्भ में नेमिचन्द्र जैन का राय सही लगता है कि - ***"आज भी हमारे देश की प्रत्येक भाषा में उच्च कोटी के अभिनेय नाटकों की इतनी कमी है कि रंगमंच के उत्थान की कोई भी***

योजना अथवा परिकल्पना देश-विदेश की विभिन्न भाषाओं के नाटक साहित्य के अनुवाद के बिना पूरी नहीं हो सकती। वैसे भी संसार के रंगमंच के इतिहास में रंगकर्म के उत्कर्ष के युग अनिवार्य रूप से अन्य भाषाओं की श्रेष्ट नाटकों के अनुवाद के युग भी रहे हैं। संसार की कम उन्नत भाषाएं ऐसी हैं जिनमें शेक्सपियर, इब्सन आदि महान नाटककारों की रचनाएं अनूदित होकर अभिनीत न हुई हो।"[85]

वास्तव में, भारतीय भाषाओं के नाटक हिन्दी में अनूदित होकर खेले जाने की इस प्रक्रिया ने पूरे देश के रंगमंच को प्रभावित किया, क्योंकि हिन्दी केन्द्रों विशेषकर महानगरों में इसके प्रदर्शनों से अन्य भाषाओं में रंग कर्मी भी उनसे परिचित हुए। धीरे-धीरे हिन्दी अनुवाद से या फिर सीधे ही, देश की अन्य भाषाओं में नाटकों के अनुवाद का सिलसिला चल निकला। ठीक उसी तरह जैसे हम दुनिया की दूसरी तमाम भाषाओं की नाटकों या दूसरी रचनाओं को अपनी भाषा में अनुवाद उसके अग्रेजी अनुवाद से करते हैं।

अनूदित नाटकों के माध्यम से हिन्दी रंगकर्मी को अनेक प्रकार की सामाजिक स्थितियों, विविध चरित्रों और कथ्योंवाले नाटक को खेलने का मौका मिला और उसके साथ अनेक शैलियों और शिल्पों के नाटकों से भी उसका सामना हुआ। इससे हिन्दी में नाट्य प्रदर्शन की कला को बहुत थोडे ही समय में समर्थ होने का अवसर मिला। हिन्दी रंगमंच में यह काम अभी तक ठीक से नहीं हो पाया है। पर हिन्दी रंगमंच का भविष्य बहुत कुछ इस चुनौती का सफलता पूर्वक सामना करने पर ही निर्भर है।

भाषा शैली की दृष्टि से नाटक को अनुवाद करना है तो एक अच्छे अनुवादक के सामने कई प्रश्न उभर जाते है और देखा जाय तो उसे भाषा शैली की दृष्टि से कई प्रकार की समस्याओं का सामना करना पड़ता है। पठनीय नाटकों के अनुवाद में अनुवादकों को ज्यादा परेशानी नहीं होती, लेकिन अगर वो अभिनेय प्रधाननाटक का अनुवाद करना चाहता है तो उसके सामने कई समस्याएँ एक साथ उठ कड़ी होती है। अनुवाद को वास्तविक समस्या का समाधान तब करना पड़ता है जब उसे अपने अनुवाद को अभिनेय भी बनाना पड़ता है।

नाटक के अनुवाद के लिए सबसे आवश्यक शर्त यह है कि उसे रंगमंच का ज्ञान होना चाहिए। मूल नाटक की मंच-परंपरा का तथा जिस काल की जिस भाषा में अनुवाद किया जा रहा है, उसकी मंच परंपरा का मूल परंपरा को जाने बिना अनुवादक नाट्य को उन प्रतीकात्मक संकेतों को नहीं पकड़ पाएगा। निष्कर्ष रूप में

हम कह सकते हैं कि अनुवाद एक भाषा के दूसरी भाषा में जाने का संघर्ष है। रूप, शैली, अर्थ की विविध छवियों से जुडे हुए रचनात्मक साहित्य के स्थर पर अनुवाद का संघर्ष सुस्पष्ट है। यहाँ अनुवाद निश्चय ही पुनर्रचना ही प्रक्रिया और संघर्ष से गुजरता है।

बादल सरकार ने बगला नाटक जगत में नाटककार के रूप में सब का ध्यान आकर्षित किया है। उनका नाटक 'बाकी इतिहास' को हिन्दी में नेमिचन्द्र जैन ने अनुवाद किया है। क्षेत्रीय जीवन को व्यक्त करने में, भाषागत सामीप्य को दिखाने में नेमिचन्द्र जैन सक्षम होते हैं। पात्र की अवस्था, जीवन के अभिनय उसके भावात्मक और बौद्धिक स्तर आदि को, संपूर्ण नाटक के मूल मंतव्य की अभिव्यक्ति को अनुवादक स्पष्ट संप्रेषण करते हैं। बोल चाल की भाषा की उपयोग करके नेमिचन्द्र जैन इस नाटक को हिन्दी दर्शक के मन बहलाव नाटक बनाये हैं। नीचे दिया गया उदाहरण से हम इस विषय को और भी स्पष्ट रूप से मान सकते हैं। यदा -

"वासु : खबर सुनी है?
शरदः क्या खबर?
वासुः आपके हरीकिसन बाबु जाने वाले हैं।
शरद : कहाँ जाने वाले हैं?
वासु : कोई अच्छी नौकरी हाथ लग गयी है।
शरदः हूँ..ऽऽ। ये बात कितनी बार सुन चुका हूँ।
वासु : नहीं, नहीं ,बड़ी गरम खबर। चलो गये तो आपकी असिस्टैंट प्रोफेसर कौन रोक सकता है?
शरद : इससे अच्छी नौकरी हरीकिसन को कोई नही देगा, समझो। ऐसी खबरों पे कान देना बेकार है।"[86]

भारतीय रंगकर्म में प्रतिभावान कलाकारों में गिरीश करनाड एक है। कन्नड रंगमंच को सुसंपन्न करने में उनकी महत्वपूर्ण भूमिका है। भारतीय रंगमंच के सफल प्रस्तुतियों में इस 'तुगलक' को भी गिनते है। यह नाटक बीते युगों की स्मृति को जगाकर आत्मोंत्सर्ग के वातावरण को पैदा करते हैं। एक व्यक्ति के मशहूर रूपों को छोडकर उनका सही व्यक्तित्व की परिचय इस नाटक में मिलता है। 'तुगलक' की निजी और मानवीय जीवन के अन्वेषन को पकडने में गिरीश करनाड सफल सिद्ध होते हैं। गिरीश करनाड के प्रयत्न को दृष्टि में रखकर इब्राहीम अल्काजी इस प्रकार लिखते है कि - ***"किसी ऐतिहासिक व्यक्ति के द्वि-स्तरीय जीवन का पारस्परिक संबंध क्या था उसके सार्वजनिक और शासकीय जीवन और उसके अपने और व्यक्तिगत जीवन में? शासन संबंधी जीवन में व्यस्थ रहने का मतलब पारिवारिक और व्यक्तिगत***

खुशियों की बलि में दिखाई पड़ता था। चरित्र को व्यक्तिगत जीवन के परोक्ष में छिपी ताकतों और दबावों का नतीजा प्रायः राजनीतिक चालों में भी देखने को मिलता था। इन सब नाटकीय घटनाओं का विवेचन हमें रजनीचिक परिस्थिति को समझने-बूझने की नई दृष्टि देता है।"[87]

इस नाटक 'तुगलक' को हिन्दी में प्रसिद्ध रंगकर्मी बी. वी. कारंत ने अनुवाद किया। नाटक के अनुवाद की भाषा में एक आश्चर्य जनक प्रवाहः और चमत्कार है। इसमें ओज पूर्ण, प्रभावशाली लंबे-लंबे भाषण को अच्छी तरह अनुवादक ने हिन्दीकृत किया है। वास्तव में इस नाटक को नेशनल स्सूल आफ ड्रामा के लिए ही तैय्यार किया गया है। भाषागत अपनापन को बी.वी. कारंत स्पष्ट रूप से परिलक्षित रखने की चेष्टा इस नाटक में करते हैं। नीचे दिया गया उद्धरण से हमें यह विषय स्पष्ट लगता है। यथा - ***"ढिढोचरी : सुनो ऐ दिल्ली शहरे के बाशिंदों ! हुजूर आला शाहे शाहन, वालिएँ-जहाँन का ताजा फरमानो सुनो। आज श्याम को नमाज के बाद, वही मसजिद के सामने वही सेहन में एक खास जलसा होगा। इस जलसे में बंगार के शेख इमानुद्धीन, हिन्दुस्थान के आली मर्तवा बुजुर्ग, लोगों को खिताब करेंगे। अवाम को अपने पाक ख्यालात से नवाजेंगें, इनसाफ पसंद सुल्तान के तर्जे-अमल का मुफस्तिल तफ्सिरा पेश करेंगें। बादशाह सलामत से सरजद हुई गलतियों, जुल्मों और मजहबी बेकायदगियों का पूरा जायजा लेंगें।"***[88]

कन्नड में लोक नाट्य शैलीयों में लिखा हुआ प्रसिद्ध नाटक 'हयवदन' है। इस नाटक को भी बी.वी. कारंत ने ही हिन्दी में अनुवाद किया। 'हयवदन' यक्ष गान शैली में लिया गया है। लोक नाट्य शैली में इस नाटक को खेला गया है। देवदत्त, कपिल, पद्मिनी के बीच में होनेवाले इस नाटक में पूर्ण मनुष्य की तलाश की प्रयत्न है। भागवत और नट-नटी द्वारा कहानी सुनने की प्रक्रिया अनुवाद में भी अपनी रूप खो नहीं बैठी है। मनुष्य आकार और घोडे के चेहरे से 'हयवदन' की सृष्टि निश्चित ही गिरीश करनाड की विशेष दृष्टि की अभिव्यक्ति है। यथा -

"भागवत : क्यों भाई ? तुम्हें क्या हुआ?

नट2 : कब से चीख रहा हूँ, पर आप कान ही नही देता

भागवत : क्यों क्या कहना है?

नट2 : आपने हमारे साथी नट से कहा कि मैं घोडे का चेहरा देखकर डर गया हूँ। लेकिन चेहरा मोहरा ही नहीं, कान के सिरे से लेकर पूँछ की गुच्छी तक पूरा-पूरा घो...।"[89]

इस नाटक का अनुवाद बी.वी कारंत ने अच्छी तरह किया है। इसमें स्थानीय बोली की इस्तेमाल भी किया था। मूल भाषा में जो सामीप्यता है वहीं अनुवाद भाषा में भी दिखाने का प्रयत्न अनुवादक करते हैं। मूहावरा और शब्दों का सही इस्तेमाल किया गया है। हिन्दी प्रदेशों में अक्सर सुननेवाली गीतों की भी प्रयोग हुआ है। जैसे -

"आया एक सवर।
जाने किस देश का बाँका सरदार?
जान क्यों उसके सीने
पर मोतियाँ के फूल लाल-लाल है,
नयन बने हैं पत्थर के दाने,
देह पडी है ठंडी?
उजला घोडा दौडता चला
ताल -सरोवर, पहाडों-खेतों के पार
दिशाहीन-पथहीन।
आया एक सवार।
जाने किस देश का बांका सरदार।"[90]

'घीसाराम कोतवाल' मराठी के प्रसिद्ध नाटककार विजय तेंदूलकर द्वारा रचा गया है। इसको वसंतदेव ने हिन्दी में अनुवाद किया था। संगीत, नृत्य, गीत और वाक् विन्यास को सही रूप में अनूदित करने में वसंदेव सफल हुए है। इस नाटक में भी लोक नाट्य के ज्यादा तत्वों का उपयोग हुआ है। हिन्दी के कस्बाती बोली को अच्छी तरह उपयोग किया गया है। एक पतनशील विलास प्रिय समाज ही घासीराम कोतवाल जैसे व्यक्ति को जन्म देती है और हत्या भी करती है। बहुत प्रभावशाली ढंग से खेला गया यह नाटक अनुवाद जैसा लगता ही नहीं है। बी.वी कारंत के निर्देशन में हिन्दी प्रदेश में अनेक बार यह नाटक खेला गया है। नीचे दिया गया उद्धरण पढ़ने से इस नाटक के अनुवादक की भाषागत क्षमता का हमें परिचय मिलता है। यथा -

"औरत : गजब हो गया सरकार, हमारी रच्छा करें। हमारे आदमी को और देवर को कुतवाल के सिपाई पकड के ले गिये हैं। मेरे ससुर अन्तै सिधारे हजूर, उनकी अर्थी को चिता पै नहीं धरने दे रये हैं। बारने का परिमिट बनाया है सिरकार, असली है, उसको जाली कैते हैं। हम क्या करैं माई बाप, सुबू से लहास मसान में डली है, कुत्ते जमा हो गिये हैं - अनदाता इन्साफ होय!"[91]

इस प्रकार पचास के बाद अनुवाद हिन्दी नाटक के एक विधा के रूप में उभरकर बाहर आता है। हमें केवल भारतेन्दू हरिश्चन्द द्वारा अनूदित मुद्राराक्षस और मोहन राकेश द्वारा अनूदित मृच्छकटिक ही सबसे उल्लेखनीय और उपयोगी थे। लेकिन सत्तर के बाद बी.वी. कारंत, वसंत देव जैसे अनुवादक ने बंगला, मराठा, कन्नड भाषाओं से अनेक नाटकों को हिन्दी में अनूदित किये है। 'तुगलक' और 'घासीराम कोतवाल' दोनों नाटकों का अनुवाद इतना प्रभावपूर्ण है जैसे पहली बार पढ़ने से ही उसको हमें अनूदित रचना समझने में असफल हो जाते हैं।

वास्तव में पद्यात्मक नाटक का एक ऐसा विशेष तत्व है जिसकी अनुवाद में रक्षा विशेष रूप से कठिन हो जाती है लेकिन 'हयवदन', 'घासीराम कोतवाल' नाटकों के अनुवाद में शिल्पगत सूक्षमताओं को साथ लेकर अनुवादक ने जीवन के मानवीय संबंधों की सघन अनुभूति को पद्यों के रूप में अच्छी तरह अनुवाद किए हैं। उपलब्धि परक विषय यह है कि विभिन्न पात्रों की अपनी-अपनी भाषा पात्रानुरूप विविधता और विभिन्नता से रहते हुए भी पात्रानुकूल भाषा की सही रूप में उपयोगीकरण हुआ है।

भारतीय भाषाओं में से ही नहीं अंग्रेजी भाषा से ब्रल्तोल्ट बेख्त, इब्सन, बर्नाडशा, बेकेट आदि विश्व प्रसिद्ध नाटककारों के कृत्यों को भी हिन्दी में अनुवाद होकर देश की कई भाषाओं में लोक प्रिय ही नहीं हुए है, गलभग उन्हें मौलिक नाटकों जैसी स्वीकृति मिली है। मूल नाटकों के भावों, विचारों और शिल्प के संदर्भ की रक्षा अनुवादकों द्वारा हुआ है। यह संतोष की बात है कि पिछले दस पंद्रह वर्षों में हिन्दी के रंग जगत में नाटकों के अधिकांश अनुवाद प्रदर्शन की आवश्यकताओं को ध्यान में रखकर ज्यादा प्रयत्न हो रहे हैं। इन प्रयत्नों से यह अनुवाद विघा अपने संप्रेषण शक्ति को और बड़ा कर गतिमान है।

निष्कर्ष

एक नाटककार अपनी नाट्य रचना के माध्यम से जो कुछ भोकता तक संप्रेषित करना चाहता है, वही उसका कथ्य होता है। नाट्य रचना करते समय नाटककार अपने ही जीवन से ऐसी अनुभूतियों को चयन करता है जो न केवल उसकी अपनी होती है बल्कि सबकी। रचना आयाम पर नाटक में जिस प्रकार अपना अलग अस्तित्व, पहचान और वैशिष्ठ्य समाहित है ठीक उसी तरह प्रभावगत आयाम पर भी नाटक विशिष्ठ गरिमा से युक्त है। अपने कथ्यगत विशेषता को दर्शक समूह तक पहुँचतने के लिए पचासोत्तर नाटक अनेक विधाओं की सहायता से संप्रेषन प्रक्रिया का आधार बनता है।

हिन्दी नाटक को विस्तारता प्राप्त कराने के लिए और दर्शकीय संप्रेषण को बढ़ावा देने के लिए अनेक नव्य विधाओं को सृजित करके मूख्य नाट्य विधा को मजबूत किया गया है। गीति नाट्य, लोक नाट्य, नाट्यरूपांतकण, नुक्कड नाटक और अनुवाद प्रक्रियाओं से पचासोत्त्र नाटक गुजर कर एक नव्य रूप पाकर जन नाटक भी कहा गया है। गीति तत्वों से भरा हुआ 'अंधायुग' नाटक लोक नाट्य तत्वों से समाहित हबीब तन्वीर के नाटक हिन्दी रंगजगत के लिए नव्य मार्ग प्रतिष्टित करने में अनवरत साक्षी हैं।

नुक्कड नाटक हिन्दी नाट्यांदोलन को एक कदम और आगे ले जाकर सामाजिक क्रिया व्यापारों से जाहिरा तौर पर जुडा है। सामान्य जन मानस तक अधिकाधिक संप्रेषण की सुविधा को ध्याम में रखते हुए नुक्कड नाट्य प्रस्तुति नुक्कड नाटक के रूप में ही सार्थक और प्रासंगिक है। और उसी प्रकार नाट्य रूपांतरण प्रक्रिया भी हिन्दी नाट्य धर्मिता को जागृत करने में सफल हुई है। हिन्दी साहित्य के प्रसिद्ध उपन्यास और कहानियों को नाटकों के रूप में रूपांतरित कर दर्शक की साझेदारी को पचासोत्तर नाटककार स्पष्ट करते हैं। नये सिरे से सोचने के लिए और कल्पना शक्ति को विस्तार बनाने में यह विधा सफल होकर हिन्दी नाट्य सुसोभित करने में सफल होती है।

अनुवाद प्रक्रिया पुरातन काल से नाटक रचना का एक अंग बन गयी है। हिन्दी में पिछले सौ वर्षों से लगातार अंग्रेजी से जो अनुवाद हुई सबसे ज्यादा प्रभाव पचास के बाद के नाटककों से अधिक हुई है। तुगलक, हयवदन, घासीराम कोतवाल, जुलूस सबके सब नाटक अनुवाद को विधा परक संभावना देने में अपनी नर्णायक भूमिका निभाते हैं। इस प्रक्रिया के कारण हिन्दी नाटक बहुत सक्रिय, समृद्ध और बहु मुखी हो सका है।

इस प्रकार हिन्दी नाटक को समृद्ध बनाने में उक्त चर्चित किये गये विधाओं के कारण दर्शकीय चेतना के स्तर पर एक बहुलता मिल गई है। किन्तु कुछ जगह भाषा और रचना के कुछ और भी सूक्ष्म पक्ष हैं जिन पर नज़र डालना जरूरी है। इस अध्ययन से हमें यह विषय और एक बार पता चलता है कि नाटक समुद्र जैसा है इस में जितने भी विधा मिलने से ही अनेक विधाओं के लिए प्रायः राह देखती रहती है।

संदर्भ सूची

1. आधुनिक हिन्दी नाटक - डॉ. सुरेश चन्द्र शुक्ल - पृष्ठ - 141
2.सात श्रेष्ठ एकांकी - गंगा प्रसाद पाण्डेय - पृष्ठ - 204
3. आधुनिक हिन्दी नाटक - डॉ. सुरेश चन्द्र शुक्ल - पृष्ठ - 51
4. दृश्य-अदृश्य - नेमिचन्द्र जैन - पृ -90
5.स्वतंत्र्योत्तर युगीन परिप्रेक्ष्य और नुक्कड नाटक - डॉ. मदन मोहन शर्मा -पृ 37
6. आधुनिक हिन्दी नाटक - डॉ.नगेन्द्र - पृ 15
7.नई रंगचेतना और हिन्दी नाटककार - डॉ. जयदेव तनेजा - पृ - पृ 34
8.नई रंगचेतना और हिन्दी नाटककार - डॉ. जयदेव तनेजा - पृ - 34
9.आलोचना - नाटक विशेषांक - डॉ. रघुवंश - पृ -371
10. नई रंगचेतना और हिन्दी नाटककार - डॉ. जयदेव तनेजा - पृ - 38
11. नई रंगचेतना और हिन्दी नाटककार - डॉ. जयदेव तनेजा - पृ - 110
12. अंधायुग - धर्मवीर भारती - पृ - 96
13. अंधायुग - धर्मवीर भारती - पृ - 27
14. अंधायुग - धर्मवीर भारती - पृ - 46
15.सूखा सरोवर - डॉ. लक्ष्मीनारायण लाल - पृ -15
16.सूखा सरोवर - डॉ. लक्ष्मीनारायण लाल - पृ -13
17. रंगमंच - बलवंत गार्गी - पृ - 92
18. भारतीय नाट्य साहित्य - डॉ. नगेन्द्र - पृ - 261-62
19. समकालीन हिन्दी नाटक और रंगमंच - सनत कुमार - पृ - 25
20. नटरंग - अंक 45 - 1975- पृ - 26
21.नटरंग में प्रकाशित रस गंधर्व - पृ - 5
22.नटरंग में प्रकाशित रस गंधर्व - पृ -11
23.एक सत्य हरिश्चन्द्र - डॉ. लश्रामीनारायण लाल - पृ - 39
24. समकालीन हिन्दी नाटककार - डॉ. गिरीश गस्तोगी - पृ - 282-83
25. बकरी - सर्वेशेवर दयाल सक्सेना - पृ - 15
26. बकरी - सर्वेशेवर दयाल सक्सेना - पृ -29
27. बकरी - सर्वेशेवर दयाल सक्सेना - पृ - 79.
28. चरणदास चोर - हबीबी तनवीर - पृ -
29. आला अफ़सर - मुद्राराक्षस - पृ - 56
30. आला अफ़सर - भूमिका से - पृ - 17
31. आला अफ़सर - मुद्राराक्षस - पृ -38
32. नुक्कड नाटक - चन्देश (भूमिका) पृ - 11
33.दीर्घा - अंक -36- जितेन्द्र कौशल - पृ - 15

34.मुक्ति - प्रदीप सौरभ - संयुक्त - 2-3, जून 75 - पृ - 10
35.हिन्दुस्थानी - डॉ. सनत कुमार -अंक -1-4, पृ - 154
36.चौक चैक पर गली गली में -जनम (भूमिका से)
37. उत्तर गाथा - अरुण शर्मा - अंक - 13 - पृ - 67
38.वर्तमान साहित्य - डॉ. रमेश उपाध्याय - पृ - 17
39. सुजाता मायने पैसा - रोजेश कुमार - मुकुल मुक्ति - जून 75 - पृ-51
40.चौक चैक पर गली गली में -जनम - पृ -6
41. रोटी नाम सत् है - हरीश बदानी - उत्तरार्थ - मई -73 - पृ -122
42.सफदर - जनम - पृ -141
43.चौक चैक पर गली गली में - सहमत - पृ - 26
44. रोटी नाम सत् है - हरीश बदानी - उत्तरार्थ - मई -73 - पृ - 122-23
45.सफदर हाशमी - उद्भावना - (सफदर परिशिष्ट से)
46. अनुवाद विज्ञान - भोलानाथ तिवारी - पृ - 28
47. नाटक तथा रंग परिकल्पना - डॉ. गिरीश रस्तोगी - पृ - 31
48. समकालीन परंपरा और शैलियाँ - इन्दुजा अवस्थी - पृ -23
49. हिन्दी साहित्य का इतिहास - डॉ. नगेन्द्र - पृ - 751
50. नाटक तथा रंग परिकल्पना - डॉ. गिरीश रस्तोगी - पृ -31
51.नाटक तथा रंग परिकल्पना - डॉ. गिरीश रस्तोगी - पृ -33
52. होरी - विष्णु प्रभाकर - पृ - 5,6
53. गोदान - प्रेमचन्द - पृ - 6
54.होरी - विष्णु प्रभाकर - पृ - 10
55. गोदान - प्रेमचन्द - पृ - 5,6
56.होरी - विष्णु प्रभाकर - पृ - 10
57.होरी - विष्णु प्रभाकर - पृ - 4
58. मैला आँचल - फनीश्वरनाथ रेणू - पृ - 9,10
59.मैला आँचल - (फनीश्वरनाथ रेणू) - हृषीकेश सुलभ - पृ -14,15
60. महाभोज - मन्नभंडारी (रूपांतर) पृ - 11
61. नाटक तथा रंग परिकल्पना - गिरीश रस्तोगी - पृ - 39
62.राग दरबारी - श्री लाल शुक्ल - पृ - 28-29
63. रंगनाथ की वापसी - गिरीश रस्तोगी - पृ -19,20
64.नाटक तथा रंग परिकल्पना - गिरीश रस्तोगी - पृ -39.
65. महाभोज - मन्नुभंडारी -पृ -10
66.नाटक तथा रंग परिकल्पना - गिरीश रस्तोगी - पृ -49.
67. कहानी का रंगमंच - (संपा) महेश आनंद - पृ - 97
68. पचास कहानियाँ - प्रेमचन्द - पृ - 438-39
69.मोटेराम का सत्याग्रह - सफदर हाशमी - पृ - 30

70.मोटेराम का सत्याग्रह - सफदर हाशमी, हबीब तन्वीर - पृ - 40
71. कसाई बाडा - शिव मूर्ती - पृ - 67
72. कसाई बाडा - शिव मूर्ती (नाट्य रूपांतरण) - पृ - 19
73. बारह सौ चब्बीस बटा सात - जितेन्द्र मित्तल - पृ - 51
74. बारह सौ चब्बीस बटा सात - जितेन्द्र मित्तल - पृ -130
75. बारह सौ चब्बीस बटा सात - जितेन्द्र मित्तल - पृ -54
76. बारह सौ चब्बीस बटा सात - जितेन्द्र मित्तल - पृ -36
77. मंटो की तीस कहानियाँ - (संपा) - नीलाभ - पृ - 68
78. नंगी आवाज़े - जितेन्द्र मित्तल - पृ -45-46
79. मंटो की तीस कहानियाँ - (संपा) - नीलाभ - पृ -68
80.नंगी आवाज़े - जितेन्द्र मित्तल - पृ -46-47
81.नंगी आवाज़े (आदत हसन मंटो) - जितेन्द्र मित्तल - पृ - 6
82.नाटक और रंग परिकल्पना - गिरीश रस्तोगी - पृ - 49.
83. अनुवाद मूल्य और मूल्यांकण - डॉ. शशिमुदिराज (भूमिका से)
84. समकालीन हिन्दी नाटकाकर - गिरीष रस्तोगी - पृ - 20
85. रंग दर्शन - नेमिचन्द्र जैन - पृ -47
86. बाकी इतिहास -नटरंग -खण्ड -2, अंक -8 -
अक्तूबर -दिसंबर - 1968 - पृ - 31
87. तुगलक - गिरीश करनाड - पृ - 6
88. तुगलक - गिरीश करनाड - पृ -41
89. हयवदन - गिरीश करनाड - पृ -113
90. हयवदन - गिरीश करनाड - पृ -117
91.घासीराम कोतवाल - विजय तेन्दूलकर - पृ- 61

चतुर्थ अध्याय

4.हिन्दी नाटक : परिवर्तन के आयाम : मंच

4.1 रंगमंच : अर्थ एवं परिभाषा

4.2 परिवर्तन के मोड : नाटक एवं रंगमंच

4.2.1 दर्शकीय आकर्षण : दृश्य योजना

4.2.2 सृजन धर्मिता की अंतिम सफलता : अभिनय

4.2.3 नाटक के निर्णायक तत्व : रंगदीपन

4.2.4 रोमांचकता के प्रेरक तत्व : ध्वनि संगीत

4.2.5 अभिनय की सार्थकता का आधार : निर्देशन

4.2.6 नाटक की सामाजिकता के केन्द्रबिंदु : दर्शक

निष्कर्ष

4. हिन्दी नाटक : परिवर्तन के आयाम : मंच

मानव प्रारंभ से सुख और शांति के खोज में रहा है। और इस खोज ने उसे विकास की नये-नये आयाम दिये हैं। जैसे-जैसे मानव विकास करता गया वैसे-वैसे उसकी जीवन जटिल होता गया। मानव अपने सामाजिक, राजनीतिक और धार्मिक प्रवृत्तियों से बंधा हुआ है। अपने जठिल जीवन से शांति की कामना करके मानव अनेक काव्य विधाओं की प्राण प्रतिष्ठा की है। उन काव्य विधाओं में नाटक अत्यंत प्राचीन और प्रभाव शाली है। आदि काल से ही नाटक और रंगमंच के बीच अन्योंन्याश्रित संबंध है। नाटक को पूर्ण रूप से जानना है तो उसके साथ रंगमंच को भी जानना जरूरी है।

रंगमंच सजीव और साकार कला है। अभिव्यक्ति के लिए सशक्त माध्यम के रूप में रंगमंच प्रसिद्ध है। रंगमंच का तात्पर्य केवल रंगस्थली या रंग मंडप से नहीं है। इसकी परिधी में रंगशाला, नाटक, दर्शक, पात्र, वेश-भूषा, अभिनय, संगीत,मंचीय उपकरण आदि सभी आ जाते है। रंगमंच ऐसा दृश्य और श्रव्य का माध्यम है, जिस में सभी तरह के कलाएँ समन्वित हो जाते हैं। रंगमंच बड़ा व्यापक और सुनियोजित क्षेत्र है। रंगमंच से केवल मनोरंजन ही नहीं, साथ ही साथ यह उनको अपनी परंपरा से भी जोडता है और परिवर्तन की गरिमा भी प्रधान करता है।

नाटक एक साहित्यित विधा है। नाटक से स्फूर्ति मिलती है। नाटक लिखे जाने के प्रक्रिया से लेकर मंच पर संपूर्ण मंचीय विधान के साथ प्रस्तुत होकर दर्शकों के सोच में घुसने से ही, अपनी संपूर्णता को प्राप्त करता है। इस संदर्भ में राकेश वत्स की राय सही प्रतीत होता है कि -***" व्यावहारिक रूप में इस तथ्य की पडताल अनावश्यक जान पडती है कि नाटक और रंगमंच एक संयुक्त सत्ता न होकर दो पृथक सत्ताएँ हैं क्यों कि नाटक का जन्म रंगमंच के कारण रंगमंच में ही हुआ है और रंगमंच भी नाटक की वजह से ही अस्तित्व रखता है. किन्तु काल क्रम में अनेक बार कई युगीन कारणों से व्यावहार में नाटक और रंगमंच से अलग-अलग पड जाने की आस्थायी स्थितियों में यह सैद्धांतिक प्रश्न बीच-बीच में उठता रहा है।"***[1]

स्वतंत्र्योत्तर भारत में साहित्यिक मनीषियों एवं चिंतन शील व्यक्तियों का ध्यान आधुनिक सामाजिक एवं पारिवारिक समस्याओं पर रहा। अपने कहें हुए विषय को दर्शक तक पहूँचाने के लिए उन्हें एक सशक्त माध्यम की जरूरत पड़ी। पाश्चात्य नाटककार इब्सन, बर्नाडशा से प्रभावित होकर हमारे देश में भी नाटक को रंगमंच से

जोडने का प्रयास बहुत हुआ है। पचासोत्त्र नाटकों में प्रत्येक रंजन की क्षमता के साथ-साथ अपने जमीन से जुडने की भाव, प्रयोग धर्मिता की क्षमता का समाहार मिलता है। पचासोत्त्र नाटकों में रंगमंचीय विशिष्टताओं को देखने से पहले मंच की परिभाषा भारतीय और पाश्चात्या रंगमंच की अवधारणाओं को देखना उचित लगता है।

4.1 रंगमंच : अर्थ एवं परिभाषा

शाब्दिक दृष्टि से देखने पर **'रंगमंच'** का अर्थ देखें तो यह दो शब्दों का युग्म है। रंग और मंच। जहाँ सुव्यवस्थित एवं सुचारू रूप से अभिनय करना अपेक्षित है उसे हम साधारण रूप से मंच कहते हैं। रंग से अभिप्राय सौन्दर्य-सादनों रंगीन प्रकाश व्यवस्था, रंग बिरंगे परदों अथवा ध्वनि संयोजनों सहित है। हिन्दी में मंच के बाह्य एवं आंतरिक पक्षों को अंग्रेजी में क्रमश 'स्टेज' और थिएटर के रूप में जाना जा सकता है। गोविंद चातक के अनुसार - ***"स्टेज शब्द प्रायः नाट्य मंडप अथवा रंगशाला के लिए प्रयुक्त होता है..... थिएटर के अंतर्गत रंगभवन और उसके स्थूल उपादन ही नहीं आते वरन् नाट्य कृति और समस्त रंगकर्म उस की रूढ़ियाँ और प्रदर्शन में निहित शिल्प, भाव बोध और सृजनात्मक धरातल भी उसी में सम्मिलित हैं।"*** [2]

वस्तुतः किसी भी शब्द के अर्थ को उसके सर्वागीन रूप में ग्रहण करना चाहिए। रंगमंच के व्यापक अर्थ को सीताराम झा श्याम अपनी कथन में व्यक्त करते हैं कि ***" रंगमंच एक व्यापक शब्द है। रंगमंच इससे न केवल नाट्य मंडप का बोध होता है, अपितु इस में पांडु लिपी, रंग लिपी, अभिनेता दर्शक, रंगशिल्प के तत्व अर्थात दृश्य बंध, रंग सज्जा, रंगदीपन, ध्वनी प्रभाव पार्श्व-पृष्ठ संगीत आदि सब समाहित रहते हैं।"*** [3] सीतारामझा श्याम ने अपने कथन में रगंमंच शब्द की व्यापकता को रेखांकित करते हुए रंगमंच के स्थूल एवं सूक्ष्म उपादानों की ओर स्पष्ट संकेत किया है। आगे चलकर श्याम लिखते हैं - ***"रंगमंच का अर्थ हुआ संपूर्ण समाज-उसका समग्र जीवन-दर्शन उसकी समस्त उपलब्धियों का अभियान, उसकी समस्त गतिविधयों का प्रदर्शन।"*** [4]

रंगमंच ने भी अन्य साहित्य विधाओं की भाँति विभिन्न वादों और गेरों में कई विशेषणों को अर्जित किया है। लक्ष्मीनारायण लाल के अनुसार - ***"रंगमंच एक अनुभूति है, इसे हम रंगमंच का आंतरिक पक्ष कह सकते हैं, पर जीवन में इसकी विराटता और समग्रता को देखना और उसके विभिन्न त्तवों को सही अर्थों तथा उसके ही अनुपात में समझना रंगमंच की अनुभूति का व्यावहारिक पक्ष है।"5*** इस प्रकार

रंगमंच मनुष्य की मूलतः आंतरिक वृत्तियों का संचित प्रतिबिंब है। और मनुष्य की संपूर्ण शक्ति का सृजन रूप भी है।

रगंमंच एक भाव है- एक सशक्त अनुभूति है। मनुष्य का जन्म इसी मूल भाव और संपूर्ण प्रवृत्ति के साथ हुआ। बाल का खेल बहुरंगी नाट्य प्रदर्शन, इसी स्थाई भाव का ज्वलंत उदाहरण है।नाटक दृश्य काव्य होने के कारण रंगमंच पर अभिनेता होने पर ही दृश्य काव्यत्व सार्थक हो सकता है। इस का तात्पर्य यह है कि नाटक का प्राण अभिनयशीलता है। अभिनय मानव की सहज प्रवृत्ति है। इस सहज प्रवृत्ति को उजागर करना रंगमंच का प्रधान लक्ष्य रहा है।

वास्तव में कला को परिभाषित करना क्लिष्ट कार्य होता है। विशेषतया रंगमंच के संदर्भ में और भी सतर्क रहना पडता है नहीं तो एकांगी और अपरिपक्व परिभाषा रंगमंच के विकास में बाधा पहुँच सकती है। रंगमंच की परिभाषा 'हिन्दी साहित्य कोश' इस प्रकार करता है - ***"वह मंच जिस पर प्रेक्षकों के सम्मुख नाटक का अभिनय प्रदर्शन किया जाता है। अब इससे प्रेक्षागृह तथा नाटक दोनों का ही बोध होता है।"***[6] हिन्दी साहित्य कोश की यह परिभाषा से हमें यह पता चलता है कि रंगमंच का अपना एक आंतरिक संसार भी है।

इनसाइक्लोपीडिया अमेरिका के अनुसार रंगमंच केवल जीवन की प्रतिच्छाया ही नहीं अपितु सत्य के अस्तित्व की ओर खोज भी करती है। जैसे - ***" by modern standards, theatre, is one of the service of man's attempt to understand the world and himself. It is not merely a reflection of life, but an active searh for the truth's of existence."***[7]

ब्रिटेनिका रंगमंच को एक सामूहिक कला मानते हैं। रंगमंच यूगानुसार बदलता रहता है। जो भी परिणाम युगानुकूल प्राप्त होते हैं उन परिणामों से भी रंगमंच प्रभावित रहता है।इनसाइक्लोपीडिया ब्रिटेनीका के अनुसार - ***" Theatre the place in which dramatic entrtainments are presented and by extention, the activity comprising both the dramatic performances themselves and the work of allwho are responsible for presenting them to audiences."***[8]

नेमिचन्द्र जैन के अभिप्राय में 'नाटक का माध्यम रंगमंच' है। नाटक और रंगमंच के बीच गहरा और व्यापक संबंध है। भारतेन्दु हरिश्चन्द्र रंगमंच और नाटक के

विषय में इस द्वंद्व में नहीं थे कि इनमें से कौन छोटा है और कौन बडा, नाटक को एक सामाजिक एवं शिक्षात्मक शक्ति के रूप में इस्तेमाल नहीं करते थे। जयशंकर प्रसाद के राय में नाटक स्वयं पोषक है। उनके ही शब्दों में - ***"रंगमंच के विषय में यह भारी भ्रम है कि नाटक रंगमंच के लिए लिखे जायें, प्रयत्न चो यह होना चाहिए कि नाटक केलिए रंगमंच हो, जो अधिक व्यावहारिक हो।"***[9]

मोहन राकेश 'नाटक और रंगमंच' नामक निबंध में लिखते हैं - ***" आज की रंगमंचीय स्थिति में दिलचस्पी रखते हुए भी मैं अपनी को इसका एक हिस्सा महसूस नहीं करता। रंगमंच का जो रूप हमारे सामने है उसकी सारी परिकल्पना परिचालक और उसकी अपेक्षाओं पर निर्भर करती है। नाटककार की स्थिति एक प्रेक्षक की सी रहती है। रंगमंच पर भी परिचालक भी नियामक भूमिका होती है।"***[10]

नेमिचन्द्र जैन नाटक को रंगमंच से अलग करके देखना नहीं चहते हैं। उनकी दृष्टि में रगमंचीय अभिव्यक्ति का मूल आधार अंततः नाटक ही है। रंग कला का प्रारंभ बिंदु नाटक ही है। अपने ग्रन्थ रंगदर्शन में नेमिचन्द्र जैन इस प्रकार अपने वक्तव्य व्यक्त करते हैं कि - ***" नाटक साहित्यिक अभिव्यक्ति की ऐसी विधा है जो केवल साहित्य नहीं, उससे अधिक कुछ और भी है, क्योंकि रचना की प्रक्रिया लेखक द्वारा लिखे जाने पर ही समाप्त नहीं होता, उसकी पूर्ण प्रस्फुटन और संप्रेषण रंगमंच पर जाकर ही होता है। रंगमंच पर अभिनेताओं द्वारा प्राण प्रतिष्ठा के बिना नाटक को संपूर्णता प्राप्त नहीं होती। और इसलिए रंगमंच से अलग करके नाटक का मूल्यांकन या उसके विवध अंगों और पक्षों पर विचार अपूर्ण ही नहीं भ्रामक हो जाता है।"***[11]

थिएटर क्या है? थिएटर सृजनात्मक अभिव्यक्ति का रूप है, जिस में किसी संवाद मूलक आलेख या कथा को रंग शिल्पियों द्वारा दर्शक के सामने प्रस्तुत करने की प्रक्रिया है। आदुनिक रंगमंच के विषय में दर्शक प्रधान भारीधारी है। दर्शक को उपेक्षा करके आज हम नाटक खेल नहीं सकते हैं। रंग कर्मियों को अत्यंत प्रभावित करने वाली ब्रेख्य रंगमंच को इस प्रकार परिभाषित करते हैं - ***"A theatre which makes no contact with the public is a nonsence."***[12]

रंगमंच ने भी अन्य साहित्य विधाओं जैसी विभिन्न वादों और घेरों में कई विशिष्टताओं को अर्जित किया है। इनके कारण ही रंगमंच की परिभाषाएं निरंतर बदलती रहती है। जितने भी वाद आधुनिक युग में सामने आये हैं वे सब रंगमंच को प्रभावित करके उसे नई दिशा दी है। सामान्य तौर पर हम साहित्य नाटक उनको कह लेते है जो अभिनय योग्य होने पर भी पाठ्य रूप में ही अधिक संतोष प्रधान

करते हैं। इससे भिन्न वे नाटक है जो पठन के बजाय रंगमंच पर अधिक प्रभावशाली सिद्ध होते है। उनके हम रंगमंच नाटक कह लेते हैं। पचासोत्तर ज्यादातर रंगमंच के अनुकूल नाटक को हम प्राप्त करते हैं। अपने प्रभावशाली आलेख को सही रूप में संप्रेषण करने के लिए पचासोत्तर नाटकार सही जमीन तैय्यार की है। उस जमीन पर अपने मन चाहे ढंग से खेल गये नाटक हिन्दी नाटक को आगे ले जाने में महत्वपूर्ण भूमिका निभाई है।

4.2 परिवर्तन के मोड : नाटक एवं रंगमंच

पचास से पहले के हिन्दी नाटक के बारे में यह कहा जा सकता है कि भारतेन्दु और जयशंकर प्रसाद को छोड कर कोई भी महत्वपूर्ण नाटककार नहीं हुआ। लेकिन पचास के बाद इस कथन को व्यक्त करने में अनेक दिक्कते हमें सामना करना पड़ता है। क्योंकि पचासोत्तर हिन्दी नाटक को मोहन राकेश, धर्मवीर भारती, हबीब तन्वीर, सर्वेसेवर दयाल सक्सेना, मुद्राराक्षस आदि सुसंपन्न रंगकर्मी ने तेजी से विकास गरिमा प्रधान की है। इसलिए पचास के बाद हिन्दी नाटक को महत्वपूर्णता प्रधान करनेवाले नाटककार ज्यादातर रंगमंच को विकसित करने में विशेष बल देते हैं।

मौलिक और साहित्यिक नाटक परंपरा में हिन्दी के प्रथम नाटककार भारतेन्दु हरिश्चन्द्र ही है। प्रारंभिक स्तर पर हिन्दी नाटकों का शिल्प और विन्यास पाश्चात्य नाटकों से भी प्रभावित हुआ। परंतु संस्कृत नाटकों की परंपरा का अनुपालन हिन्दी नाटकों में नहीं है। उन में आधुनिक परिप्रेक्ष्य में अपने विचारों की अभिव्यक्ति और लोक धर्मी शिल्प का विन्यास मिलता है। भारतेन्दु गण ने पश्चिमी साहित्य से प्रभावित होकर भी भारतीय दृष्टिकोण के अनुसार नये प्रतिमानों की स्थापना की है। इस काल के नाटकों में नवीनता के प्रति अज्ञात आकर्षण और प्रचीनता के प्रति संस्कारगत मोह दोनों का प्रतिबिंब दिखाई देता है।

वस्तुतः हिन्दी रंगमंच को नवजागरण की चेतना बंगला नाटक और रंगमंच से प्राप्त हुई। वास्तव में प्रत्यक्ष रूप से बंगला और अप्रत्यक्ष रूप से अंग्रेजी साहित्य से प्रभावित होकर भी हिन्दी नाटककार अपनी विरासत नहीं भूले और उसी के अनुरूप नवीनता रखते हुए लौकिकता से जुडे। फलस्वरूप ही प्रारंभिक नाट्य दौर में पौराणिक, ऐतिहासिक और सामाजिक नाटक लिखे गये। इस प्रकार हिन्दी प्रारंभिक रंगमंच के विकास में बंगला, अंग्रेजी और फारसी रंगमंच के योगदान को भी नकारा नहीं जा सकता।

हिन्दी नाटक का प्रारंभ राष्ट्रीय और सामाजिक जागरण से जुडा हुआ है। इसलिए प्रायः सभी नाटक सोद्धेश्य हैं। एक आदर्शवादी प्रवृत्ति को लेकर भारतेन्दु तथा उनके सहयोगी नाटककारों ने पौराणिक, ऐतिहासिक ,राष्ट्रीय सामाजिक, व्यंग्यात्मक नाटकों की रचना की है। उनकी 'अंधेरे नगरी' के रंगविधान में इतना खुलापन है कि इस में रगं प्रयोगों की विविधता चाहें जिस रूप में बढ़ सकती है। इसकी शैली लोक नाट्य शैली है। भारतेन्दु के नील देवी सत्य हरिश्चन्द्र और अंधेर नगरी तो इनके ही समय में काशी और अन्य स्थानों में खूब खोले गये। 'वैदिक हिंसा हिंसा न भवती' और 'भारत दुर्दशा' का भी रंग प्रदर्शन उनके समय में हो चुका था।

भारतेन्दु युग में अधिकांश महत्वपूर्ण नाटककार या तो स्वयं रंगकर्मी भी थे या किसी न किसी रूप में रंगमंच से घनिष्टता से जुडे थे। फलतः उनके नाटकों में सहज अभिनेयता है। रंगशाला में दर्शकों को आकृष्ट करने की दिशा मे भारत स्थिति अंग्रेजों ने महत्वपूर्ण भूमिका निभाई है। उस समय सरकारी कर्मचारियों के साथ रंगशाला में उच्च वर्ग के भारतीयों को भी वहाँ खींच रहीं थीं और वहाँ भीड़ बड़ने लगी थी। बाद में भारतेन्दु युगीन नाटककारों के सचेतना उन्हें पर्याप्त मनोरंजन और राष्ट्रचिंतन की सामग्री भी दी जिससे वे रंगशाला में टिके रह सके और रंगकर्मियों को दर्शकों का संरक्षण प्राप्त होने लगा। लेकिन सामान्य जन तक नाटक नहीं पहूँच सकी। समरस्या परक नाटक प्रदर्शित करने पर भी दर्शकीय चेतना का बहुत बडा अभाव था।

प्रसाद का समय ऐसा था जब वे ऐतिहासिक और सांस्कृतिक दृष्टि से संपन्न नाटक तो लिखे रहे थे, लेकिन अच्छे मंचन के लिए हिन्दी रंगमंच तैय्यार नहीं था। प्रासद और उनके युग के नाटककार अपने वर्ग प्रयोजन के लिए रंगमंच को बंद कमरों में बंधी बनाएँ है। आज भी प्रसाद के गंभीर संस्कृत निष्ट नाटकों का मंचन मिलना बहुत मुस्किल था। इस संदर्भ में प्रताप सहगल का कथन उचित लगता है कि - ***"प्रसाद के समय में वस्तु स्थिति यह थी कि हिन्दी के नाम पर जो रंगमंच था उससे जुड कर प्रसाद लिख नहीं सकते थे और जो वे लिखते थे वे तत्कालीन रंगकर्मियों को रंगमंच के अनुकूल नहीं लगता था या यह कहना चाहिए कि उनकी अभिरूचियाँ एक दम एक दूसरे के विपरीत पड़ती थी अतः रंगमंच से जुडने की जो प्रक्रिया शुरू हो सकती थी, वह तब नहीं हुई।"***[13]

एक नाटककार के रूप में प्रसाद जी के योगदान को नकारा नहीं जा सकता। लेकिन उनके नाटकों की भाषा और समाज सामान्य के विचारों से बहुत दूर है। वर्तमान और भविष्य को एकाकार करनेवाले शाश्वत सत्यों, आदर्शों एवं मूल्यों से उन्होंने जो रचना की है वह सब उनके वर्ग प्रयोजन के लिए ही है। पचासोत्तर के

बाद रामगोपाल बजाज ने स्कन्दगुप्त, विमल लाठ ने, चन्द्रगुप्त और रूचिका द्वारा ध्रुवस्वामिनी के मंचन हुए हैं लेकिन हर बार यही लगता रहा कि हिन्दी रंगमंच अभी भी प्रसाद के साहित्यिक मानों के पास पहुँचने में सक्षम नहीं हुआ।

पचास के बाद रंगमंच के लिए नाटक लिखे गये। प्रथम चरण में नृत्य, गीत आदि के रूप में द्वितीय चरण में कथा और चरित्र का रंग डालकर नाटक एवं रंगमंच की निर्मिती सामाजिक एवं सांस्कृतिक अभिव्यक्ति के लिए ही हुई। ज्यों-ज्यों मनुष्य का जीवन सरल से संश्लिष्ट होता गया, उसके रंगमंच में स्वभावतः पूर्ण रचित नाट्य कृति की अपेक्षा होती गयी। और यह अपेक्षा इतनी बढ़ी कि रंगमंच का पूरा रूप उसका सारा स्थापन नाट्य कृति में अंतर निहित हो गया।

1950 से लेकर 2000 के बीच दो सौ से भी अधिक ऐसे नाटक और लगभग सत्तर ऐसे नाटककार सामने आ चुके हैं जिन्होंने नाट्य रचना को परंपरा के सांचे से निकाल कर उसे नया रूप देने का प्रयास किया है। इसलिए पचासोत्त्र हिन्दी नाटकों में रचना की दो मुख्य धाराएँ दिखाई देती हैं, पारंपरिक और प्रयगोशील रचनाएँ। पारंपरिक नाट्य रचनाओं के मंचन के लिए कोई अवसर नहीं रह गया। लेकिन प्रयोगशील नाटकों ने इस जडता को तोडा और नये-नये विविध कौशलों का परिचय दिया। इस शोध में मैंने प्रयोगशील नाटकों के मंचन पर विशेष दृष्टि लगाया है।

पचास के आगे हिन्दी का नाटककार प्रदर्शन और अभिनय की विशेष, समस्याओं और आवश्यकताओं से परिचित नहीं, वे नहीं जानते की कैसे अंकें-दृश्यों का विभाजन होना चाहिए, कैसे पात्रों के प्रवेश और प्रस्थान का नाटकीय उपयोग करना चाहिए। कैसे संवादों को अधिक चमत्कारिक और नाटकीय बनना चाहिए, कैसे चरित्रों को, उनकी बात-चीत उनकी गतिविधि इत्यादि को, बल्कि समस्त घटनाओं को, संयोजित करना चाहिए। संक्षेप में कहना है तो सक्रिय एवं समर्थ रंगमंच के अभाव में नाटक के बाह्य स्वरूप और उसकी रचना के शिल्प के हिन्दी नाटकाकर अधिक परिचित नहीं हो पाते थे।

पचास के आगे के नाटकों में जो उपलब्धियाँ की कमी महसूस हुई उनकी पूरी तरह पचासोत्तर नाटकों में अच्छी तरह उनके परिवर्तित रूप मिलते हैं। विविध पात्रों के स्वभाव व्यावहार, वस्त्र विन्यास,रंग रूप, हाव-भाव और गतिविधान के वैषम्य के साथ-साथ नाटकीय प्रवेश-प्रस्थान, अर्थ गर्भी मौन, आशंका, संभावना और आकस्मिकता, संवाद, अभिनय सभी का रोचक इस्तेमाल किया है। इस संदर्भ में इब्राहीम अल्काजी के इस उद्धरण समीचीन लगता है कि - ***"भारतीय रंगमंच के***

विकास में छठा दशक अनेक कारणों से बहुत ही समृद्ध और महत्वपूर्ण कालों में से एक माना जाएगा। सबसे स्पष्ट और सबसे प्रमुख कारण यही है कि इन वर्षों में रंग कला की अनुषंगिक शाखाओं- नाट्य लेखन, अभिनय, निर्देशन, मंच-परिकल्पना एवं प्रकाश - व्यवस्था ने निर्दिष्ट प्रतिभाओं के जरिए प्रौढ़ता प्राप्त कर ली। यह व्यापक उत्कर्ष नहीं था, क्योंकि उसके पीछे धीमे लेकिन दृढ़ और समर्पित प्रयत्न के दस पंद्रह वर्ष हैं।"[14]

समर्थ नाटककार सदैव अपना समय की रंग - रूढ़ियों का इस्तिमाल भी करते हैं और उनका अतिक्रमण भी। इस कथ्य से बिलकुल पचासोत्त्र नाटककार सहमत होते हैं। अपने समय के रंगमंच को पुष्ठ करने में अनेक प्रयोग नाटककार तथा रंगकर्मियों ने किये है। राकेश की आगमन से हिन्दी रंगमच के एक नया आयाम और प्रदर्शन मूल्यों की दृष्टि से एक उच्चतर स्तर उपब्ध हो गया । इसी काल खण्ड में नाटककार, अभिनेता और दर्शक को कलात्मक स्तर पर जोडनेवाले निर्देशक नामक एक संयोजन व्यक्तित्व का उदय हुआ और रंगकर्म में अपनी प्रमुख भूमिका के कारण कालांतर में वह इतना महत्वपूर्ण बन गया है कि समकालीन हिन्दी रंगमंच वास्तव में केवल निर्देशक का रंगमंच ही होकर रह गया।

मोहन राकेश के अतिरिक्त डॉ. लक्ष्मीनारायण लाल, सुरेन्द्र वर्मा, मणि मधुकर, शंकर शेष, मुद्राराक्षस, भीष्म साहनी, रमेश भक्षी, सर्वेश्वर दयाल सक्सेना, कुसुम कुमार, मृणाल पाण्डे, इत्यादि से लेकर नई पीढी के कई युवा रचनाकारों के अनेक नाट्य लेखों ने कल्पनाशील निर्देशकों को उत्तेजित करके अभिनव रंग-प्रयोगों के माध्यम से हिन्दी रंगमंच को समृद्ध एवं उन्नत करने में उल्लेखनीय योगदान दिये हैं।

हिंन्दी रंगनंच की समृद्धि को दृष्टि में रखकर मोहन राकेश एक नई दृष्टि देते हैं। जो भी आधुनिक नाटककार है वे सब राकेश के रंग परिकल्पना से प्रभावित ही थे। 1958 में प्राकाशित 'अषाढ़ का एक दिन' नाटक के भूमिका में जो अभिप्राय राकेश ने व्यक्त की है वह आज भी प्रासंगिक लगता है। मोहन राकेश के शब्दों में आज हमारे रंगमंच की गतिविधि का सही चित्र हमें मिलता है। यथा -***"हिन्दी रंगमंच के विकास निस्संदेह यह अभिप्राय नहीं है कि अत्याधुनिक सुविधाओं से संपन्न रंगशालाएँ राजकीय या अर्द्ध राजकीय संस्थाओं द्वारा जहाँ-तहाँ बनवादी जाएँ जिससे वहाँ हिन्दी नाटकों का प्रदर्शन किया जा सके। प्रश्न केवल आर्थिक सुविधा का ही नहीं, एक सांस्कृतिक दृष्टि का भी है। हिन्दी रंगमंच को हिन्दी भाषी प्रदेश की सांस्कृतिक पूर्तियों और आकांक्षाओं का प्रतिनिधित्व करना होगा, रंगों और राशियों के हमारे विवेक को व्यक्त करना होगा। हमारे दैनंदिन जीवन के राग-रंग को प्रस्तुत करने***

के लिए हमारे संवेदों और स्पंदनों को अभिव्यक्त करने के लिए, जिस रगंमंच की आवश्यकता है, वह पाश्चात्य रंगमंच से कहीं भिन्न हगा। इस रंगमंच का रूप विधान नाटकीय प्रयोगों के अभ्यंतर से जन्म लेगा और समर्थ अभिनेताओं तथा दिग्दर्शकों के हाथों उसकी विकास होगा।"[15]

4.2.1 दर्शकीय आकर्षन : दृश्य योजना

अनुभूति को दृश्यत्व देना अनिवार्य कार्य है। इसलिए जो भी लिखित रूप है उसको दृश्यत्व देना सर्जनात्मकता की प्रतीक है। रंगमंच को नाटक से अलग कर देखनान तो संभव है और न उचित ही, क्योंकि रंगमच ही नाटक का मूर्त सत्य है, जीवन की मूर्तन के लिए व्यापक पृष्ठ भूमी, अनुकूल वातावरण और नाटक की व्याख्या को आत्मसात कर सकने वाले दर्शकों का समूह वस्तुतः रंगमंच ही उपलब्ध कराता है। नाटक के भीतर का जीवन कथ्य-सत्य और नाटक का अपना काव्यत्व मूलतः रंगमंच पर सजीवन और मूर्त होकर अभिव्यक्ति पाता है।

पचासोत्त्र नाटककारों द्वारा दृश्यात्मक परिकल्पना अत्यधिक महत्वपूर्ण तत्व के रूप में स्वीकार की गयी है। नाटकाकर की दृश्यात्मक परिकल्पना मन के अमूर्त रंगमंच से उतर कर प्रदर्शन के समय मंच पर मूर्त रूप ग्रहण करती है। पचासोत्तर नाटककार ने अपने कल्पना के अनुरूप मंच बोध तैय्यार किये हैं। अतः नाटक में जिस युग का चित्रण है, उस युग के वातावरण और परिवेश का निर्माण करने के लिए आधुनिक नाटककर दृश्य बंध का प्रयोग करते हैं। गोविंद चातक के मतानुसार - ***" किसी भी प्रस्तुति की दृश्य सज्जा नाट्य कृति के अनुरूप होने के बाध्य है।"***[16]

साधारण रूप से हरेक नाटक के लिए एक न एक परिवेश रहता है। नाटककार अपने पात्रों को इस परिवेश के अंतर्गत चलाता है। जो परिकल्पना अपने मन में रख कर नाटककार लिखता है वहीं परिकल्पना रंगमंच पर साक्षात्कार होने से वह नाटक सफल बन पडता है। इसके लिए सही दृश्य योजना का उपयोग करना चाहिए अतः नाटक में जिस युग का चित्रण है, उस युग के वातावरण और परिवेश का निर्माण करने के लिए पचातोत्तर नाटककार दृष्य बंध का प्रयोग करते हैं। वीरेन्द्र मेहंदीरत्ता के मतानुसार - ***" किसी भी नाटक का वस्तु-विन्यास, अंक विभाजन तथा दृश्य योजना अथवा दृश्य बंध की संकलप्ना पर निर्भर करता है।"***[17]

दृश्य योजना मूलतः पात्रों की पृष्ठभूमि तथा प्रत्येक कार्यव्यापार का दृश्य रूप है। संवाद और कथानक एक प्रकार से नाटक का ढांचा ही प्रस्तुत करते हैं, उसका

रक्त और मांस, उसका व्यक्तित्व देह-रूप, उसके प्रदर्शन में ही दृश्य तत्व द्वारा प्राप्त होता है। यह दृश्य योजना ही नाटक का अपनी वैशिष्ट्य है जो उसे कलात्मक अभिव्यक्ति की अन्य विधाओं से अलग करता है। पचास के आगे नाटकों में इस का अधिक महत्व नहीं था और उन दिनों दृश्य सज्जा के लिए न तो पृष्ठभूमि में, न पात्रों द्वारा ही विशेष उपकरणों का उपयोग होता था। उन्नीस सौ से दृश्य योजना का महत्व और भी बढ़ गया। नाटक के एक संतुलित और प्रभावोत्पादक आवश्यक परिवेश के रूप में दृश्य योजना आधुनिक नाटक का महत्वपूर्ण और आंतरिक अंग बन गया है।

"और अंधियारा गहरा और गहरा होता जाता है !
क्या कोई सुनेगा
जो आधा नहीं है, और विकृत नहीं है, और मानव- भविष्य को बचाएगा?
कोई सुनेगा?
क्या कोई सुनेगा?
क्या कोई सुनेगा....."[18]

'अंधायुग' नाटक में वृद्ध याचक का यह खुला सवाल है। यह प्रश्न नाटक के बाद प्रत्येक दर्शक के मन प्राणों पर छा जाता है- गूँजता रहता है। यह नटक हमं पौराणिक कथा के चिर-परिचित मनोरंजन के स्तर से हटाकर गहन, गंभीर और सार्थक नाट्यानुभव देकर पतनशील वर्तमान के गर्भ में छिपे मानव भविष्य को बेहतर बनाने के लिए जगरूक एवं क्रिया शील बनने का संदेश देता है। इस नाटक के दृश्य योजना को मार्मिक सजीव बनाने के लिए उसे भारतीय लोक नाट्य परंपरा से ग्रहण की गयी है। नाटककार के अनुसार मंच की सजावट कम से कम होनी चाहिए। मंच विधान को सामने रख कर नाटककार ने मंच निर्देश और मंच योजना की है।

भारतीय रंगकर्मियों में सत्यदेव दुबे पहले व्यक्ति थे जिन्होंने अधायुग का जीवंत मंचन किया है। मुबई के कम्बाला हिल स्थित खुला मंच पर अंधायुग का प्रदर्शन सत्यदेव ने 1962 में की है। उसनें दृश्ययोजना को दृष्टि में रखकर स्वयं धर्मवीर भारती इस प्रकार लिखते हैं कि - ***" सर्दी का मौसम शाम से ही गहराती रात, मुंबई के कम्बाला हिल की एक ऊँची इमारत के टेरेस पर बना मुक्ताकाशी मंच मेघदूत। वृत्तिमूलक एवं सांकेतिक दृश्यबंध; तीन ओर अभिनय क्षेत्र। छत पर अंधेरा है, दर्शक सीढीनुमा सीटों पर खामोश बैठे है।"***[19]

'अंधायुग' नाटक के दृश्य विधा रामगोपाल बजाज के निर्देशन में आमूल परिवर्तित हुआ है। बजाज द्वारा प्रस्तुत अंधायुग का प्रदर्शन अपने पूर्ववर्ती प्रस्तुतीकरणों से काफी अलग नया और मौलिक सिद्ध हुआ। गोलाकार मुक्ताकाशी मंच पर नाटक

खेली गयी है। बीच में मंच चारों ओर वैठे दर्शकों के बीच से पात्रों के प्रवेश-प्रस्थान के लिए चार रास्ते, दर्शकों के पीछे भी कलाकारों के आने जाने और अभिनय के लिए सुविधा जनक आलोक का वातावरण निर्माण सचमुच परिवर्तित रूप है। इस पर निर्देशक रामगोपाल बजाज स्वयं लिखते हैं कि ***" मैंने मंच को एकदम सादा रखा इस पर और मंच सामग्री से भी मुक्त किया जिससे दृश्य पूरी तरह अभिनेता और उसके अभिनय पर केंन्द्रित हो। बाह्य आलंकारिकता से मुक्त कर नाटक के शब्द और उसकी अर्थ-ध्वनियों को उभरने का प्रयास किया।"*** [20]

'अंधायुग' के रंगमंचीय परिवेश जिस दृष्टिकोण से भारती ने लिखा था उसको निर्देशकों ने आमूलाग्र परिवर्तित किये हैं। एक संश्लिष्ट प्रयोग के रूप में आंधायुग ही सार्वाधिक उपयुक्त जान पडता है।

धर्मवीर भारती के लोकप्रियता को रंगमंच के विकास के रूप में परिवर्तित करने का श्रेय मोहन राकेश को है। अंतः स्पष्ट है कि मोहन राकेश के अभ्युदय से पूर्व भी हिन्दी रंगमंच विद्यामान था और उस पर बहु संख्यक आस्थावान, रंगकर्मी सक्रिय थे; किन्तु राकेश ने अपने नाटकों और व्यक्तिगत क्रिया कलापों से उसे आंदोलन की शकल देने तथा विकसित करने में एक निर्णायक भूमिका निर्वाह किया है। डॉ. नांवर सिंह का यह कथन उक्त उद्धरण को उद्‌गार करता है कि - ***" राकेश के आगमन के पूर्व हिन्दी रंगमंच की सम्भावनाओं का पता नहीं चलता था। उन्होंने पहली बार सिद्ध किया कि नाटक गंभीरता से लेने की कला है।"*** [21]

मोहन राकेश के 'आषाढ का एक दिन' नाटक की प्रस्तुति की एक अत्यंत महत्वपूर्ण उपलब्धि थी इसका दृश्यबंध। दृश्याकण को केवल प्रदर्शन को सुन्दर बनाने वाली बाहरी सजावट मानने के परंपरित दृष्टिकोण थी। लेकिन अल्काजी ने रंगमंच को व्यवहारिक बनाकर दृश्य बंध को नाटक के चरित्रों एवं उसकी प्रस्तुति की आत्मा से संबद्ध करके हिन्दी रंगकर्म की प्रकृति में एक क्रांतिकारी मोड ला दिया। राकेश अपने नाटक 'आषाढ का एक दिन' अंक-एक में इस प्रकार मल्लिका के ग्रामीण घर को वर्णन करते हैं -

"प्रकोष्ठ में एक ओर चूल्हा है। आस-पास मिट्टी और काँसे के बरतन सहेजकर रखे हैं। दूसरी ओर झरोखे से कुछ हटकर तीन-चार बडे-बड़े कुम्भ रखे हैं जिन पर कालिख और कोई जमी है। उन्हें कुशा से ढक कट ऊपर पत्थर रख दिए गए हैं। झरोखे से सटा एक लकडी का आसन है, जिस पर बाघ-छाल बिछी है। चूल्हे के निकट दो चौकियाँ है। उन्हीं में से एक पर बैठी अम्बिका छाज में धान फटक रहीं

है। एक बार झरोके की ओर देख कर वह लम्बी सांस लेती है फिर व्यस्त हो जाती है।"[22]

ऊपर कहे गये दृश्यबंध में अम्बिका और मल्लिका के ग्रामीण घर को स्वभाविक और संपूर्ण बनाने के लिए अनाज कूटने के मूसल, इन्धन रखने की जगह, छोटे- से देव-स्थान, मिट्टी का चूल्हा, कुम्भ, बर्तन मांझने की जगह एक सूखे हुए पेड इत्यादि का भी व्यवस्था की गई। प्रोसीनियम प्रेक्षगृह के विरुद्ध निर्देशक ने इस नाटकों को मुक्ताकाशी रूप में प्रस्तुतु करके एक परिवर्तित रूप दिखाया। अल्काजी से भी सत्यदेव दुबे ज्यादा परिवर्तित रूप दिखाते हैं। नर्देशक ने दृश्य-बंध के अनेक सार्थक और सुन्दर प्रारूपों को छोड़ कर जिस व्यावहारिक रूप को अपनाया उसके विषय में चर्चा करते हुए दुबे कहते है कि - ***" हमने पीछे की दीवार बॉस की बनाने का निश्चय किया और यह तय किया है कि है कि ये बॉस काफी दूर-दूर लगाए जाएँ और इस दिवार में दरवाजा भी बनाए जाए। इससे हमारी एक अतिरिक्त और प्रभाव पूर्ण प्रवेश जुटनि की समस्या भी हल हो गई और बॉस की दीवार के पीछे का क्षेत्र सुन्दर दृश्य निर्माण के उपयुक्त होने के साथ साथ उत्तम अभिनय क्षेत्र के लिए भी वहुत ही उपयुक्त था। बाँसों के बीच जगह छोडने से वातावरण संबंधी प्रभावों के लिए गगनिका का प्रभावपूर्ण संभव हो गया।"***[23]

जो परिवर्तन अल्काजी और सत्यदेव दुबे ने दृश्य योजना के नाम पर किये हैं उसके विपरीत ओंम शिवपुरी के निर्देशन ने मीना विलियम्स के दृश्य बंध ने नाटक को मुक्ताकाशी मंच से उठाकर बंध प्रेक्षागृह में प्रस्तुत की है। यह सादा और असरदार दृश्य बंध को दृष्टि में रखकर एक अंग्रेजी समीक्षक ने इस प्रकार लिखा है कि - ***" 'Ashadh ka ek din' is a play meant to be acted in a box set. In om sivapuri's Production and meena william's set design this requirement was fairly closely adhered to in so for as the set was in principle a bit of a mangor, Open to the elements above and beyond"***[24]

अश्वघोष के 'सौन्दर्य नंद' से एक संशय ग्रस्त व्यक्ति के विशिष्ट मूड को ग्रहण करके मोहन राकेश ने 'लहरों के राज हंस' में नंद का आर्श्रय लेकर आधुनिक मानव की मानसिकता का गंभीर रेखांकन किया है। 'लहरों के राज हंस' नाटक परंपरा में ही लिखा गया था लेकिन 'अषाढ़ का एक दिन' के बाद लिखने पर भी इस में काफी अंतर विरोध है। ओम शिवपुरी के प्रदर्शन में दृश्य बंध पर हबीब तन्वीर इस प्रकार लिखते है कि - ***"सभी प्रकार के बाह्य प्रभावों से रहित केवल घरेलू परिवेश के प्रस्तुतीकरण तक ही सीमित था और निर्देशक ने भी बुद्धि केलिए निरंतर बढ़ते प्रभाव को दिखाने के लिए आकाश या क्षितज पर गेरूए रंग अथवा भिक्षु आकृतियों की***

परछाइयाँ इत्याधि का प्रयोग न करके अपने आप को पूरी तरह गार्हस्य चित्रण तक ही बांधे रखा।"[25]

दृश्य बंध इतना परिवर्तित हुआ कि नाटककार द्वारा कल्पित दृश्य बंध से हट कर फैजल अल्काजी ने अपने दृश्य बंध परिकल्पना में दाई और बाई ओर की दो दीवारों के लिए आदित्य द्वारा निर्मित अजंता शैली के दो भव्य भित्त चित्रों का प्रयोग किया। उसी प्रकार बुद्ध कालीन सुन्दरी के ऐतिहासिक कक्ष की प्रामाणिकता के मंच पर सजीव करने के लिए साना ख्या ईवोतोम्बी ने अपनी दृश्य बंध परिकल्पना पर प्रर्याप्त परिश्रम किया. उन्होंने मंच को दृश्यों से भर दिया है। उन की दृश्य योजना पर दृष्टि लगाते हुए जयदेव तनेजा इस प्रकार लिखते है कि - ***"मंच के दाये ओर मदिरा-पात्र रखने के लिए खिले कमलों को ऊँगलियों पर उठाए दो नग्न मूर्तियाँ - एक, मदिरा की सुराही और साफ़ प्याले रखने के लिए, और दूसरी, मदिरा पीकर झूटे पात्र रखने के लिए। इसके ठीक सामने बायीं ओर सुन्दरी की श्रृंगार मेज-कमल के आकार में अर्द्धवृत्ताकार, एक बड़े दर्पण का फ्रेम जौर सामने बैठने के लिए गोलाकार सुन्दर स्टूल।........... इन नाटक की अन्य तमाम प्रस्तुतियों के विपरीत नंद को तीसरे अंक में मुंडित सिर का विग देने के बजाय निर्देशक ने उसके सिर को वास्तव में मुंडवाँ दिया और पहले दो अंकों में इसके लिए विग का इस्तेमाल किया। इस युक्ति से तीसरे अंक की गंभीरता बनी रहीं और दर्शकों पर इस वास्तविकता का तीखा प्रभाव पड़ा। अन्य पात्रों के माध्यम से भी ऐतिहासिक-परिवेश की साकार करने का ऐसा ही सफल प्रयत्न हुआ।"[26]***

'अषाढ़ का एक दिन' के अनेक और 'आधे अधूरे' के कुछेक प्रस्तुती करण मुक्ताकाशी मंच पर भी किए गए हैं। परंतु 'लहरों के राज हंस' के साथ ऐसा केई भी मंच प्रयोग संभव नहीं हुआ है। बहुत ही कम प्रदर्शनों में दृश्ययोजनागत परिवर्तन पाए जाते हैं। यह आकस्मिक नहीं है कि राकेश के शेष नाटकों की उपेक्षा इसके प्रस्तुतीकरण कम हुए हैं और अब तक इसका कोई भी सर्वागपूर्ण एवं अत्यंत प्रभावपूर्ण प्रदर्शन नहीं किया जा सका।

मोहन राकेश एक रंग चेतना रचनाकार थे और रंगमंच के साथ उनका गहरा और प्रत्यक्ष संबंध था। बहुत से नाट्य समीक्षकों का विचार है कि आधे अधूरे की सफलता का महत्वपूर्ण और बुनियादि कारण राकेश को रंगमंच से प्रत्यक्षतः जुडे होना ही है। ओम शिवपुरी, सत्येन्द्र दुबे, श्यामानंद जालान, रामगोपाल बजाज, अमल अल्लाना आदि निर्देशकों ने 'आधे अधूरे' नाटक को मंचोपयुक्त बनाकर अनेक प्रयोग किए है। अमल अल्लाना अपने प्रस्तुती में दर्शकों को अलग-अलग कोणों से नाटक

देखने की सुविधा देकर चमत्कृत कर दिया। स्त्री, पुरुष तथा परिस्थितियों के संघर्ष और माता-पिता, संतान एवं हालात के त्रिकोणात्मक द्वंद्व के प्रतीक स्वरूप तीन धरातल, तीन कंबे, पात्रों की अंतरंग मानसिकता के अनुरूप, बदरंग और भुर भुरी दीवारें अस्थिर चित्र और चरित्र के प्रतिरूप झूलनेवाली आराम कुर्सी, परिवार की भविष्यहीन नियति को रेखांकित करते हुए बुझे लैम्प का प्रयोग हुआ। यह एक नया प्रयोग है कि दृश्य बंध के फैलाव में जहाँ एक ओर पात्रों के बीच की दूरी और उनके अलगाव को सफलता पूर्वक रेखांकित किया।

पहले दो नाटकों से भी ज्यादा प्रयोग राकेश तीसरे नाटक आधे आधूरे में मिलते हैं। दृश्य बंध को सक्षम बनाने के लिए जिस तरह की कथ्य की आवश्यकता है उस तरह की कथ्य आधे आधूरे नाटक में प्राप्त होता है। इस नाटक की शुरुआत एक कमरे में प्रारंभ होता है और ज्यादातर प्रदर्शन का मूल वही कमरा है। निर्देशक ओम शिवपुरी के शब्दों में उस कमरे का वर्णन इस प्रकार है - ***"आधे अधूरे का कार्य स्थल मकान का बैठने का कमरा है, जिसमें सोफे, कुर्सियाँ, मेजे, अलमारी, किताबे, फाइले आदि हैं। यह कमरा एक समय साफ सुथरा रहा होगा, पर सालों की आर्थिक कठिनाइयों के कारण अब सब पर धूल की तह जम गई है। क्राकरी पर चटखन है। दीवारे मटमैली हो गई है। परिवार का हर सदस्य एक दूसरे से करा हुआ है। घर की हवा तक में उस स्थाई नकली ही गंध है, जो पांचों व्यक्तियों के मन में भरी हुई है - ऊब, घुटन, आक्रोश, विद्रूप.....दम घोंटनेवाली मनहूसियत, जो मरगट में होती है।"***[27]

कुछ निर्देशक ने नाटककार के कथ्य को परिवर्तित किये है। दिनेश ठाकुर दृश्य योजना को थोडा बहुत परिवर्तति करते हैं। उन्होंने अपने प्रस्तुति में नाटक और चरित्रों की अनिश्चिता को रेखांकित करने के लिए आरंभ से पूरी तरह अंधकार रखा गया। अंधेरे में ही तीन बार सिगार का गुल चमकता है, धुँआ उडता है ओर अंधेरे में से ही काले सूटवाले आदमी के संबोधन शुरू होते है। दिनेश ठाकुर की दृश्य योजना की परिवर्तित रूप को दृष्टि में रख कर जयदेव तनेजा इस प्रकार लिखते हैं कि - " ***दृश्य बंध राकेश की परिकल्पना के मध्यवर्ग से ढ़ह कर निम्न मध्यवर्गीय स्तर तक आये टूटे-फूटे और बिखरे घर के बजाय कुछ ज्यादा ही साफ-सुथरा और व्यवस्थिति दिखाई पड़ता है। एअरकंडीशनर के खोल की संगीत भी राकेश के व्यक्तिगत जीवन से भले ही हो, मूल आलेख के ब्यौरों से नहीं बैठ पाती। फिर भी, इसमें कोई संदेह नहीं कि निर्देशक ने मुबंई के महानगरीय परिवेश जीवन और आज के घर और परिवार की सच्ची तस्वीर इस प्रस्तुती में दिखाने की रचनात्मक कोशिश की है।"***[28]

कलकत्ता में अंग्रेजी रंगमंच पर 'ऑस्कार' ने राकेश के उत्तेजक नाटक आधे अधूरे के बिंदु बत्राकृत अंग्रेजी अनुवाद 'Half way house' को श्रीमती स्वर्ण चौधरी के निर्देशन में प्रस्तुत कर दिया। इस नाटक के प्रयोग पूर्वक दृश्य योजना और उसके प्रभाव पूर्ण इस्तेमाल के अंग्रेजी नाट्य समीक्षक शमीक बंदोपाद्य ने Hindustan standard में लिखा था कि - ***"malik omer's sets are two eloborate, but the window on the left with a streak of light comming through provides an escape symbol, which mrs. choudhary uses with great suggestiveness, especially in the scene with jagmohan. Mrs. Choudhary uses the space to compose distences between the characters, with singhania forced to turn around from his central position to look at the son, or the mother explaining herself to Juneja in his Chain at extreeme left forestage and binni at extreeme right relalively upstage."***[29]

'आधे अधूरे' नाटक के मंचीय परिवर्तनों में खास कर दृश्य योजना में नाटक के मूल विषय को प्रतीक के रूप में रखा गया था। सुशील चौधरी के प्रस्तुती में पीछे की तरफ दिखाया गया एक 'ब्लाइंड - एंड' विशेष रूप से उल्लेखनीय था जो परोक्षतः नाटक के अनुश्चित तथा अंतहीन अंत के प्रकट करता था। इस प्रकार मोहन राकेश के नाटक निरंतर परिवर्तिन गामी रंग कर्मियों को नई व्याख्याओं और नये प्रयोगों के लिए प्रेरित करता हैं।

जो रंग यात्रा का नेत्रृत्व राकेश ने किया था उसको आगे ले जाने में सक्षम नाटककारों में सुरेन्द्र वर्मा, हबीब तन्वीर, भीष्म साहनी, सर्वेश्वर दयाल सक्सेना आदि प्रमुख हैं। इन में सुरेन्द्र वर्मा का रंग यात्रा अथवा रंग शिल्प नाटक के रचना विधान को प्रभावी ही नहीं अपितु 'कंट्रोल' करने में पूर्ण सक्षम है। सुरेन्द्र वर्मा ने अपने युग में प्रचलित रंगमंच के अनुरूप नाट्य रचना की है। इस संदर्भ में देवेन्द्र कुमार गुप्ता का उद्धरण सही लगता है कि - ***" यह ठीक है कि सुरेन्द्र वर्मा ने मोहन राकेश की भाँति यथार्थवादी रंग शिल्प और दृश्य बंध को ध्यान में रख कर नाटक की रचना की है। परंतु यहाँ यह ध्यातव्य है कि रंगमंचीय संभावनाओं और प्रयोग की दृष्टि से सुरेन्द्र वर्मा के नाटक खुली रंगशैली और कल्पना से भी परिपूर्ण है।"***[30]

द्रौपदी सुरेन्द्र वर्मा का पहला बहुमंचित और चर्चित नाटक है। कन्नड और मराठी रंगमंच पर इन भाषाओं भी सफता पूर्वक द्रौपदी का मंचन हुआ है। द्रौपदी नाटककार के सामयिक जीवन की पहचान और पकड का नाटक है। यह नाटक

हमारी आधुनिक समाज व्यवस्था और भौतिक वादी पद्धतियों से सीधी साक्षात्कार करवाता है। 'द्रौपदी' नाटक के दृश्य बंध के संबंध में एम.के. रैना का विचार है कि - ***"मैं बड़े-बड़े दृश्य बंध खडे करने में विश्वास नहीं करता, बल्कि दृश्य रचना को प्रस्तुती का संपूरक बनाने की, उसके द्वारा मूल कथ्य को आगे लाने और उभरने की तथा अभिनेताओं को ज्यादा चुनौती भरी स्थितियों में डालने की कोशिश करता हूँ।"*** [31]

नाटककार सुरेन्द्र वर्मा ने स्वयं दृश्य योजना को बड़ी रोचक रूप में वर्णन किया है। जो नीचे द्रष्टव्य है - ***" मंच पर सामने दो दरवाजे। एक खाने की मेज। कुर्सियाँ, सोफे, दो दफ्तर की मेजें। एक के साथ रिवाल्वरिंग कुर्सी दो टेलिफोन। पार्क की एक बेंच।***

पहला अंक	दूसरा अंक
घर	***बाहर***
दिन	***रात"*** [32]

दृश्य योजना वह मंचीय विधान है, जिसमें नाटकीय क्रिया व्यापार की आवश्यकतानुसार परिवर्तन की गुंजाइस रहती है। व्यावहारिक दृष्टिकोण से नाटककार को दृश्यों का क्रम नियोजित करते समय इस बात का ध्यान रखना चाहिए कि एक दृश्य सज्जा से ही पर्याप्त लंबे नाट्य व्यापार का काम चल निकले। 'सूर्य की अंतिम किरण से सूर्य की पहली किरण तक'नामक नाटक की दृश्य योजना राज प्रसाद का शयनपक्ष है। नाटक को तीन अंकों में विभाजन किया गया है। एक ही मंच पर सूर्यास्त, रात्री, सूर्योदय के समय को एक ही दृश्य में बांध दिया गया है। नाटक की दृश्यात्मक परिकल्पना को नाटककार इस प्रकार से करते हैं - ***"राजप्रसाद का शयन कक्ष। मंच की अगली सीमा पर दाई और बाई ओर एक एक द्वार। दाएँ के बाद मदिरा कोष्ट, बाएँ के बाद चैकी पर दर्पण एवं प्रसाधन-सामग्री, सामने आसंदी। बाई और बड़ा जाल गवाक्ष, बाई तथा सामने की जीवार के लगभग मध्य भाग से लेकर दोनों (दीवारों) के संम्मिलन तक। मंच के बीचों-बीच ऊँपर से लटकता मुक्तालाप।सामने की दीवार के पास शैय्या। कुछ आसन एवं चैकियाँ।"*** [33]

इस दृश्य योजना का पढने मात्र से ही तत्कालीन ऐतिहासिक परिवेश मन में उतर जाता है। नाटककार की कल्पना के अनुरूप भी मंच तैय्यार किया जा सकता है। राष्ट्रीय नाट्य विद्यालय ने रामगोपाल बजाज के निर्देशन में यह नाटक प्रदर्शन किया गया। अपने निर्दशकीय वक्तव्य में वे लिखते हैं कि - ***"सारे दृश्य विधान के काल का संकेत भाग रखते हुए एक तिरछी मझभूत लकीर मंच को बाँटती है। शैय्या सारे मंच के लगभग केन्द्र में हैं।"*** [34] लेखक ने सामने की दीवार के पास शय्या को

रखा है लेकिन दर्शकों की सोच को दृष्टि में रखकर प्रदर्शन के समय शय्या सारे मंच के लगभग केन्द्र में रखा है। बजाज ने दृश्य रचना को शय्या के मात्र छोटे से परिवर्तन से नाटक के उपयुक्त बनाया।

मोहन राकेश के प्रदर्शनों में निर्देशक नाटककार द्वारा लिखा गया दृश्य को ज्यों का त्यों रखते थे लेकिन सत्तर के बाद के निर्देशक नाटककार के दृश्यों में परिवर्तन लारक एक नया विवाद हमारे सामने रखे हैं। इस विवाद में निर्देशकगण बड़ी मात्रा में नाटककारों के ऊपर बहुत प्रतिक्रिया पूरक बहस चलाई है। यह विषय भी परिवर्तन के आयामों में गिनाया जाता है लेकिन नाटककार और निर्देशक दोनों अपने-अपने स्तर पर स्वतंत्र है। सत्तर के आस-पास में इन दोनों के बीच में जो जगडा चली है उसके वजह से हिन्दी रंगांदोलन अनेक प्रयोगों को खो बैठी है।

नाटककार से अधिक हबीब तन्वीर निर्देशक के रूप में मशाहूर है। संवादों के बारे में हबीब तन्वीर अच्छी तरह जानते हैं। उनके नाटक 'मिट्टी की गाड़ी', 'आगरा बजार' किसी न किसी अवसर पर प्रत्येक पात्र के लिए लय के साथ चलना, अभिनटन मुद्राओं तथा मूर्तिवत भंगिमओं का प्रयोग अवश्य मिलता है। उनकी दृष्टि में नर्देशक का काम सामूहिक है. उन्होंने थिएटर और क्राति दोनों का सपना एक साथ देखे हैं। उनको हिन्दी, अंर्गेजी, उर्दू तीनों भाषाओं पर अच्छा खासा अधिकार है। हिन्दी की कस्बाती बोलियों समझते है। और अपने लेखन में इन का प्रयोग भी करते है।

'मिट्टी की गाडी' की प्रस्तुति में हबीब तन्वीर ने अभिनेताओं द्वारा लगभग महीने के रिहार्सल में अभिनय के अंदर एक शैली बद्धता लाने की कोशिश की। यह रंगमंच के हिसाब से विशेष प्रयोग है और इसी तरह पहली बार छत्तीसगढ़ के ग्रामीण कलाकारों को भी शामिल किया था इनका बहु चर्चित नाटक 'हिरमा की अमर कहानी' बेहद पिछडे इलाकों के आदिवाशी लोगों के तथाकथित सरकारी विकास की विसंगतियों तथा सामंत वाद एवं लोक तंत्र के संघर्ष को सुन्दर लोकरंग शैली में प्रस्तुत करता है। 'मिट्टी की गाडी', 'आगरा बजार', 'गाँव का नाव ससुराल', 'चरण दास चोर', 'बहादुर क्लारिन', सात पैसे, 'हिरमा की अमर कहानी' आदि नाटक मशहूर है।

हबीब तन्वीर की दृष्टि में नाटक समाज को एक दिशा प्रधान करता है। दृश्य बंध वस्तु सामग्री, रंग सज्जा आदि विषयों को लेकर उन्होंने अनेक परिवर्तन किये हैं। उन्ही के शब्दों में - ***"मेरे नाटक 'सात पैसे' में एक किनारे पर बिल्ली और दूसरे किनारे पर लकडी के बक्सों से बनी हुई अलमारी के साथ एक रस्सी बांध कर एक***

बड़ा दिलचस्प का प्रभाव उत्पन्न किया। पीछे रंग शीर्ष में बाँस का एक दरवाजा बनाया और इधर-उधर गहरे जलीय रंगों से रंग कर टाट लटका दिया। इस दृश्य बंध से आवश्यक वातावरण उत्पनन हो गया था।"[35] इस तरह मंच को नजर में रख कर हबीब तन्वीर ने अनेक प्रयोग कर नाटक के मंचन में परिवर्तन उपस्थिति किए।

'मृच्छकटिकम' का हिन्दी रूपांतरण 'मिट्टी की गाडी' को प्रस्तुत करते समय हबीब तन्वीर दृश्य परक अनेक प्रयोग करते है। घर के भीतरी का भाग, एक सडक मंदिर आदि दृश्यों को हबीब तन्वीर ने भीतर, बाहरी भागों में विभाजित किये है। उन्होंने इसके लिए लोक रंगमंच से एक गोलाकार चबूतरा को उपयोग किया है। यह एक विशिष्ट प्रयोग है। इस दृश्य हबीब तन्वीर के शब्दों में - ***" रंगमंच के बीचों बीच यह चबूतरा समस्त भीतरी दृश्यों के लिए तथा उसके चारों ओर का क्षेत्र बाहरी दृश्यों के लिए निश्चित किया गया। सारा नाटक इस चबूतरे के चारों ओर इतनी स्वाभावुकता और अधिक से अधिक गति से चलता रहा कि मुझे विस्वास हो गया कि संस्कृत नाटक में कभी कोई दृश्यबंध न होता होगा और वातावरण की सृष्टि काव्य शक्ति द्वारा की जाती होगी। इस चबूतरें के चारों ओर एक चक्कर पूरा करते ही दूसरा स्थान आ जाता था और एक ही चबूतरा हर बार नया रूप धारण कर लेता था। इस प्रकार प्रदर्शन में संस्कृत नाटकों के वास्तविक उद्धेश्य के अनुरूप विभिन्न स्थलों की समकक्षता स्थापित हुई और स्थान का नया उपयोग संभव हुआ।"***[36]

सुशील कुमार द्वारा रचित 'सिंहासन खाली है' नाटक मूलतः राजनैतिक परिप्रेक्ष्य का व्यंग्यात्मक नाटक है। इस नाटक में सिंहासन को एक प्रतीक के रूप में उपस्थित किया गया है। इसके माध्यम से तत्कालीन राजनीतिक परिस्थितियों का व्यंग्यपूर्ण चित्रण किया गया है। इस नाटक के प्रासंगिकता को दृष्टि में रखकर गिरीश रस्तोगी इस प्रकार लिखते है कि - ***" वर्तमान राजनीति कितनी छिछली, असत्य खोखली और भयानक हो गई है, नाटक इसका पर्दाफाश बड़ी गतिशील लय में करता है। नेताओं के मुखौटा यहाँ उतरते जाते हैं। किस प्रकार उनकी शब्दावली, उनका व्यवहार महज एक चोला है और कुर्सी के चिपके रहने की प्रवृत्ति उन्हें हत्याओं, षडयंत्रों, चुनाव के हथकंडों, झूटे वादों कारी नारेबाजी खोखली भाषा तक भाषणों तक ले जाती है यह नाटक के संक्षिप्त चुस्त कलेवर के तीखेपन के साथ व्यक्त होता है।"37***

सुशील कुमार सिंह ने अपने नाटक 'सिंहासन खाली है' का कानपूर की रंग संस्था प्रतिध्वनि द्वारा दस बार प्रस्तुतीकरण किया और नाटक का निर्देशन भी स्वयं किया है। दृश्य योजना इस नाटक में महत्वपूर्ण भूमिका निभाती है। इस नाटक के

दृश्य योजना पर दृष्टि लगाते हुए लवकुमार लवलीन इस प्रकार लिखते हैं कि - "***नाटक के प्रारंभ में ही सूत्रधार एक सुपात्र की तलाश करता है जो सिंहासन का असली दावेदार सिद्ध हो, परंतु नाटक का अंत खाली सिंहासन को खाली दिखाने का अर्थ यह है कि इस सिंहासन पर बैठने के दावेदार सुपात्र अब नहीं है। लेकिन सूक्ष्म रूप से इशका व्यंग्यार्थ यह भी है कि सिंहासन पर जो भी बैठे हुए हैं, वे वास्तव में उसके दावेदार नहीं है।***"[38] यह नाटक खाली सिंहासन के दृश्य से शुरू होकर खाली सिंहासन के दृश्य से खत्म होता है।

सर्वेसेवर दयाल सक्सेना का नाटक 'बकरी' भी एक राजनीतिक व्यंग्य नाटक है। सबसे पहले यह नाटक 1974 में राष्ट्रीय नाट्य विद्यालय की ओर से खेला गया। अनेक मंचों पर बहुत ही प्रभावशाली ढंग से यह नाटक लोक नाट्य शैली में प्रदर्शित हुआ। जननाट्य मंच (जनम) के नुक्कड नाटक की पद्धतियों में मंचित करने के कारण इस 'बकरी' नाटक के दृश्य योजना पर ज्यादा ध्यान नहीं दिया गया। 1975 के आस-पास के नाटककारों और निर्देशकों के द्वारा दर्शन की चेतना को प्रमुखता दी गई। दो सौ से ज्यादा प्रदर्शन कराकर इस बकरी नाटक अनेक चेतना परख विवादों के केन्द्र बिंदु बन गया है। इस संदर्भ में नाटककार सर्वेश्वर दयाल सक्सेना का यह उद्धरण सही प्रतीत होता है कि - "***कहीं-कहीं नाटक खेलने से रोका भी गया है और रंग कर्मियों ने डरकर उसका सामने किया है और फिर और संघटित होकर इसे खेला है। पत्र पत्रिकाओं में भी इसके प्रदर्शनों को लेकर काफी विवाद हुआ है। ये तमाम घटनाएँ यह दिखाती है कि यह नाटक देश की वर्तमान राजनीतिक स्थिति में और अधिक सार्थक हो उठा है। इस स्थिति से टकरानेवाले और मुँह चुरानेवाले ताकतों का और अधिक ध्रुवीकरण करता है।***"[39]

समकालीन हिन्दी नाटक और रंगमंच की दिशा तथा दशा पर दृष्टि पात करने के क्रम में यथार्थ को पकड कर अभिव्यकत् करनेवाले सक्रिय नाटककार के रूप में भीष्म साहनी के नाटक आम आदमी की स्थिति एवं उनके जीवन का साक्षात्कार करते हैं। मोहन राकेश के बाद रंगशिल्प की दृष्टि से ज्यादा प्रयोग भीष्म साहनी के नाटकों में ही मिलते हैं। नाटक में कहना महत्वपूर्ण नहीं होता बल्कि अनुभूति को दृश्यत्व देना अनिवार्य होता है। उस अनुवार्यता को एक गंभीर उद्धेश्य और प्रगतिशील विचार धारा को लेकर चलनेवाले भीष्म साहनी जीवनानुभवों को नयी दृष्टि देते है।

भीष्म साहनी का समकालीन रंग परिवेश भी परिवर्तन की एक लंबी प्रक्रिया से गुजकने के बाद अंततः जन सामान्य तक पहुचने में समर्थ हो सका है। उनके नाटक रंगमंच के प्रचलित क्रम को तोड कर बाहर आते हैं, क्योंकि उनके रचना शिल्प पर

लोक नाट्य की रूढियों और नुक्कड नाटक का प्रभाव भी है। उनके नाटक 'हानुष' के दृश्य योजना पर टिप्पणी लगाते हुए लवकुमार लवलीन इस प्रकार लिखते हैं कि - " ***किसी भी नाटक का रंगमंच इस के नाट्य विधान में ही अंतर्युक्त रहता है। हानूश पारिवारिक जीवन की विडंबना को, कलाकार के शोषण और सत्ता की निरंकुशता को एक साथ मूर्त करते हैं..... समसामयिकता से जुडा यह नाटक एक परिवार की कथा के माधय्म से यह दिखाने की केशिश करता है कि राजा के कठोर आदेश और हानुश की अपने निर्मित घडी के कारण उसका व्यक्तित्व विघटित हो गया है। मंच के एक कोने में मूक दर्शक बना हुआ सूखा पडे हानुश की जीवन त्रासदी की जीवंत अभिव्यक्ति बन गया है। नाटक के अर्थ का यही मंचीय साक्षात्कार है।"***[40]

'कबिरा खडा बाजार में' नाटक भी 'हानुश'जैसे मध्ययुगीन परिवेश सहित नाटक है। इस में वर्णित दृश्यों का मंचन कुछ कठिन सा लगता है। भीष्म सहानी अपने नाटक में दृश्य- एक इस प्रकार वर्णन करते हैं कि - " ***जुलाहों की बस्ती। छोटे-छोटे झोंपडे। कहीं सूत पकाया जा रहा है, कहीं खड्डी चल रहीं है। एक झोंपडे के सामने नूरा सूत पका रहा है। एक जुलाहा कंधे पर थान रखे बाहर से आता है और नूरा के पास ठहर जाता है।"***[41]

'कबिरा खडा बाजार में' में खुले रंगमंच का नाटक है। यह नाटक दृश्य योजना के लिए उपयुक्त नहीं है। यह नाटक जहाँ भी मंचित होगा, वहीं रंगमंच सृजित होगा। इसलिए इस नाटक को खुले मंच पर या सादे परदें के सहारे मंचित किया गया है। इन नाटकों में मूल परिवर्तन यह है कि दृश्य बंध पर ज्यादा दृष्टि न देकर दर्शकीय चेतना पर दृष्टि दी गई है। नुक्कड नाटकों का ज्यादा प्रभाव उक्त नाटक पर अधिक है।

डॉ. लक्ष्मीनारायण लाल कृत 'करफ्यू'नाटक दिल्ली जैसे नगरों में अच्छा प्रदर्शित हुआ है। शहर में अचानक करफ्यू लगने से दो स्त्रियाँ अजनबी पुरुषों के साथ रात बिताने को मजबूर होती हैं। फलस्वरूप चारों व्यक्ति आत्म प्रतीत का लाभ प्राप्त करते हैं। दृश्य बंध को पिंजरे के रूप में प्रस्तुत करना बहुत अर्थवान लगा था। साथ ही प्रस्तुती में कुछ स्थलों पर वास्तविक उपकरणों का उपयोग था। दृश्य योजना के संदर्भ में नाटककार स्वयं लिखते हैं कि - " ***मंच की सारी तस्वीर अर्थात मंच पर एक कल्पना पूर्ण पर यथार्थ पिंजरा बनाया गया था और उस पिंजरें के भीतर ही इस नाटक के पांचों दृश्य प्रस्तुत किए गए थे। दो दृश्यों तक यह पिंजरा बड़ा ही क्रूर आक्रामक लगता था लेकिन तीसरे दृश्य से वह पिंजरा धीरे-धीरे पारदर्शी और कोमल होने लगा था। और अंत में जहाँ से मोमबत्तियाँ जलती शुरू होती है वहाँ से यह***

पिंजरा सर्वथा अदृश्य हो जाता है और सारे चरित्र जैसे स्वतंत्र होकर पहली बार अपने अस्तित्व को प्राप्त कर लेते हैं। यह पिंजरा उसी करप्यू का प्रतीक था।"[42] पिंजरे का प्रयोग प्रतीकात्मक लग कर आनेवाली रंगमंचीय परिवर्तिनों के लिए जमीन तैय्यार की है।

आधुनिक टेकनिक को रंगमंच पर उतार ने केलिए अनूदित नाटककार विजय तेंदूलकर, गिरीश करनाड, बादल सरकार बहुत प्रयत्न करते हैं। विजय तेंदुलकर द्वारा रचित 'घासी राम कोतवाल' में नये दृश्य बंध का रूप हमें मिलता है। डॉ. जब्बर पटेल इस नाटक के दृश्य बंध पर इस प्रकार लिखते है कि - " ***मैंने पहली बार जब यह नाटक पढा तो लगा यह नाटक संवाद प्रधान नहीं, अपेक्षाकृत दृश्य प्रधान है। मुझे ऐला ही दृश्य बिंबों (विजुवल्स) द्वारा प्रभाव उत्पन्न करनेवाले नाटक की तलाश थी। दूसरी बात बहुत दिनों से मेरे मन में यह थी कि फिल्मों में दूर वर्ती (Long Shot) मध्यवर्ती (Mid Shot) और समीप वर्ती (Close Up) चित्रों की तीन-चार दृश्यों और उनके सम्मिश्रण के शिल्प और चातुर्य से जो विशेष प्रभाव उत्पन्न किया जाता है वह रंगमंच पर भी क्यों न हो? यह नाटक संवाद, नृत्य, संगीत, गति मात्र दृश्य आदि अनेक खंडों के योग से अग्रसर होता है। इन सबको जोडनेवाला सूत्र भी जबरदस्त है। इन सब तत्वों के साथ ही यह नाटक पूर्ण लगता है, अतएव काल्पनिक कैमरा हाथ में लेकर ही मैंने इसे साकार करने का प्रयत्न किया। प्रकाश योजना द्वारा रंगमंच को विभाजित कर दूर और पास के अनेक वांछित प्रवाव रगंमचं पर उत्पन्न किए।"***[43]

गिरीश करनाड द्वारा रचित 'तुगलक' की प्रस्तुति अनेक रंग कर्मियों द्वारा हुआ है। मध्ययुगीन मुसलमान सांप्रदायिक स्थिति की प्रदर्शन अत्यंत सावधानी और मनन से नियोजित करना पडता है। पहली बार इस नाटक में सारे निर्देश अभिनेता को दृष्टि में रख कर किये गये है। इस नाटक के मंच योजना पर दृष्टि लगाते हुए इब्राहिम अल्काजी इस प्रकार लिखते हैं कि - " ***तुगलक की प्रस्तुति की परिकल्पना हमने नेशनल स्कूल आफ ड्रामा के खुले रंगमंच के खयाल से तैय्यार की थी। मंच का क्षेत्र अत्यंत विस्तृत है जिस में पीपल का एक बृहदाकार और सुन्दर पेड इस प्रकार स्थित है कि वह कार्य व्यापार को एक केन्द्र प्रधान करने के साथ-साथ मंच चित्र को अन्विती भी देता है।"***[44]

लेकिन सातवें दशक की शुरुआत से जनवादी आंदोलन के विकास का प्रत्यक्ष प्रभाव थिएटर पर फिर से पडने लगा और नाट्य जगत के भीतर एक द्वन्द्व शुरू हुआ। सबसे पहले तत्कालीन नाट्य कर्म द्वारा निर्धारित परिधी के भीतर ही नाटक

का कथ्य स्वरूप शुरू हुआ। अगले चरण में इस बदलते हुए स्वरूप ने नाटक के जनाधार को व्यापक बनाने के लिए अंदर से जो लगाना शुरू किया। अस्सी तक राजनैतिक स्थर पर जनवादी चेतना का स्वरूप नाट्य जगत में पहुचा और जनवादी स्वरूप का नाटक प्रेक्षागृहों की पाबंदियों को तोड कर व्यापक दर्शक समूह की तलाश में गली-कूचो में निकल आया। यहीं से आधुनिक भारतीय नाटक के इतिहास में दूसरी आँदोलन की शुरूआत हुई।

आम आदमी के प्रति होनेवाले अन्याय और अत्याचार तथा उसके दुख-दर्द के लिए जिम्मेदार राजनीतिक, सामाजिक, धार्मित, आर्थिक, सभी सत्ता प्रिय साकतों के चहरों से सिद्धांतवादी खूब सूरत नकार नोंचकर नुक्कड नाटक सामने आता है। नुक्कड शब्द में ही इस नाट्य क्रम की संपूर्ण चेतना और प्रकृति, इस का रंगरूप, आकार प्रकार और इरादा सब एक साथ अभिव्यक्त हो उठते हैं। इस नुक्कड नाटक के दृश्य योजना के बारे में डॉ. जयदेव तनेजा का यह राय सही लगती हैं कि - ***"नुक्कड अथवा सडक नाटक का एक विशिष्ट लचीली फार्म और शिल्प विधान होता है। इस के चौतरफा संयोजनों और तीव्र गतियों में त्वारा तथा मुद्राओं में स्वच्छंदता होती है, गीतों में ऊष्मा और दो टूक भाषा में बोले गए संवादों में सहज आक्रमकता एवं ऊर्जा। रूप एवं वस्त्र सज्जा लगभग नहीं के बराबर, कोई मंच (प्रेक्षगृह) कोई दृश्यबंध नहीं। आडंबर और तामझाम से एकदम मुक्त। आम आदमी की जिदगी की दैनिक समस्याओं और तकलीपों का जीवंत प्रस्तुतीकरण ही इस नाटक के दर्शकों की सर्किय भागीदारी को उत्साहित एवं प्रेरित करता है।"*** [45]

इस प्रकार पचासोतथर नाटककार अपने अनुभूती को सही अभिव्यक्ती देने के लिए दृश्यबंधों की सहायता लेते हैं। नाटक लिखना अलग काम है और उसे दर्शक तक पहुँचाना अलग काम है। पचासोत्तर नाटक पहले अर्थ -प्रकृतियों एवं अंक दृश्य योजना के बंधन से नाटक मुक्त हुए। नाटककार रंगमंच को ध्यान में रखकर दृश्यों का विधान करने लगे। पचासोत्तर नाटकों में दृश्य योजना नाटक पर थोपे हुए नहीं लगते। वे नाटक की जरूरत के मुताबिक उभरकर बाहर आते हैं।

4.2.2. सृजन धर्मिता की अंतिम सफ़लता : अभिनय

अभिनय नाटक का अनिवार्य अंग है। नाटक की सफलता रंगमंच पर अभिनय की दृष्टि से आँकी जानी चाहिए। कहना है तो अभिनय से ही नाटक का उदय हुआ है। विभिन्न देशों में नाट्य कला का जो विकसित रूप है वह अभिनय तथा रंगमंच की सुविधा के आधार पर ही हुआ है। रंग सृष्टि का दूसरा मूलभूत तत्व अभिनय ही है।

मंच पर अभिनेता द्वारा नाटकाकर के भावों, विचारों और शब्दों को रूपाकार देने की क्रिया प्रक्रिया ही अभिनय कहलाता है।

आचार्य भरत मुनी ने नाटक के अभिनय के चार प्रकार माने गये हैं। आंगिक, वाचिक, आहार्य और सात्विक। आंगिक अभिनय में अगों के भिन्न भिन्न प्रकार के संचालन प्रसंग विशेष में क्रियाएँ बताई गई है। वाणी का अभिनय भी आंशिक अभिनय को स्पष्टता देता है। आहार्य अभिनय में वेश-भूषा तथा अन्य सज्जा संबंधित विधियाँ बताई गई हैं। सात्विक अभिनय का संबंध भावों से है। इस प्रकार आंगिक का संबंध शरीर के अंग संचालन से, वचिक का वाणी के उतार चढाव से, आहार्य का रूप सज्जा (makeup) से तथा सात्विक का अनुभवों (Expression) से संबंध है। ये चारो नाटक के अभिनय के आवश्यक अंग है।

अभिनय का इतिहास कहाँ तक जाता है। मेरी नजर में अभिनय दो प्रकार के हैं एक ग्रामीण अभिनय दूसरी शहरीय अभिनय। शहरी अभिनय का सिल-सिला शायद सौ-डेढ़ सौ वर्ष से पुराना न होगा। गाँव का थिएटर माने लोक नाट्य परंपरा का पीछा कहाँ तक जाता है? इस का पता लगाना हमारे बस की बात नहीं है। बस इतना कह देना काफी मालूम होता है कि यह सिल-सिला शायद बहुत पुराना है, और हो सकता है कि यह सदियों से चला आ रहा हो।

भारतीय रंगमंच के संदर्भ में अभिनय की स्थिति भी अन्य तत्वों से निर्धारित रहीं है। निःसंदेह, हमारे देश में अभिनय प्रतिभा की कमी नहीं, बल्कि प्रत्येक प्रदेश में प्रत्येक भाषाएँ, रंगमंच में, उसकी पर्याप्त प्रचुरता है। स्वाभाविक जन्मजात अभिनय-वृत्ति और उत्साह संभवतः केवल ये ही दो पूँजियाँ आज अधिकांश भारतीय अभिनेताओं के पास है। मंच पर प्रस्तुति से पूर्व नाटकाकर और निर्देशक जितने भी कल्पनाशील हो...... अंततः नाटक दोनों के हाथों से छूट कर अभिनेताओं के हाथ में आ जाता है। अभिनेता के वैशिष्ट्य को बताते हुए नेमिचन्द्र जैन इस प्रकार लिखते हैं कि - ***" निर्देशक तथा रंगशिल्पी-सभी का प्रयास अंततः अभिनेता के सृजन कार्य को अधिक से अधिक सक्षम, अभिव्यंजनापूर्ण और प्रभावी बनाने के लिए ही होता है। अभिनेता ही नाटककार के साथ वह सर्व प्रमुख और केन्द्रीय सृजन शील घटक है जिसके कारण प्रदर्शन को एक प्रभावशाली और संश्लिष्ट कला विधा का दर्जा मिलता है। प्रतिभावान कुशल तथा कल्पनाशील अभिनेता के बिना, अन्य सारे तत्व चाहे जितने सक्षम और सशक्त हो, वे कोई सार्थक नाट्यनुभूति की, कलात्मक नाट्य सृष्टि की, रचना नहीं कर सकते।"***[46]

अभिनय की परंपरा को देखने से हमें संस्कृत रंगमंच की अभिनय पद्धतियों से लेना पडता है। इनके कुछ रूप भरत नाट्यं, कूचिपूडि, कथकली, ओडिसी, कूडि आट्टम आदि नृत्य शैलियों में दिखाई पडती है। इस आधुनिक युग में उन्हें सीखना मुश्किल पडता है। और एक विशिष्ट बात यह है कि आधुनिक रंगमंच का उनसे कोई खास संबंध नहीं है। आज कल के नाट्य दृष्टि भी बदल गयी है इस कारण से आधुनिक नाटकों के अभिनय में उसका उपयोग बहुत कम संभव हो पाया है।

अभिनय की एक अन्य परंपरा देश के पारंपरिक या लोक नाट्यों में उपलब्ध हैं, जैसे यक्षगान, जात्रा, भवई, तमाशा, रासलीला, ख्याला, सांग, माच, भांडपथर आदि रूपों में एक स्पष्ट और प्रबद्ध अभिनयता मौजूद है। इस नाट्य रूपों के कथानक अधिकांशतः पौराणिक, ऐतिहासिक अथवा लोक कथाओं, अख्यानों इत्यादि के होते हैं। इन में ज्यादातर दर्शक से परिचित चरित्र ही होते है। इनका अभिनय भी एक प्रकार की शैलीबद्ध पद्धती से किया जाता है।

उन्नीसवीं शती के मध्य में जब विदेशी प्रभाव में एक भिन्न प्रकार के नाटक और रंगमंच का प्रारंभ हुआ तो हमारी ये प्रचीन पद्धतियाँ तो अपर्याप्त हो गई। एक नवीन शैली के आकर्षण और अन्वेषण के कारण उन्हें छोड दिया गया। लेकिन फारसी तथा पाश्चात्य नाटकों के कारण से देश के विभिन्न भागों में अभिनय की अलग- अलग शैलियाँ बन गयीं। व्यावसायिक मंडलियों या शौकियाँ स्वाभाविकता तथा आत्मियता के साथ सत्य की अवधारणा के यथार्थ रूप को अभिनय में लाने का प्रयास हुआ।

नेमिचन्द्र जैन अभिनय के लिए अभिनेताओं को ही जिम्मेदार मानते हैं। साधारण रूप से अभिनय में प्रवीणता हासिल करने के लिए अनिवार्य लक्षण लग्न, अनुशासन, आत्मसंयम रहना चाहिए उसकी कमी अभिनेताओं में पाया जाता है। लेकिन दूसरी ओर हबीब तन्वीर यह मानते हैं कि अभिनय कला को दिशा निर्देश देने और विकसित करने में नाटककार का बहुत योगदान रहता है - ***" अभिनय के आर्ट को दिशा देने में सबसे महत्वपूर्ण योगदान अभिनेता का नहीं, बल्कि लेखक का होता है। अभिनेता जो भी परिवर्तन और नवीनता अपनी कला में पैदा करता है, वह नाटक की रचना के दायरे में बाहर आकर नहीं कर सकता, बल्कि इसकी सीमाओं में रह कर करता है। चुनांचे अभिनय की कला का जायजा लेने के लिए हमें अक्सर नाटककारों की रचनाओं का सहारा भी लेना होगा।"***[47]

आधुनिक अभिनेयता का काम बहुत कठिन है। धर्मवार भारती आधुनिक अभिनेताओं के दायित्व को विश्लेषित करते हुए कहते हैं कि - ***" अपने आप या***

अहंकार को मिटाना, दूसरे पात्र के चरित्र में डूबना और अपनी छाप बनाये रखकर पात्र के रूप में उस अनुभव, संवेदना को दर्शकों तक पहुँचाना, जो नाटककार का अभिप्रेत है। यहीं कारण है कि भारती अभिनय कला को 'एक कठोर तपस्या' और ब्रह्म प्राप्ति की साधना से कम नहीं मानते।"[48]

पचासोत्तर नाटक में अभिनय की जो शैली दिखाई पडती है वह यथार्थ शैली है। इन नाटकों के लगभग सभी पात्र समकालीन जीवन के पात्र हैं जो समकालीन मनुष्य की तरह मुसीबतों से जूझते हैं, जीवन की विसंगतियों और विडंबनाओं का सामना करते हैं। संघर्ष के समय समकालीन मनुष्य की तरह टूटते हैं, रोते हैं और भाग जाते हैं। इस अभिनेयता को दृष्टि में रखकर राकेश वत्स इस प्रकार लिखते है कि - ***"ये सभी पात्र सामान्य व्यक्तियों की तरह उठते-बैठते, हँसते-रोते, लड़ते-झगडते और विवशताओं में फँसे हुए वे पात्र हैं जो हमारे आसपास घर में, खुद में दिखाई पडते हैं। ऐसे पात्रों को गढ़ने में अभिनय की यथार्थ शैली ही उभर कर सामने आती है। मोहन राकेश के अलावा 'अंधा युग' के पात्रों को लिया जा सकता है। अथवा लक्ष्मीनारायण लाला के नाटकों के पात्र, या शंकर शेष ,सुरेन्द्र वर्मा, मणि मधुकर या मुद्रा राक्षस, सर्वेस्वर दयाल सस्केना के नाटकों के सभी पात्र यथार्थ जीवन के पात्र हैं और जहाँ कहीं ऐतिहासिक, पौराणिक कथानक लिया भी गया है या ऐतिहासिक, पौराणिक चरित्र लिए गए हैं तो वहाँ भी केवल ऐतिहासिक, पौराणिक कथा सूत्र हैं - उनमें अभिव्यक्त जीवनानुभव, नाट्यानुभूति या जीवन स्थितियाँ समकालीन जीवन की स्थितियाँ है।"***[49]

महाभारत के अठ्ठारहवें दिन की संध्या से लेकर प्रभास-तीर्थ में कृष्ण की मृत्यु के क्षण तक की कालावधि को लेकर लिखा गया नाटक अंधायुग है। इस नाटक में 16 पात्र हैं। इन में एक पात्र कृष्ण तो रामगोपल बजाज के नाटक में दिखाई नहीं देता है केवल बात ही करता है। प्रत्यक्ष रूप से कृष्ण पात्र न रहने पर भी केंद्रीय चिंता उन्ही की है। जहाँ भी इस नाटक का प्रदर्शन हुआ वहाँ अश्वत्थामा का मर्मस्पर्शी स्वर दर्शकों को झकझोर करता है। सत्यदेव के निर्देशन में गांधरी की चुनौती पूर्ण भूमिका नीनादास, धृतरास्ट्र की अमरीशपुरी और गूँगे भिखारी के पात्र को राजेश खन्ना कुशलता और सफलता से निभाई हैं। सभी प्रदर्शनों में सभी पात्र संवेदना को साथ लेकर ही चलते हैं। अपने अभिनेताओं की गतिशीलता को दृष्टी में रखकर इब्रहीम अल्काजी इस प्रकार लिखते हैं कि - ***" I see epic characters against the elements rather than against man-mad structures, against canyon, rock blasted forest, deep jungle cave marshland, swamp. I see gandhari small, lost a mere speek under a huge suffocating bowl of***

sky, but a frenzied, protesting speck, a cursing atom in the act of explosion, detonating a chain reaction of vengenance against the whole yadava clan."[50]

'आषाढ़ का एक दिन' नाटक में 12 पात्र हैं। अनामिका की बहु चर्चित बहु प्रशंसित और उल्लेखनीय प्रस्तुती का 'अषाढ का एक दिन' के मंचन-इतिहास में एक महत्वपूर्ण स्थान है। व्यावसायिक रंगमंच पर विशेष रूप से प्रभावित होकर अभिनेता ने पात्रों की केंन्द्रीय चरित्र की पीडा को दर्शकों तक संप्रेषित करने में प्रशंसनीय भूमिका निभाएँ हैं। कालिदास, मल्लिका, विलोम और अम्बिका की भूमिकाओं में भुवनेश्वर प्रसाद सिन्हा, राकेश शर्मा, विकास नंदा और अंजु अरोडा ने खुलकर अभिनय किया। लेकिन 1977 तक आने तक अभिनय में सामान्यता आ गया।

1966 में मोहन राकेश के विशिष्ट नाटक 'लहरों के राज हंस', अनामिका द्वारा 2000 प्रबुद्ध दर्शकों के समक्ष मंचित हुआ। इस में नंद, सुन्दरी, अल्का और श्यामांग की भूमिकाएँ क्रमशः श्यामानंद जालान, विनीता रैलिन, चेतना तिवारी और रणजीत मेहता ने पूर्ण निष्ठा और विश्ववास से निभाई है। नंद की कठिन भूमिका को श्यामानंद जालान ने आत्मसात और सहज बनाने के लिए प्रयत्न किया। अभिनय के दौरान - ***" श्यामानंद श्यामानंद न रह कर अपने नियति की खोज में छटपटाते एक व्यक्ति में बदल जाता था।"***[51]

रंगमंडली दिल्ली द्वारा 'मोहन राकेश के नाट्य समारोह' में कीर्ति जैन निर्देशित 'लहरों के राजहंस' का अभिमंचन किया गया -जो बहुत प्रभावशाली चाहे न बन सका हो। लेकिन मौलिक सोच और रचनात्मक कोशिश की दृष्टि से निश्चय ही नया और उल्लेखनीय सिद्ध हुआ। अनुभूति की तीव्रता और अनुभव के प्रखर आवेग के कारण अभिनेता में महत्वपूर्ण भूमिका निभाई है। नाटककार मोहन राकेश अपने नाटक की प्रस्तुती को दृष्टि में रखकर इस प्रकार लिखते हैं - ***"मैं जानता हूँ कि यह नाटक मेरे लिए जितनी बडी चुनौती रहा है, उतनी यह शायद उससे भी बडी चुनौती यह प्रस्तुत कर्ता के लिए है। नंद का अंतर द्वन्द्व पहले अभिनेता और फिर दर्शक तक किस रूप में संप्रेषित होता है, यह देखने की उत्सुकता हर बार मुझे भी उतनी ही रहेगी जितनी अन्य किसी दर्शक को।"***[52]

आधे अधूरे के सभी पात्र मध्यवर्गीय परिवार के सामान्य पात्र है। ओम शिवपुरी के निर्देशन में पात्रों की अभिनेय को दर्शकों ने भूरी भूरी प्रशंसा की। धीरे-धीरे 'आधे अधूरे' प्रबुद्ध प्रेक्षकों का सर्वाधिक चहेता नाटक बन गया और इसने लोक प्रियता के

नए कीर्तिमान स्थापित किए। ओम शिवपुरी ने ही इस नाटक में काले सूटवाला आदमी पुरुष -एक, पुरुष - दो,पुरष- तीन, पुरुष-चार के अभिनय किया है। 1970 को अनामिका द्वारा प्रस्तुत प्रदर्शन के अभिनय के बारे में जयदेव तनेजा के इस उद्धरण सही लगता है कि - ***" अनामिका की इस बहु चर्चित प्रस्तुति में पुरुष की पांच कठिन और चुनौती पूर्ण भूमिकाएँ कलकत्ता के हिन्दी रंगमंच के अत्यंत सशक्त, अनुभवी तथा प्रतिष्टित अभिनेता कृष्ण कुमार ने निभाई और सावित्री के केन्द्रीय एवं जटिल चरित्र को प्रतिभा अग्रवाल जैसी विशिष्ट और सुप्रसिद्ध अभिनेत्री ने मंच पर साकार करने का बीडा उठाया। अशोक, बिन्नी तथा किन्नी के रूप में क्रमशः कल्याण चटर्जी, यामा अग्रवाल और आभा जालान ने अपने- अपने चरित्रों को जीवंत करने में अपनी अभिनय-प्रतिभा के श्रेष्ट रूप का प्रदर्शन किया।"***[53]

इस नाटक अपने अंतिम प्रदर्शनों तक पहुँचते-पहुँचते अभिनय का स्तर पर आरंभिक प्रदर्शनों के मुकाबले काफी बेहत्तर और अपेक्षा कृत अधि क प्रभाव शाली हो गया था। इस नाटक में चार पुरुष पात्रों को एक ही अभिनेता करने के कारण उनमें अंतर दिखाना ज्यादा कठिन सा लगा है। आधे अधूरे तक पहुँचने से रंगमंच पर अभिनय रूपेण थोडा परिवर्तन पाये जाते हैं। विवशिता, सहानुभूति, संतुलन, विघटन, संत्रास, कुण्ठा आदि भावनाओं को दिखाने में अभिनेता सफलता पूर्वक प्रस्तुति करने में सफलता पाई जाती है। इसके देश व्यापी बहु संख्य प्रस्तुतीकरणों और अगणित प्रदर्शनों ने हिन्दी रंगमंच को नई गति एवं गरिमा प्रधान की है।

सुरेन्द्र वर्मा ने नाटकों में अभिनय संबंधी अनेक परिवर्तन पाये जाते हैं। केवल आठ ही पात्रों को लेकर 'सूर्य की अंतिम किरण से सूर्य की पहली किरण तक' के घटनाओं को लेकर लिखा गया नाटक रंगमंचीय स्तर पर बहुत ही प्रभावपूरक सिद्ध हुआ है। शइ नाटक के अभिनेय के संदर्भ में प्रसिद्ध निर्देशक राम गोपाल बजाज इस प्रकार लिखते है कि - ***" अधिकतर समय दो-दो पात्रों के संवाद है। महत्तरिक के साथ दासी-या मंत्रीय फिर ओक्काक और महत्तरिका-शीलवती-ओक्कक शीलवती-प्रतोष-यह क्रम फिर स्पेस में भी अपने रेखाएं खींचता है। मुझे लगता है कि सारे प्रमुख पात्र एक दूसरे के सामने खडे हैं, इसलिए मैंने अभिनेताओं को तिरछे होकर दर्शक के समक्ष आने से वर्जित किया। क्योंकि या तो वे ठीक हमारे आमने-सामने हैं या फिर एक-दूसरे के आमने-सामने-इसलिए मंचीय परंपरा का तीन चौथाई दर्शकों को देखनेवाला सिद्धात बिलकुल छोड दिया गया। मंच के विशेष, बिंदुओं पर पात्रों की स्थितियाँ दुहराई गई। जैसे कोई विशेष संवाद -संत्रास यदि शीलवती-ओक्काक ने मंच के बीच खडे होकर भोगा तो ठीक उसी स्थान और***

शारीरिक भंगिमा के साथ प्रतोष और शीलवती के बीच उसी मंच बिंदु पर महत्वपूर्ण नाटकीय क्षण लाये गये।"[54]

हबीब तन्वीर के अनवरत रंगयात्रा में अभिनय संबंधी अनेक पहलुओं को लेकर चलते हैं। वे अभिनय के अंदर स्टाइलाइजेशन (शैली बद्धता) लाने की कोशिश करते हैं। एक एक नाटक के लिए महीने भर रिहार्सल करके बाद में मंच पर उपस्थित करने की क्षमता उनकी नाटकों में होती है। हबीब तन्वीर के अभिनेताओं के बारे में रघुवीर सहाय इस प्रकार लिखते हैं कि - ***' जब हबीब तन्वीर ने बुर्जुआ जेंटलमैन में एक आधुनिक विदेशी नाटक था और बाहदुर क्लारिन मे एक निहायत देशी नाटक जिसका न कही से अनुवाद किया गया था न रूपांतर। मगर दोनों अपने कारणों से खरे और सच्चे थे। दोनों में कलाकारों का नाटक से अपनापा बराबर दीखता था. यह अपनापा सिर्फ नाटक से नहीं, बल्कि उस जीवन से था जो ये कलाकार जीते थे और इसीलिए हम सब लोग जीते या जी सकते थे।"[55]***

हबीब तन्वीर अपने अभिनेताओं से इस लोक पृष्टभूमि कों ध्यान में रखने के कारण उनके 'नए थिएटर' पूरी तरह से लोक अभिनय शैली पर आधारित होते हुए भी अपनी दृश्य बंध कल्पना में वे वह यथार्थवादी शैली के ज्यादा नजदीख पडते हैं। उन्होंने पाश्चात्य और भारतीय शैलियों को मिलाकर अपनी एक अलग शैली तैय्यार की है। स्वयं अभिनेता होना उनके निर्देशन कार्य अप्रतिहत रहने में सहयकारी बनी है। उनके नाटक और पूरा रंगकर्म अभिनेता पर ही केन्द्रित है। जब कि प्रसुतियों में ग्रामीण कलाकर समूह का हिस्सा बन गये हैं। लालूराम, मदनलाल, ठाकुर राम, फिदाबाई, बाबूदास, बृज और भुलवा जैसे लोक कलाकारों न अपने अभिनय की छाप छोडी है। चरण दास चोर नाटक में हबीब तन्वीर के निर्देशन से भी ज्यादा मदनलाल और लल्लूराम के अविस्मरणीय अभिनय के कारण प्रसिद्धी पाई है।

'हानुश' एक विदेशी किंवदंती पर आधारित नाटक है। पर उसकी भाव भूमि ऐसी है जो हर देश में हर युग में इन्सान की हालत की एक विडंबना को प्रस्तुत करती है। नाटक में स्थितियों और चरित्रों को बडी कल्पना और नाटकीय समझ के साथ निभाया गया है और भाषा में बडी व्यंजना और सहजता है। हानुश भारतीय नाटक की बडी महत्वपूर्ण उपलब्दि है और हिन्दी नाटक को मोहन राकेश से एक कदम आगे ले जाता है। 1980 अप्रैल में राजिन्द्रनाथ की प्रस्तुति नाटक की पूरी संभवनाओं को नहीं उभार सकी, पर उसमें लोहार के रूप में रवि वासवानी का अभिनय बडा कुशलता पूर्ण और असरदार था।

निर्देशक ब्रज मोहन शाहने अपने लिटिल थिएटर ग्रूप द्वारा मुद्राराक्षास का 'योर्स फेथफुली' सरकारी दफरों की मशीनी, अमानवीय और भ्रष्ट जिंदगी की तस्वीर पेश करता है। इस नाटक में परिवर्तन के आयाम यह है कि नाटक की बनावट यथार्थवादी ढांचे से बाहर जाकर अनुभव के कई स्तर एक साथ संजोने की कोशिश जाहिर करती है। इस नाटक के अभिनय पर दृष्टि लगाते हुए नेमिचन्द्र जैन इस प्रकार लिखते है कि - ***"अभिनय की दृष्टि से योर्स फेथफुली में सामूहिक कार्य ही महत्वपूर्ण था। जिसे सभी अभिनेताओं ने निबाया। सिर्फ अफसर के रूप में बृज भूषण सहानी और स्टेनो के रूप में मीनाक्षी अलग से भी प्रभावी थे, यद्यपि इस भूमिका में मीनाक्षी जैसी अभिनेत्री के लिए कोई खास गुंजाइश थी नहीं।"***[56]

1974 जुलाई में जननाट्य मंच द्वारा सर्वेस्वर दयाल सक्सेना की 'बकरी' नाटक की प्रथम प्रस्तुति हुई। कविता नागपाल की निर्देशन में यह प्रस्तुती बडी असरदार बनी है। इस में युवक के पात्र को सफदर हासमी ने निभाया है। नुक्कड नाटक के लक्षण ज्यादा होने कारण इस प्रस्तुती जनता को विशेष रूप से आकर्शित की है। उसी प्रकार लक्ष्मीनाराय लाल रचित 'करफ्यू' नाटक को 'अभियान' संस्था ने प्रस्तुतीकरण किया। निर्देशक जीवी जैन ने की। इस नाटक के चरित्रों का अभिनय अशोक सरीन (गौतम), कविता, नागपाल (मनीषा) सुदा चोपडा (कविता) और श्याम अरोडा (संजय) ने किया। इसनाटक को मुख्य पात्र मनीषा के पात्र परिकल्पना पर नाटककार लक्ष्मीनारायण लाला इस प्रकार लिखते हैं कि - ***"मनीषा का चरित्र इस नाटक की वह रक्त-रेखा है, जीसने मुझे बहुत ही आतंकित किया है। इस ने इस नाटक के बारे में जितने मानवीय और अमानवीय अनुभव किए हैं और यह जिस जीवन अनुभव की प्रक्रिया से गुजरी है वह मेरे लिए बडा ही सार्थक बिंदु रहा है। जैसे मनीषा ने ही मुझे यह अनुभव दिया कि हमरा सारा शहर करफ्यू लगे हुए घरों का जड विस्तार है। गौतम-मनीषा, संजय-गौतम और परस्पर सभी अपने अनुभव से निकलकर जितने महत्वपूर्ण और सामर्थ्यवान होते हैं, वही इस नाटक की वास्तविकता है। और यहीं मेरा अस्तित्व है।"***[57]

गिरीश कर्नाड का 'हयवदन' दिल्ली सहित अनेक प्रदर्शों में प्रदर्शित किया गया है। सत्यदव दुबे, बी.वी. कारांत स्वयं गिरीश कर्नाड ने इस नाटक का निर्देशकत्व निभायें हैं। काले परदे के आगे मंच पर किसी भी प्रकार के दृशय बंध अथवा उपकरणों के बिना। इससे पूरा जोर अभिनय पर आ गया और अपने क्षमता वान अभिनेताओं द्वारा दुवे ने नाटक में पात्रों के निहित अंतः संघर्ष को उभाने की कोशिश की । इस नाट्य प्रदर्शन के बारे में प्रसिद्ध रंगकर्मी नेमीचन्द्र जैन की राय सही प्रतीत होती है कि - ***" इस प्रदर्शन की सफलता का बहुत -सा श्रेय अभिनेताओं***

को है। अमरीश पुरी और अमूल पालेकर दोनो ने ही अपने-अपने मूल तथा बाद में परिवर्तित चरित्रों को बडी सूझ-बूझ और उपज के साथ रूपायित किया। सुनीला प्रधान पद्मिनी के पूर्वार्ध के अल्हड पर बिजली-जैसी चमकवाले रूप को तो न उभार सकी, पर उत्तरार्द्ध का संघर्ष क्षमता के साथ अभिव्यक्त हुआ। दुबे ने माँ काली को मुखौंटे की बजाय अभिनय द्वारा प्रस्तुत किया। इस भूमिका में दीना पाठक ने आत्मविश्वास से ऐसा असरदार और चमत्कारी अभिनय किया कि उन कुछ ही मिनटों में उन्होंने पूरे दर्शक वर्ग को मुग्ध कर लिया।"[58]

नुक्कड नाटक के भी अपने एक रंगशिल्प होता है। प्रेक्षागृहों में दर्शकों का स्थान सदियों से एक तरह ही रहता चला आ रहा है। पर नुक्कड नाटक में यह कतई संभव नहीं है। चारों तरफ से खुला होने के कारण हर तरफ से लोग जुटते हैं। आगे के लोग बैठते हैं, पीछे खड़े हो जाते हैं। नुक्कड नाटक को रंगमंचीय उपकरणों की जरूरत नहीं हैं। अभियन ही उसका प्रधान आवशअयकता है। नुकक्ड नाटक में तो अभिनेयता कूट-कूट कर भरी है। अभिनय ही उसकी प्राण तत्व है। नुकक्ड नाटक की सार्थकता उसकी प्रस्तुती में ही है। इस प्रकार नुकक्ड नाटक एक सुस्थिर विधा के रूप में बाहर आया है। इस के ऊपर चार दर्शकों के जनवादी आंदोलन का गहरा प्रभाव पडा हैं, उन्ही से प्रेरित होकर ये नाटक विकसित हुआ है।

प्राचीनतम नाटकीय प्रवृत्तियों को छोड कर नुकक्ड नाटक बाहर आ कर जनसाधारण की ही आवाज को नया रूप दिया है। यहाँ दर्शक और कलाकार की भूमिका अलग-अलग नहीं होती। दोनों एक दूसरे के बहुत निकट आ जाते हैं, बल्कि नाटक उन्ही के बीच जा पहुँचता है,और दर्शक भी मात्र दर्शक न रहकर नाटक का अंग बन जाते हैं, दोनों के बीच की विभाजक रेखा मिटने लगती है, अभिनेता उन्ही से निकला हुआ व्यक्ति बन जाता है। इसी कराण से नुक्कड नाटक इतना मशहूर हुआ है।

नुक्कड नाटकों में पात्र की असली रूप को पेश करने के लिए पात्र की वेश-भूषा की तमाम चीजों का जुटाने के बजाय, उससे जुडती हुई कोई एक वस्त्र या शारीरिक हाव-बाव द्वारा ही यह प्रकट करने का प्रयास किया जाता है। इस के बारे में प्रसिद्ध नुक्कड नाटक के निर्दशक राजेश कुमार इस प्रकार लिखते हैं कि - " ***नुक्कड नाटक के रंगकर्मियों का हमेश यही कोशिश रहती है कि अभिनय या हाव-भाव द्वारा ही सारा आभास उत्पन्न किया जाये। उदाहरण के लिए, केरल शास्त्र साहित्य परिषद के नाटक में तमाम अभिनेता वेष-भूषा के नाम पर मात्र धोती पहने होते हैं, बदन खाली किसान की भूमिका निभा रहे हैं इस लिए धोती का प्रयोग काफी सठीक लगता है- चरित्र को स्वाभाविक, सरल ढंग से उभारने में। जब जमींनदार***

आता है तो तुरंत उनमें से एक अभिनेता उठ कर जमींदार बन जाता है, धोती का एक पहलू उठाकर हाथ में थामा, दूसरे हाथ में छडी और मुह को ऐसे चलाने लगता है मानो पान चुबला रहा हो। दर्शकों को तुरंत लगता है वह अब जमींदार बन गया है, किसान नहीं रहा।"[59]

इस प्रकार पचासोत्तर से बडे -बडे नगरों में अंग्रेजी नाटकों के प्रदर्शनों के कारण, भारतीय भाषाओं के नाटकों में पुरानी शैलियों को छोडकर अभिनय में नूतनता लाने का प्रयास हुआ। हमारे रंगमंच पर अभिनय की परंपरा न तो पुष्ट हो सकी न बहुत विकास ही। वह अधिकांशतः साधारण यथार्थवादी या भावुकतापूर्ण आवेग प्रधान नाटकों को प्रस्तुत करने में ही समर्थ हो पाती है। देश के अधिकांश भागों में विशेष कर हिन्दी भाषी प्रदेश में आज अभिनय का जो रूप है उसमें कोई शैली नहीं है सिर्फ वह मनोरंजन या दिल बहलाव का साधन है।

अभिनय में स्वाभाविकता अनिवार्य है, यह विषय तो सभी मानते हैं. इस संबंध में लक्ष्मीनारायण मिश्र ने 'मुक्ती का रहस्य' की भूमिका में अभिनय की स्वाभाविक अनिवार्यता पर विशेष बल दे कर कहते है कि - ***"तोते की तरह रटे हुए शब्दों को रंगमंच पर दुहरा देना ठीक नहीं होता। मुहँ से जो शब्द निकले उसके साथ ही साथ शरीर के अंगों का संचालन भी ऐसा होना चाहिए कि जो आपस में सामंजस्य स्थापित कर रंगमंच पर मनुष्य की स्वाभाविक जींदगी दिखला दे अथवा हमारा नित्य का जीवन जैसा है रंगमंच का जीवन उसके साथ मेल खा सके।"[60]***

पचासोत्तर नाटकों के सारे पात्र यथार्थ शैली से उभरकर आते हैं। मोहन राकेश, हबीब तन्वीर, लक्ष्मीनारायण लाल, मुद्रा राक्षस, भीष्म साहनी, सर्वेश्वर दयाल सक्सेना के नाटकों के पात्र जीवनानुभवों से जूझते है। इस युग के नाटकों में अभिनय प्रधान पात्रों की परिकल्पना तो की गई है लेकिन अभिनय परंपरा को आगे ले जाने में सफलता तो ज्यादा नहीं मिली है।

4.2.3 नाटक के निर्णायक तत्व : रंगदीपन

नाटक को दर्शकों के समक्ष प्रस्तुत करने और प्रभाव शाली प्रदर्शन बनाने में रंगदीपन और ध्वनि प्रभाव की महत्वपूर्ण भूमिका होती है। वहीं नाटक के चरित्रों और प्रसंगों के विश्वसनीय देश-काल और परिवेश प्रधान करता है, प्रामाणिकता प्रधान करता है, प्रामाणिकता देता भी है। वस्त्र विन्यास, रूप सज्जा, संगीत इत्यादि मंच को विशाल बनाता है। इस रंग शैली के संबंध मे डॉ. भारती के विचार काफी उदार और

संतुलित हैं। उनके मतानुसार - ***"कुछ ने अपने को केवल लोक नाट्य शैली से ही आबद्ध कर दिया। कुछ ने तथाकथित यथार्थवादी या जनवादी स्कूल को ही मान्यता दी। कुछ किसी और दयारे में बंध गये। आप जहाँ से जो अच्छा मिले, आप के नाट्यकर्म को नये आयाम या नया विकास दे, उसे खुले मन से स्वीकार करें पर किसी एक वाद या शैली में बांध कर अपने को सीमित न कर दें। जो नाटक आप करने जा रहे हैं उसमें नाटकार जो कह रहा है उसी को प्रमुखता दें और उसी के अनुरूप नाट्य शैली की परिकल्पना करें।"*** [61]

रंगमंच का उतना ही प्रकाश उपेक्षित है जितना उस दृश्य को प्रभाव शाली बना सके, दृश्य को नहीं। पचास के पहले दृष्य को प्राकाशवान बनाया जाता था लेकिन पचास के बाद अभिनय प्रधान होने के कारण प्रकाश व्यवस्था अभिनय के हित के ही है। पचासोत्त्र प्रकाश व्यवस्था में परिवर्तन के कारण अभिनेता के मुख के पलकों तथा अन्यभागों की ऐसी हल्की छाया मुख पर पडती है, जिससे पत्येक मानव मुख की रेखाएं स्पष्ट होती है और निखरती भी हैं। प्रकाश द्वारा भावों का प्रस्तुती करण संभव है। हमें यह विषय जरूर से माना चाहिए कि भावों के प्रदर्शन में बहुत हद तक प्रकाश सहायक होता है। प्रकाश संबंधी विश्षताओंको दृष्टि में रखकर विकल गौतम इस प्रकार लिखते हैं कि - ***"हल्के नीले रंग की किसी भी छाया या झलक (शेड) से ठंडी, तडके की ओर पौ फटने की भावना उत्पन्न होती है। शोक, निराशा या हानी के भाव दिखाने के लिए यह रंग उपयुक्त है। हिम श्वेत रंग जाडे की रात अकेलेपन तथा प्रतीक्षा के भाव प्रदर्शन करनेवाले दृश्यों के लिए प्रयुक्त किया जाता है। दृश्य पीठ के पीछे छिपते हुए सूर्य का प्रदर्शन करने के लिए लाल रंग के प्रकाश का प्रयोग किया जाता है। गुलाबी रंग का प्रकाश संध्या केलिए उपयुक्त होता है।"*** [62]

नाटककार की रंगमंचीय अभिज्ञा की संपन्नता का अथवा दरिद्रता का मुख्य पता इस बात से चलता है कि नाटक के लिखित पाठ को प्रस्तुत पाठ में रूपांतरित करने के लिए उसमें कितने और किस, प्रकार के रंग संकेतों से काम लिया है। ये रंग संकेत मूल नाट्य संरचना का अविभाज्य हिस्सा होते है और रंगकर्मियों को नाटक की प्रस्तुती में नाट्यानुभूति को समझने में सहायक होते हैं। पचासोत्तर नाटकों में नाट्यनुभूति को समझने में सहायक होते हैं। पचासोत्तर नाटककार ने रंग संकेतों को भर पूर्ण इसस्तेमाल किया है।

'अंधायुग' शीर्षक में ही काला रंग समा हुआ है। ओम शिवपुरी से लेकर राम गोपाल बजाज तक सब के सब ने इस अंधेपन को प्रत्यक्ष करने के लिए प्रयत्न किए हैं और सफल भी हुए हैं। उदाहरण के लिए गांधारी और युयुत्सु के साक्षात्कार के

दृश्य में गांधारी का प्रस्थान, गुँगे सैनिक का युयुत्सु को देख कर चीखना, अश्वत्थामा द्वारा वृद्धयाचक की हत्या के दृश्य को रंग संकेतों के माध्यम से अच्छी तरह प्रस्तुत किया गया है।

मोहन राकेश के 'आषाढ का एक दिन' में रंग संकेतों को और प्रकाश व्यवस्था को अच्छी तरह व्यक्तीकरण मिलता है। अंक विभाजन के लिए राकेश इस नाटक में प्रकाश योजना को उपयोग करते हैं। लहरों के राज हंस में भी अंक -विभाजन के लिए प्रकाश योजना का सहार लिया गया है। मंच को और प्रभाव पूर्वक बनाने में प्रकाश की ज्यादा विशेषता है। अंक समाप्ति में परदा गिरते समय प्रकाश क्रमशः कम हो जाता है और अंक प्रारंभ में प्राकाश क्रमशः बढती है - ***" शशांक चकित-सा पल भर रुका रहता है। पिर सिर झुकाकर चला जाता है। नंद दीपादार का सहारा लिए अंतर्मुख-सा ऊपर की ओर देखने लगता है। प्रकाश उसके चहरे और ऊपर की पुरुष मूर्ती पर केन्द्रित होकर धीरे-धीरे मंद पडता है।"***[63]

'आधे अधूरे' नाटक में भी मोहन राकेश प्रकाश का बडी जारूकता से इस्तेमाल करते हैं। अंधकार और प्रकाश का मेलमिलाप करके नाटक के अंत को बडा प्रबावशाली बना देता है। इस नाटक प्रकाश संबंधी झलक नीछे बताया गया उद्धरण से पता चलता है कि - ***"प्रकाश खंडित होकर स्त्री और बडी लडकी तक सीमित रह जाता है। स्त्री स्थिर आँखों से बाहर की तरफ देखती अहिस्ता से कुर्सी पर बैठ जाती है। बडी लडकी एक बार उसकी तरफ देखती, फिर बाहर की तरफ। हल्की मातमी संगीत उभरता है, जिस के साथ उन दोनों पर भी प्रकाश मद्धिम पडने लगता है। तभी लगभग अधेरे में लडके की बाहर थामे एक पुरुष की धुंधली आकृति अंदर आती दिखाई देती है।"***[63 (B)]

नाटकाकार सुरेन्द्र वर्मा ने अपने नाटकों में प्रकाश को महत्वपूर्ण साधना के रूप में स्वीकार किया है। उनके नाटकों में रंगसंकेत निर्देशन को मदद करने केलिए प्रयुक्त हुए है। 'सूर्य की अंमिक किरण से सूर्य की पहली किरण तक' नाटक में सुरेन्द्र वर्मा ने प्रकाश का समुचित और सफल प्रयोग किया है। विशेषता यह है कि अतीत और वर्तमान की घटनाओं को आलोक वृत्त के माध्यम से दृश्य रूप में प्रस्तुत किया गया है। मोहन राकेश के समय तक आने पर प्रकाश योजना को पात्रों की मनः स्थिति को उभारने में इस्तेमाल किया गया है। सुरेन्द्र वर्मा के प्रकाश व्यवस्था पर दृष्टि लगाते हुए देवेन्द्र कुमार गुप्त इस प्रकार लिखते है कि - ***" मंच पर अंधकार है, और पुरुषाकृति आर्थात ओक्काक टहल रहा है क्योंकि यह रात्रि उसने बेचैनी की अवस्था में इसलिए काटी है क्योंकि पत्नी शीलवती प्रतोष के पास***

'नियोग-प्रथा' मानने गई थी। इसलिए अंधकार है। महत्तरिका प्रातः काल प्रवेहा और संवादों के साथ तीन बार मंच पर तक्षण आलोक हो जाता है।शीलवती राज प्रासाद लौट आई है। ऐसे वातावरण की सृष्टि के लिए तथा नाटक के मूलभाव को संप्रेषित करने के लिए पूरा मंच आलोकित हो जाना, नाटक की गति को तीव्र करता है।"[64]

द्रौपदी नाटक में पहला अंक प्रकाश योजना के अंतर्गत ही प्रारंभ होता है। वस्तुओं को दृश्यमान करने में प्रकाश योजना सहायक हुई है। इस नाटक में नाटक के पूरे परिवार का परिचय और आत्म साक्षात्कार करवाया जाता है। - ***"आलोक वृत्त में मन मोहन के दीखने के साथ ही चारों नकाबवालों का दीखना पूरे नाटकीय वातावरण और नाटकीय व्यंजना की सृष्टि करने लगता है।"[65]***

हबीब तन्वीर के नाटकों में खासकर प्रकाश योजना पर ज्यादा दृष्टि नहीं लगाया गया क्योंकि हबीब तन्वीर अभिनय कौशल पर ही ज्यादा ध्यान देते है। लोक नाट्य परंपराओं से ज्यादा संबंध रखने के कारण प्रकाश व्यवस्था पर ज्यादा जोर नहीं दिया गया है। इन्ही तत्वों को साथ लेकर पनपनेवाली नुक्कड नाटकों में भी प्रकाश व्यवस्था के लिए कोई महत्व नहीं है। सफदर हाशमी यह मानते है कि प्रकाश या मेकअप मुख्य मुद्धे से ध्यान हटाने का काम करते है।

हिन्दी नाटकों की रंगमंचीय पक्ष को उजागर करने के लिए प्रकाश योजना बडी महत्वपूर्ण भूमिका निभाई है। जो प्रकाश की गति को नाटककार ने कल्पना किए है उसे प्रस्तुत करने के लिए निर्देशक ने पूरी तरह प्रयत्न किए हैं। व्यक्ति को स्पष्ट रूप में दिखाने के लिए दर्शक पर ज्यादा प्रभाव डालने के लिए प्रकाश व्यवस्था सक्षम हुई है। लेकिन नुक्कड नाटक के उदय के बाद प्रकाश का प्रभाव कम हो गया है। लेकिन आज भी 'अंधायुग' जैसे नाटक को सक्षम रूप में संप्रेषित करने के लिए प्रकाश व्यवस्था की जरूरत होती है।

4.2.4 रोमांचकता के प्रेरक तत्व : ध्वनि - संगीत

ध्वनि संगीत योजना भी एक अलग मंचीय उपलब्धि है। समकालीन रंग मंच को उद्धीप्त करने वाले उपकरणों में ध्वनि-संगीत भी एक है। कुछेक नाटकों में संगीत का प्रयोग केवल अलंकारण के रूप में होता है। पचासोत्तर नाटकों में संगीत नाटक का अभिन्न अंग नहीं है, या उसका पोषक भी नहीं है, बल्कि नाटक को केवल सजाने के लिए संगीत का प्रयोग होता है।

रिकार्ड किया गया संगीत प्रभाव पचासोत्तर नाटकों में महत्वपूर्ण स्थान पाया गया है। वास्तव में संगीत संवादों या मंच पर किए जानेवाले प्रस्तुति के अनुसार होना चाहिए। लेकिन टेपरिकार्ड द्वारा ध्वनि को रिकार्ड कर प्रभाव डालना मंच को यथा संभव असहजता पहुँचाती है। अव्यवसायी नाट्य मंडलियों की विचार है कि, ."*****नाटक में संगीत प्रत्यक्ष रूप से प्रस्तुत किये जाने का पूरा प्रयास किया जाना चाहिए।*"[66]

एम. के. रैणा का यह विचार है कि संगीत का प्रयोग किसी खास प्रभाव को देकर नाटक को आगे बढाने में होता है। रैणा कहते है कि - ***"मेरी कोशिश यही रहेंगी कि संगीत नाटकों में रिकार्ड किया हुआ न होकर मंच पर जीता-जागता हो।"***[67] ध्वनि और संगीत के संबंध में नेमिचन्द्र जैन का यह कथन समीचीन है कि इनका उद्धेश्य गीतों की धुनें बनाना ही नहीं रह गया है - ***"मंच पर अभिनेताओं के संवादों के साथ एक विशेष सुनियोजित संबंध में प्रयुक्त होकर कभी संगीत में कभी विषमता या विसंगति में ध्वनि प्रभावों और पृष्टभूमि के संगीत ने एक सर्वथा नवीन सार्थकता प्राप्त की।"***[68]

'टेपरिकार्डर, रेडियो, हर प्रकार के वाद्य यंत्र, टेली फोन, बिजली की घंटी तथा रिकार्ड की सहायता से ध्वनि प्रभाव उत्पन्न किया जा सकता है। पचासोत्तर नाटकों में तूफान, शोर, झंझावात, पशु पक्षियों की आवाज, गोली चलने की आवाज, युद्ध का शोर अर्थात हर प्रकार की आवाजों को मंच पर प्रस्तुत किया गया है। ***"रंगमंच में दृश्य की आपेक्षिक स्थिरता के बावजूद जो एक आंतरिक गति रहती है वह शब्दों और ध्वनियों की निरंतरता से ही उपजती है, क्योंकि यहाँ जो देखा जाता है, वह सुने जा रहे का ही रूपांतर होता है।"***[69]

सुख दुख, उदासी, निराशा, अकेलापन, भय, खुशी आदि भावों और स्थितियों को और गहरा एवं तीव्र बनाने के लिए वैसा ही संगीत इस्तेमाल किया जाता है। उदाहरण के लिए मोहन राकेश द्वारा लिखित 'आषाढ का एक दिन' में मेघ गर्जन शब्द प्रयोग से भावोच्छल प्रभाव को गहरने के लिए इस्तेमाल करते हैं। - ***"बिजली चमकती है और मेघ गर्जन सुनाई देता है। कालिदास एक बार चारों ओर देखता है, फिर झरोखे के पास चला जाता है। वर्षा पडने लगती है।"***[70]

मंच पर प्रस्तुत की गयी ध्वनियों के बारे में डॉ. जयदेव तनेजा 1960 के अल्काजी के प्रस्तुति को दृष्टि में रखकर इस प्रकार कहते हैं कि - ***"नाट्य लेख के निर्देशानुसार बादलों के गरजने, बिजली के कडकने और वर्षा के बरसने, सरकारी***

मुँहजोर की घोडों की प्रखट टापों से आतंकित भोले ग्रामवासियों के घबराकर बचने-भागने की डरी हुई अस्पष्ट आवाजों के साथ साथ मंदिर के शंख, घंटे, घडियाल इत्यादि के पूजा स्वरों का तो असरदार प्रयोग इस प्रस्तुति में किया ही गया इनके अतिरिक्त निर्देशक ने अपनी ओर से कालिदास के वियोग मे मल्लिका के हृदय की मूक पीडा और उसके एकाकीपन की त्रासदी को रेखांकित करने के लिए नेपथ्य से एक बोजपुरी बिदेशीया का भी बडा मौलिक एवं मार्मिक इस्तेमाल किया।"[71]

'आधे अधूरे' नाटक की प्रस्तुति में तो संगीत को कुंठाओं को व्यक्त करने के लिए एक माध्यम के रूप में लिया गया है। 1978 में एक प्रदर्शन के समय नाटक का आरंभ नारी कंठ से टूट टूटकर निकलती आदिम ध्वनियों से होता है जो अस्पष्टता के बावजूद करुणा, पीडा और त्रासदी के भाव मन में जगाती है। इस नाटक मे मूल भूत परिवर्तन यह है कि वाद्ययंत्रों से उत्पन्न विशिष्ट स्वरों के आरोह-अवरोह द्वारा नाटक की मूलभावना को अनूदित करने का प्रयास किया गया है। निर्देशिका अमाल अल्लाना के श्ब्दों में - ***" अप्रिय एवं कर्कश संगीत का प्रयोग मात्र नाटकीय चरमोत्कर्ष के लिए ही नहीं है, बल्कि चरित्रों के जीवन में व्याप्त कटुता एवं कर्कशता को प्रकट करने के लिए है।"***[72]

साठोत्तर नाटकों में नेपथ्य संगीत एक साथ विषय बनकर आयी है। संगीत के द्वारा पात्रों की मनः स्थिति को दर्शकों तक पहुँचाना आधुनिक निर्देशकों का प्रमुख लक्षण है। सुरेन्द्र वर्मा के मंचीय नाटकों में नेपथ्य संगीत से व्यक्तियों का परिचय कराते हैं। द्रौपदी नाटक में सुरेखा ज्यों ही अनिल का परिचय प्रयत्न करती है, आलोक वृत्त अनिल पर फेंका जाता है। - ***"नेपथ्य से आती पाश्चात्य संगीत की धीमीधुन पर अनिल आत्म विस्मृत ढंग से ताल दे रहा है। रूक रूक कर सिगरेट के छल्ले बनाता है।"***[73]

'सूर्य की अंतिम किरण से सूर्य की पहली किरण तक' नाटक में भी नाटककार नेपथ्य में कोलाहल, पक्षियों के चहचहाहट, रात की तनावपूर्ण स्थिति, प्रातः कालीन वातावरण को टेपरिकार्ड द्वारा प्रस्तुत किया गया है। नाटक में प्रयुक्त विभिन्न वाद्ययन्त्रों, नगाडों की ध्वनि आदि प्रभावों की चर्चा करते हुए गिरीश रस्तोगी ने इस प्रकार विचार प्रकट कियें हैं - ***" 'सूर्य की अंतिम किरण से सूर्य की पहली किरण तक' नाटक के नाज़ूक क्षणों की वाद्य ध्वनियों ने जिस करह दर्शक के मन मे उतारा था वह भी प्रत्यक्ष अनुभव है।"***[74]

हबीब तन्वीर के रंगयात्रा में संगीत और गीतों की बहुत ही मुख्य भूमिका होती है। उनके गीत लोकगीतात्मक रूप को स्पष्ट कराते है। लोक नाट्य संबंधी उपकरणों के साथ लेकर छत्तीसगढ लोक ध्वनियों से अपने नाटक 'आगरा बाजार', 'बहादुर क्लारिन', 'चरणदास चोर' आदि में सुनिश्चित रंगमंचीय प्रयोगों को प्रतिष्ठित किया है। अपने रंग प्रयोगों के बारे में हबीब तन्वीर इस प्रकार लिखते है कि - ***" मेरे प्रदर्शन में एक पूरे वाद्यवृंद की जरूरत पडी। क्योंकि न केवल गीतों की संगत के लिए संगीत आवश्यक था, बल्कि उसके द्वारा प्रवेश, प्रस्थान तथा नाटकीय स्थलों का निर्देश और पुष्टीकरण भी किया गया था और सारथियों, बधिकों, विलाप करनेवालों और पीछे करनेवालों की गतियों का ध्वनिचित्र प्रस्तुत किया गया था।"***[75]

ध्वनि और संगीत नुक्कड नाटक का अत्यंत ही आवश्यक अंग है। संगीत का उपयोग नाटक के शुरु से अंत तक होता है। साधारण रूप से जहाँ कहीं नुक्कड नाटक करना होता है, सबसे पहले आ-जा रहे लोगों का ध्यान आकृष्ट करने के लिए संगीत या ध्वनि का सहारा लेना जरूरी है। नुक्कडों पर होनेवाले तरह तरह के शोरगुल, सवारियों के आवाजें, फेरीवालों की हाँक तरह-तरह की मिश्रित आवाजें भी यदाकथा संगीत ध्वनि के रपू में अच्छी एवं सटीक भागीदार निभा देती हैं। नुक्कड नाटकों में संगीत खासियात तो ध्यान में रखकर सफदर हाशमी नीचे दिया गया उद्धरण में स्पष्ट रूप से लिखते है कि ***" संगीत नुक्कड नाटक का एक खास हिस्सा है। 'जनम' के अधिकतर नाटकों में गीत और संगीत का भरपूर प्रयोग किया गया है। ढोलक, खडताल, डफली और झांझ इस तरह के तालवाद्यों का ही हमने नाटकों में इस्तेमाल किया है। कारण? इन्ही चीजों के स्वर दूर तक पहुँच सकते है। अक्सर हमारे नाटक गीत अथवा ढोलक की थाप के साथ शुरू होते है। गीत न केवल कहानी के दो हिस्सों को जोडते है बल्कि अक्सर कहानी को आगे बढाते है और कई बार तो संवाद बनाकर उभरते है। कई बार जब 'एकशन' के साथ गीतों का प्रयोग किया जाता है तो उसका प्रभाव बहुत अच्छा बन पडता है। मिसाल के तौर पर अगर 'हिंसा परमो धर्मः' के शुद्धीकरण वाले दृश्य से 'मौका अपने पैरों चलकर तेरे द्वारा आये' गीत निकाल दें तो दृश्य बहुत नीरस रह जायेगा।"***[76]

पचास के बाद पूर्व के नाटकों में संगीत केवल नृत्य को सहारा देनेवाले माध्यम के रूप में लेते थे। लेकिन पचास के बाद के नाटकों में संगीत या ध्वनि उपकरणों को दृश्य योजना में इस्तेमाल करना शुरू हुआ है. एक दृश्य के समाप्त होने पर संगीत का विधानकर दूसरा दृश्य का आरंभ करना एक पद्धति है। कथा गायन के साथ दृश्यों को आरंभ करना और एक पद्धति है। लोक नाट्य शैली से इस पद्धति को लिया गया है। अभिनेता को मिर्मिक बनाने में और पात्रों की कुंठाओं को स्पष्ट कराने

में संगीत की सहायता से पचासोत्तर नाटककार अनेक सुनियोजित प्रयोग के सक्षी बने हैं।

4.2.5 अभिनय की सार्थकता का आधार : निर्देशन

नाटक को उसकी पूर्णता तक पहुँचाने के लिए अथवा दर्शकों के मनोभिरूचि को मंच पर उतारने तक निर्देशक का महत्वपूर्ण योगदान रहता है। नाट्य प्रदर्शन के सभी तत्वों को एक समग्रता में पिरोकर एक स्वतंत्र कला रूप का दर्जा देनेवाला केन्द्रीय सूत्र निर्देशक ही होता है। निर्देशन प्रचलित अर्थ में स्वतः कला नहीं है किन्तु विभिन्न कलाओं को समझने और समझाने की शक्ति के समुचित उपयोग निर्देशन में ही संभव है।

निर्देशन निश्चित रूप से एक कला है। यह एक मिश्रित कला है लेखक, अभिनय, निर्देशक, दृश्य सज्जाकार आदि तकनीकों की सम्मिलित रूप है। निर्देशक सम्पेषण शक्ति के बारे में डॉ. सुरेश चन्द्र शुक्ल इस प्रकार लिखते हैं कि - " ***निर्देशक, कृतिकार और दर्शक के बीच का वह सेतु है जो इन दोनों बिंदुओं को मिलाता है। अतः आवश्यक है कि निर्देशक कृतीकार की भावनाओं एवं मंतव्य तथा मूल संवेदना को आत्मसात् करके ही दर्शक को कृतिकार के अभीष्ट की सम्पेषण करा सकता है। निर्देशक प्रथम कृतीकार की तथा दूसरी अभिनेता की सेवा करता है परन्तु फिर भी इस कलाप से बहुत दूर होता है क्योंकि मूलतः नाटककार एवं अभनेता दर्शक के प्रति समर्पित है क्योंकि उसी से उनकी सत्ता है।"*** [77]

पचासोत्तर नाटक प्रयोगधर्मी ही नहीं प्रभावपूर्ण भी है। रंगमंच के विकास के साथ निर्देशक का महत्त्व बढा है। प्रायः सभी भाषाओं के रंगमंच में प्रतिभाशाली निर्देशक सामने आये हैं। इसके पहले नाटककार, मुख्य अभिनेता अथवा मंडली के संचालक-व्यवस्थापक ही संयोजन-निर्देशन का काम किया करते थे। मगर जैसे जैसे रंगमंचीय कार्य में विभिन्न दृश्यों तत्वों, अभिनय के गतिविधान, प्रकाशयोजना के उचित संयोजना पर जोर दिया जाने लगा वैसे-वैसे ही निर्देशक का अलग स्वतंत्र महत्त्व बढने लगा यहाँ तक कि किसी प्रदर्शन की पहचान और श्रेष्ठता उसके निर्देशक और उसकी प्रतिभा से निर्धारित होती है। दर्शक अमुक अमुक नाटकों का अभिनेता के देखने की बजाय किसी निर्देशक की कुशलता, सृजनात्मकता, रंग नैपुण्य को देखने जाते है।

पचास के बाद नाटक लिखकर नाटककार का कार्य पूरा नहीं होता है। प्रसाद युगीन नाटककार ऐसा समझते थे कि नाट्यलेख लिखना काफी है। पचास के बाद नाटक लिखकर तुरंत प्रकाशित करने के लिए नाटककार आतुर नहीं थे। पचासोत्तर नाटककार पहले नाटक लिखकर निर्देशक को सौंप देते है दो तीन प्रदर्शन के बाद जब नाटककार यह महसूस करता है कि अब नाटक में लगभग कोई दोष नहीं रह गया तभी वह उसे प्रकाशन के लिए देता है। ज्यादातर नाटककार रंगमंच से नाट्य लेखन के पूर्व से ही जुडे होने के कारण रंगकर्म की अच्छी जानकारी और अनुभव होता है।

नेमिचन्द्र जैन के अनुसार - ***" लिखे गये नाटकों के नये अर्थ उजागर करने के अलावा, नाटक लेखन पर निर्देशक का एक बडी सीधा और गहरा प्रभाव पडा है। पिछले दिनों ऐसा नाटक लिखने की प्रवृत्ति बढी है जिनमें निर्देशक को अपनी प्रतिभा तथा सूझ-बूझ दिखाने का ज्यादा अवसर हो, जिनमें वह कई प्रकार से शैली बद्धता के, विभिन्न नाटकीय रूढियों और व्यवहारों के, प्रयोग कर सके। इस दबाव के कारण, एक ओर तो प्रकृतवादी जकडन से मुक्त और अधिक निर्बन्ध नाटक लिखे गये है, जिनमें कल्पनाशीलता पर बल है, पारंपरिक पद्धतियों, विशेषकर संगीत का उपयोग किया गया है। मगर दूसरी ओर नाटक की रचना में सार्थक मानवी अनुभव के गहरे समावेश के बजाय ऊपरी दिखावटी दार्शनिकता तथा सूक्ष्म और जटिल शक्तिशाली मानवीय चरित्रों के बजाय इकहरे प्रतीक चरित्र रचे जाने की प्रवृत्ति बढी है। यानी नाटक में तरह तरह की शिल्पगत चमत्कारों और तकरीबों की भरमार होने लगी है जिसका लाभ निर्देशक को अधिक मिलता है।"***[78]

नाटक और रंगमंच एक दूसरे के पूरक है। दोनों के बीच के संवाद दाता की भूमिका निर्देशक निभाते है। साधारण रूप से जिस नाटक में निर्देशकीय संभवनाएँ नहीं होगी, तो वह नाटक रंगमंचीयता की कसौटी पर खरा नहीं उतर सकता। डॉ. लक्ष्मीनारायण लाल के शब्दों में - ***" वस्तुतः निर्देशक का उदय आधुनिक युग की देन है। विशेष कर वह उस काल और ऐतिकासिक सामाजिक अवस्था की उपज है जब हमारे जीवन से परंपरागत मूल्यों और आदर्श छिन्न-भिन्न होने शुरु हो गए। समाज में जब परस्पर संबंध, सामूहिक भाव निस्तेज होता तो चला गया और समाज विभिन्न वर्गों और व्यक्तियों में बैठता चला गया तो स्वभावतः रंगमंच क्षेत्र में किसी एक ऐसी शक्ति ऐसे व्यक्ति की आवश्यकता हुई जो नाटक और रंगमंच के विविध अंगों, पक्षों और तत्वों के बीच तादात्म्य स्थापित करा सके, उनके बीच संयोजन कर सके तथा नाटक और नाटककार के समूचे प्रदर्शन को एक निश्चित दिशा दे सके।"***[79]

पचास के बाद हिन्दी रंगमंच में निर्देशक की स्थिति में गुणात्मक रूप से बदलाव आया है रंगमंच के मूल तत्वों में निर्देशक भी एक अंग बन गये हैं। अलग अलग निर्देशक अपनी पसंद, रूचि के अनुसार एक ही नाटक को भिन्न भिन्न व्याख्याएँ, भिन्न भिन्न शैलियों में प्रस्तुत करते है। मोहन राकेश के नाटक आधे अधूरे को श्यामानंद जालान ओम शिवपुरी, सत्यदेव दुबे, राजिन्द्र नाथ और अमल अल्लाना ने इसके कथ्य के भिन्न भिन्न पक्षों पर बल देकर प्रस्तुत किये है।

'अंधायुग' नाटक को उत्तम रंग नाटक बनाने में सत्यदेव दुबे, इब्राहिम अल्काजी, अजितेश बनेर्जी, विजय चौहान, मोहन महिर्षी, सुनील कुमार मुखर्जी, दुलाल राय, सतीश आनंद, रवि वासवानी, एम.के रैना, रमेश उपाध्याय, गिरिश रास्तोगी, रामगोपाल बजाज आदि पचास से ज्यादा निर्देशक ने सहायता दिये है। - ***"भारतीय रंग कर्मियों में से सत्यदेव दुबे पहले व्यक्ति थे जिन्होंने अंधायुग की जीवंत, प्रभावपूर्ण तथा संवेदनशील नाट्य भाषा, इसके सार्थक संगीत और उत्तेजक कथ्य तथा भारतीय और पाश्चात्य रंगरूढियों से उद्‌भुत उसके मौलिक रंगमंच से अभिभूत होकर 1962 में मुम्बई में कम्बाला हिल स्थिति इब्रहिम अल्काजी के खुले टेरेस पर नवंबर के प्रथम सप्ताह से दिसंबर के प्रथम सप्ताह तक अंधायुग के बारह प्रदर्शन करने का अभूतपूर्व सहास दिखाया।"***[80]

राष्ट्रीय नाट्य विद्यालय तृतीय वर्ष के छात्रों द्वारा रामगोपाल बजाज के निर्देशन में 1992 को अंधायुग का प्रदर्शन हुआ। यह पूर्ववर्ती प्रस्तुतीकरणों से काफी अलग, नया और मौलिक सिद्ध हुआ। सत्यदेव दुबे ने अंधा युग की भाषा की संवेदनशीलता पर बल दिया तो इब्राहिम अल्काजी ने भव्यता, स्थापत्य और दृश्यत्व पर ज्यादा ध्यान लगाये हैं। संभवतः यही कारण है कि हिन्दी रंगजगत के लगातार सभी प्रतिभावान निर्देशक, नाट्य दलों ने इस नाटक पर आजमाइश करने की कोशिश की है। इस प्रयत्न में थोडे ही निर्देशक सफल हुए है।

अधुनिक नाट्य जगत में एक रोचक कथ्य और सुन्दर शिल्प के साथ निर्वाह करनेवाले नाटक 'आषाढ का एक दिन' है। अमानिका संस्था द्वारा इस नाटक बहुत चर्चित और उल्लेखनीय स्थिति पर पहुँच गई है। सत्य देव दुबे, मोहन राकाश, ओम शिवपुरी, बद्रीप्रसाद तिवारी, अमाल अल्लाना, रजिन्द्र नाथ, रामगोपाल बजाज, गिरीश रस्तोगी, सतीश आनंद, आदि निर्देशक इस नाटक को महत्वपूर्ण चरित्रता प्राप्त करते है। इनमें से कुछ ने इस नाटक को स्त्री प्रधान बनाये है तो कुछने पुरुष प्रधान।

'लहरों के राज हंस' रस आनंद और समाधिस्तता का नहीं द्वन्द्व तनाव और संशयग्रस्ततासे भरे हुए उद्वेग का नाटक है। श्यामानंद जालान, ओम शिवपुरी, राजिन्द्र नाथ, कीर्ती जैन, सत्य व्रत सिन्हा, गिरीश रस्तोगी, सतीश आनंद, फैजल अल्काजी आदि ने सफलता पूर्वक इस नाटक को मंचित किए हैं। लेकिन नंद की जटिल भूमिका और सफलता पूर्वक प्रस्तुत नहीं कर सके। इस नाटक के सफलता पूर्वक प्रदर्शन को दृष्टि में रखकर डॉ. गिरीश रस्तोगी इस प्रकार लिखते है कि - ***"A sizeable group amongest the audience could not swallow the presentation of the emotinal, intimate love sequences of nand and sundari nor the signiticant dramatic movements for makeup and the taking of alcohalic drinks by sundari. There reactions to such scences as the play progressed - were reflected in a rather vulgar, Uncivilized manner."***[81]

'आधे अधूरे' नाटक को श्यामानंद जालान, सत्य देव दुबे, ओम शिवपुरी, राजिन्द्र नाथ, और अमाल अल्लाना ने अच्छी शैली में खेले है। निर्देशक के प्रयोग शीलाता पर दृष्टि लगाकर नेमिचन्द्र जैन इस प्रकार लिखते हैं कि - ***".......हाल ही में आमाल अल्लाना ने कथ्य के अलग-अलग पक्षों पर जोर दे कर किया है। किसी में पुरुष का पक्ष अधिक दिखाई पडा है तो किसी में स्त्री का। किसी में वह एक विशेष परिवार के विशेष अनुभव के रूप में पेश हुआ है तो किसी में स्त्री पुरुष संबंधों की सामान्य नियति के रूप में। इसी तरह शैलीगत प्रयोगशीलता से भी इस नाटक का आस्वाद निर्देशक के साथ बदलता रहा है।"***[82]

भारतीय रंगमंच में ही नहीं संपूर्ण विश्व रंगमंच में ऐसे निर्देशक नहीं है, जिसने लगातार एक ही दिशा में, एक ही तरह का, एक ही नाट्य दल के साथ और अंततः एक ही अभिनेताओं से पचास साल तक रंगकर्म किया हो, वहीं हबीब तन्वीर हैं। रंगमंच के प्रति, यह काम के प्रति, लोगों के प्रति और संस्था के प्रति वहीं प्रतिबद्धता दिखाते हैं, जिससे संसार के चारों तरफ हबीब तन्वीर की रंग यात्रा का इतिहास फैला हुआ है। स्वयं अभिनेता होने के कारण 'अगरा बाजार' से लेकर 'बहादुर क्लारिन' तक हरेक प्रस्तुति में निर्देशक के रंगकर्म को बेहद सार्थक समकालीन एवं सशक्त बनाते हैं। उनके अनवरत रंगयात्रा के बारे में देवेन्द्र राजअंकुर का यह उद्धरण सही लगता है कि - ***"अपनी पीढी के दूसरे निर्देशकों की तरह हबीब तन्वीर की रंगयात्रा की शुरुआत भी पश्चिमी रंगमंच से साक्षात्कार एवं प्रशिक्षण के माध्यम से होती है। वह भारत के उन गिने-चुने निर्देशकों में से है, जिन्होंने पश्चमी और भारतीय नाट्य परंपराओं और रंग-शैलियों के पारंपरिक मेल-जोल से अपनी एक निजी शैली***

तैय्यार की और लगातार एक के बाद एक कई सुप्रसिद्ध और महत्वपूर्ण प्रस्तुतियाँ करके इस शैली को केवल भारत में ही नहीं, विदेश में उतना ही लोक प्रिय बनाया उनके रंग कर्म की शुरूआत भले ही हिन्दुस्थानी थिएटर के साथ हुई, जहाँ पहली बार उनका परिचय अपने देश की संस्कृत नाट्य परंपरा और पश्चिम के ब्रेक्त से हुआ लेकिन उनकी सही शुरूआत 'नया थिएटर' की स्थापना के साथ अपने लिखे नाटक 'अगरा बाजार' की प्रस्तुति के साथ होती है।" [83]

भीष्म साहनी के नाटक 'हानुश' को राजिन्द्र नाथ 'अभियान' की ओर से प्रस्तुत किया गया। 'कबिरा खडा बाजार में' एम. के. रैन के निर्देशन में प्रस्तुत करके निर्देशन में नये आयामों को खडा किया था। 'योर्स फेथफुली' को ब्रहमोहन शाह, 'बकरी' नाटक को कविता सहगल ने अच्छी तरह मंचित करने में सक्षम हुए हैं। जन नाट्य मंच द्वारा 'बकरी' नाटक जनजन तक पहुँची है। खासकर अनूदित नाटक जैसे 'तुगलक', 'घासीराम कोतवाल', 'हयवदन', 'खामोश अदालत जारी है', 'जुलूस' आदि को बी. वी. कारंत, गिरीश करनाड, एम. के. रैन, हबीब तन्वीर, इब्राहिम अल्काजी जैसे प्रसिद्ध रंग कर्मी ने नर्देशित किए है। पचासोत्तर निर्देशक नाटक अपनी गहराई की कमी अथवा अन्य कारण से निर्दशक ने अपने अर्थनिरूपन (Interpretation) में बर्बरता पर बल दिया जो क्रूर रोंगटे खडेकर देनेवले दृश्यों में दृश्य बंध वेश भूषा आदि अनेक तत्वों में प्रकट किया है। नाटक के लिखित रूप को अपने मंचानुसार बदल कर दर्शक तक पहुँचाना साठोत्तर निर्देशकों का एक लक्षण बन गया है। पचासोत्तर प्रस्तुतियों में मंच परिकल्पना या प्रदर्शन पूरा संयोजन कुशलता और मेहनत से किया गया जान पडता है।

मन्नू भंडारी के महाभोज, प्रेमचन्द के गोदान, श्रीलाल शुक्ल के राग दरबारी, जैसे उपन्यासों को नाटकों के रूप में रूपांतरित करके अच्छी तरह खेला गया है। नाटक का या निर्देशक महनगरीय या सामान्य शहरी जीवन के समाजिक और व्यक्तिगत संबंधों की खोज हलचलों से अपने रंग कार्य को जोडना चाहते हैं। पचासोत्तर निर्देशक ऊपर कहे गये रूपांतरों में निहित सामाजिक फलक, विशेष कर देहांतों या छोटे कस्बों का संदर्भ मौजूद है। इन रूपांतरों को दृष्टि में रखकर नेमिचन्द्र जैन इस प्रकार लिखते हैं कि - ***"...संभव द्वारा देवेन्द्र राज अंकुर के निर्देशन में प्रस्तुत महभोज में इस खतरे की छाया दीख पडी। प्रस्तुति में कोई दृश्य बंध नहीं था मंडली के दसों अभिनेता संयुक्त रूप से या अलग -अलग कथावाच का काम भी करते थे, और एकाधिक पात्रओं की भूमिका भी निभाते थे। पूरी प्रस्तुति में चाक्षुस तत्ववाले परदे के आगे अभिनेताओं के विभिन्न समूहन, गतिरचनाएं रंगचर्या तथा मुखाभिनय आदि ही थे। किन्तु कार्य व्यापार का ढांचा यथार्थवादी होने के***

कारण, और एक हद तक राजनैतिक विचारों और स्थितियों के विभिन्न पक्षों को पेश करने की जरूरत के कारण, पूरे प्रदर्शन में शाब्दिकता उभर अती थी और चाक्षुष तत्व गौण पडते हुए लगते थे।"[84]

नुक्कड नाटक रंगमंच को नकारकर पनपनेवाली एक नई विधा है। नुक्कड नाटक राजनीतिक आंदोलन से जुडी हुई बीज है। शुद्ध मनोरंज या धनोपार्जन केलिए यह नहीं हो सकता। इस का उद्धेश्य ऐसी बात कहना है जो दूसरे माध्यमों के सामने नहीं आती। 'आर्ट फॉर आर्ट सेक' को महत्व देनेवाले निर्देशकों में सफदर हाशमी, रमेश उपाद्याय, गुरुचरण सिंह, श्री सव्यचाची, डॉ. चन्देश अरुणा शर्मा, एम. के. रैन, मलयश्री आदि उल्लेखनीय है। साधारणतः नुक्कड नाटकों में निर्देशक अभिनय भी करता है। इस कारण से निर्देशक कोई बाहर व्यक्तक्ति जैसा नहीं दीखता, वह अंदर ही रहता है इससे नाटक और भी प्रभाव पूर्ण बन जाती है।

नाटककार और निर्देशक के बीच के कुछ विवादों को छोडने से दर्शकीय दृष्टिकोण से दोनों महत्वपूर्ण ही है। जो कल्पाना नाटककार के मन में उभरता है उसको एक रूप देकर दर्शक के मन में प्रतिष्टित करने के लिए निर्देशक प्रयत्न करता है। इस प्रयत्न में अनेक निर्देशक सफल भी हुए है। अनेक सृजनशील कलाकारों को तैय्यार करके हिन्दी रंगमंच को सुशोभित किया गया था। पचासोत्त्र रंगमंचीय उत्कृष्टताओं को दृष्टि में रखकर प्रसिद्ध रंगसंचालक नेमिचन्द्र जैन इस प्रकार लिखते है कि - ***" भारतीय रंगमंच का एक अपना अलग मुहावरा और अपनी खास पहचान पैदा करने के लिए जो कोशिश पिछ्ले दस-पंद्रह वर्षों में विशेष रूप से होती रहीं हैं, उनमें सबसे महत्वपूर्ण है देश के पारंपरिक तथा लोकनाट्यों का साक्षात्कार, अन्वेषण और रंगकर्म में उनका समावेश। देश की लगभग सभी भाषाओं में कहीं नाटककार, कहीं निर्देशक, कहीं अभिनेता, और कहीं सभी मिलकर, ऐसी रचनाएं करते रहें हैं जिन में पारंपरिक नाट्यों का किसी न किसी रूप में सहारा लिया गया है। इनमें से गिरीश का हयवदन विजय तेंदूलकर, का 'घासीराम कोतवाल', कई नाटकों से, और हबीब तन्वीर, बी,वी,कारंत, कावालम नारायण फणिक्कर, जब्बार पटेल, बन्सी कौल, विजया मेहता, रतन कुमार थियम, रामानुजम आदि अनेक निर्देशकों की अनेक प्रस्तुतियों से, भारतीय रंगमंच को अपनी पहचान की दिशा में बढने में बहुत सहयाता मिली है।"85***

4.2.6 नाटक की सामाजिकता के केन्द्र बिन्दु : दर्शक

नाटककार -निर्देशक - रंगकर्मी - अभिनेता - दर्शक इन में से एक कहीं भी कमजोर पडने पर नाटक असफल हो सकता है। दर्शक की सहभागिता ही नाटक, नाटककार, निर्देशक, अभिनेता को उत्तेजित करता है। नाटक के प्रेक्षक को भरत ने सामाजिक संज्ञा दी है। अर्थात नाट्य प्रेक्षक एक सामाजिक के रूप में, समूहबद्ध होकर रंगमंच में भगीदारी निभाता है। दर्शक जो कुछ देखता है, तत्काल उस पर प्रतिक्रिया करता है, उसे स्वीकारता है या नकारता है। रंगकर्मी का मूल उद्धेश्य दर्शक को मनोरंजन देना ही नहीं एक गहरी सोच भी देना है। दर्शक की विशिष्टता को परिप्रेक्ष्य में रखकर नेमिचन्द्र जैन इस प्रकार लिखते हैं कि - ***"दरअसल, यह रंगमंच का एक दिलचस्प अंतर्विरोध है कि दर्शक वर्ग नाट्य कला में रचना का अनिवार्य तत्व होकर भी प्रायः उससे स्वतंत्र है। कोई अभिनय प्रदर्शन न दर्शक वर्ग के बिना संभव नहीं - किसी भी कारण से दर्शक न जुट सकें तो खाली रंगशाला में नाटक नहीं हो सकता, फिर चाहे उसकी कितनी ही तैय्यरी क्यों न हो चुकी हो। नाट्य सृष्टि के लिए दर्शक-वर्ग का होना, निःसंदेह, सर्वदा अनिवार्य, मूल भूत और आत्यन्तिक है।"*** [86]

पश्चिम में भी दर्शक को पूर्ण रूप से नाट्यांग के रूप में ग्रहन किया गया जिस का प्रमाण अरस्तू के त्रासदी विषयी तत्वों में दृश्यता को एक तत्व के रूप में ग्रहण करने की भावना है, जो दर्शक को पूर्ण रूपेण अपनी अंक में समाहित किए थे। दर्शक ही रंगमंच का अनवरत अबाध सनातन माध्यम है जो कभी व्यक्त, कभी अव्यक्त रूप में रंगमचीय परंपरा के अबाध सनातन रूप की पृष्टि करता रहता है। इस सनातन सत्य का मूलाधार है दर्शक। उसका भावबोध एवं सौन्द्रर्य चेतना जो निरंतर सुन्दर के माध्यम से रस रंजना करता है।

किसी भी देश का या काल का दर्शक दो स्तरों अथवा श्रेणियों का हो सकता है -ग्रामीण तथा शिक्षित नाटक भी निरंतर इन दोनों ही प्रकार के दर्शकों को लेकर चलता है। ग्रामीण दर्शक लोक-नाट्य की अबाध परंपरा का अंग बनकर रंगरथ को निरंतर चलायमान रखता है और यही कारण है कि इस मंच का ह्रास नहीं होता। शिक्षित से तात्पर्य दर्शक की रुचि के अनुकूल रंग परिवर्तन भी आवश्यंभावी है। ग्रामीण और शिक्षित दर्शकों की रंगानुभव को दृष्टि में रख कर नेमिचन्द्र जैन इस प्रकार लिखते है कि - ***" जहाँ हमारे देहाती तथा देहांतों से अभी तक संबंद्ध शहरी जन समुदाय का रंग बोध और जीवन-बोध अत्यधिक सरल, पारंपरिक और सतही है, वहाँ इस समुदाय का रंगबोध विदेशी, फैशनपरस्त, आडंबर पूर्ण और खोखला है।***

इसकी हिन्दी या भारतीय रंगमंच और उसके विकास में कोई रुची नहीं है। पर यह आज भी हमारे समाज का सब से प्रभावशाली वर्ग है, जो हमारे सामाजिक जीवन-व्यावहार के मानक बनाता है। उसका ढोंग और आडंबर और खोखलापन हमारे जीवन के हर पक्ष को प्रभावित कर रहा है, जिसका हमारे सास्कृतिक, कलात्मक जीवन और मूल्यों पर व्यापक और नियामक प्रभाव पडता है।"[87]

1970 के आस पास से यह महसूस किया जाने लगा कि रंगमंच रंगशाला नहीं और नाटक को रंगमंच से नहीं, रंगशाला का दीवारों से आजाद कराया जाना है। यह आजादी दो अर्थों में, प्रथम तो यह है कि नाटक केवल रंगशाला की ही बंधी हुई वस्तु न हो और दूसरे यह कि कुछ चुने हुए दर्शक ही नाटक के दर्शक न हो। नाटक अपना कलेवर बदलकर दर्शकों को अपने पास बुलाने के बजाय उनके पास स्वयं जाने का प्रयत्न किया गया। यह प्रयत्न सफल भी हुआ है। चन्देश के शब्दों में - ***" अब तक नाटकों में नायकों या पात्रों या व्यक्तियों की मुख्यतया रहीं थी। ठीक उसके विपरीत नुक्कड नाटकों में 'समूह' उभता, उमडता नजरआता है, जिसमें व्यक्ति गौण है।"***[88]

पचासोत्तर रंगमंच को जागरूक दर्शक की सहभागिता मिली है। वास्तव में पचास के बाद के हिन्दी नाटकों पर यदि हम नजर डालें तो उनमें हमें अनेक नूतन प्रयोग दिखाई पडते हैं, वस्तुतः वे सब नाटककारों की दर्शकीय चेतना का ही विस्तार है। आज के मनुष्य अपने को रंगमंच पर खडा करके महसूश करना चाहते हैं। इसलिए हिन्दी नाटकों के लिए दर्शकों की कमी नहीं होती। आधुनिक पद्य नाटक अंधायुग संवेदनशील नाटक है। इस नाटक को दर्शकों की कमी कभी नहीं हुई। इस नाटक की दर्शकीय प्रतिक्रिया को ध्यान में रखकर डॉ. जयदेव तनेजा इस प्रकार लिखते है कि - ***".... इस प्रस्तुति में अन्य रंग तत्वों की अपेक्षा काव्यात्मक नाटकीयता संपन्न रंग-संभाषण का सम्मोहक प्रभाव सभी दर्शकों ने अनुभव किया। मध्यवर्ग और उच्च मध्यवर्ग के सुशिक्षित और सुसंस्कृत लगभग 1200 दर्शकों ने इसे देखा और सराहा। इसे तीन चार बार देखने वालों में प्रसिद्ध नाटककार स्वर्गीय मोहन राकेश भी थे जिन्होंने लगभग नौ-दस वर्ष के बाद इस प्रस्तुति के याद कर गद्‌गद भाव से स्वीकार कियी था कि satya dubey's production of Andhayug was the best one has ever seen anywhere."***[89]

1976 में शामानंद जालान के निर्देशन में 'अनामिका' द्वारा प्रस्तुत किया गया प्रस्तुती को कलकत्ता के लगभग 2000 नाट्य प्रेमियों ने 1960 में नवल किशोर प्रसाद सिंह के निर्देशन में खेला गया नाटक में ***"दर्शकों की उपस्थिती लगभग 6000***

थी। साहित्यिक अभिरुचि के नाट्य प्रेमियों द्वारा विशेष रूप से प्रशंसित यह प्रदर्शन अपने समय की बहु चर्चित प्रस्तुति था।"[90]

मोहन राकेश के आधेअधूरे नाटक निस्संदेह हिंदी का पहला नाटक है जिसने रंगमंच का एक बडा और गंभीर दर्शक वर्ग को तैय्यार किया और हिंदी में तो सर्वाधिक खेला ही गया, अन्य भाषाओं में अनूदित होकर प्रदर्शित होने वाले हिंदी नाटकों में शायद प्रथम स्थान का अधिकारी है। सुप्रसिद्ध अभिनेता-निर्देशक सत्यदेव दुबे का 1972 में दिया गया यह वक्तव्य आज भी सच और प्रसंगिक है कि - ***"Till date Adhe-Adoore is the most successful amongest the plays produced in Hindi anywhere in India."[91]***

हबीब तन्वीर के नाटक भारतीय नाटकों की बेदह ताजा एवं नई व्याख्या और प्रस्तुति शैली की जमान तैय्यार कर दी, जो बाहर से देखने पर निहायत अनगढ लगती है, लेकिन भीतर तक अपना असर छोडती। हबीब तनवीर के नाटक के अभिनेता ग्राणीन लोग है दर्शक शहरी है। लोक नाटक के तत्वों को लकेर शहरी मंच पर मनोरंजन तथा उसके माध्यम से शिक्षा देने का काम हबीब तन्वीर अच्छी तरह करते हैं। 'चरणदास चोर' 'बहादुर क्लारिन', 'आगरा बाजार', 'हिरमा की अमर कहानी', 'मिट्टी की गाडी' आदि नाटकों के दर्शक सचेत और आधुनिक हैं। दर्शक के ऊपर हबीब तन्वीर को ज्यादा उम्मीदें हैं। - ***"साधारणतया अपनी सारी प्रसतिष्ठा को दाँव पर लगा बैठता है और दर्शकों के सामने कुछ भी परोस देता है और आशा करता है कि वे उसे स्वीकीर कर लेंगे।"[92]***

स्त्री पुरुष संबंधों को मंच पर दिखाया जाना कभी अश्लील समझा जाता था लेकिन पचासोत्तर की स्थिति इसके विपरीत है। 'सूर्य की अंतिम किरण से सूर्य की पहली किरण तक', 'द्रौपदी', 'आठवाँ सर्ग', आदि नाटकों में अनेक संवाद सामूहिक रूप में देखनेवाले दर्शक को कुछ तकलीफ पहुँचा देती है। लेकिन साठ और अस्सी के बीच इसी प्रवृत्ति को लोक रुचि का महत्व दिया गया है। - ***"साहित्य की अन्य गद्यविधाएँ, जो पढी जाती हैं उनमें मर्यादा विहीन काम संबंधों का चित्रण उतना बेतुका और अटपटा महसूस नहीं होता, यद्यपि वह अश्लील होता है किन्तु नाटक में दृश्य रूप में काम संबंधों और यौन भावनाओं का खुला प्रदर्शन निश्चय ही अश्लील लगता है क्योंकि नाटक दृश्य विधा है और इस में संवाद तथा अभिनय दोनों के द्वारा अश्लीलता का संप्रेषण होता है, जिसका दर्शक प्रत्यक्ष साक्षात्कार करते हैं।"[93]***

पचासोत्तर नाटक की प्रस्तुति में दर्शक संपूर्ण प्रस्तुति का सहभागी होती ही है। किन्तु नाटकीय शिल्प में भी दर्शक की सहभागिता बढाने के लिए अभिनय प्रयोग किए गए। 'बकरी' नाटक में अधिकांश पात्र दर्शकों में से उठकर मंच पर जाते है। इससे बढकर 'सिंहासन खाली है', नाटक में सूत्रधार दर्शकों को संबोधित करता है - ***" अमंत्रित सज्जानो। मुझे एक सुपात्र की तलाश है। सुपात्र, जो इस सिंहासन पर बैठ सके।"***[94] नाटक की प्रस्तुति में दर्शकों की सहभागिता बढाने के लिए अनेक मंचीय प्रयोग भी हुए है।

लेकिन इन प्रयोग प्रेक्षागृह के अंदर होते थे लेकिन नुक्कड नाटक के रूप में नाटक को प्रेक्षागृह से बाहर निकालकर दर्शकों के बीच ले जाया गया। नुक्कड नाटक का यह प्रयोग बहुत लोक प्रिय भी हुआ और दर्शकों की सीधी भागीधारी भी होने लगी। नुक्कड नाटक जन साधारण के बीच से निकली हुई जनसाधारण की ही आवाज है। कलाकार और दर्शक की भूमिका यहाँ अलग-अलग नहीं रहती। दोनों एक दूसरे के बहुत निकट आ जाते हैं। परंपरागत रंगमंच अभिनेता और दर्शक को अलग-अलग क्षेत्रों में रखता है, वहाँ पर दर्शक अभिनेय को ग्रहण करता है, जब कि नुक्कड नाटक के स्वभाव का ही हिस्सा है। इस विधा की लोक प्रियता को दृष्टि में रखकर सफदर हाशमी ने इस प्रकार लिखा है कि - ***" अक्तूबर 1978 में जनम ने नुक्कड नाटक खेलता शुरु किया। तब से हम 16 नाटकों के 3000 से ज्यादा शो कर चुके हैं, जिन्हें लगभग 20 लाख दर्शकों ने देखा है।"***[95]

गिरीश करनाड का 'हयवदन', 'तुगलक', विजय तेंदूलकर का 'घासी राम कोतवाल', भीष्म साहनी का 'हानुश', नाटकों से दर्शकों पर विशेषगत प्रभाव पडा है। सत्तर के बाद के दर्शक केवल मनोरंजन ही नहीं गहरी सोच तथा अपनी जोरदार आवाज मंच से प्राप्त करना चाहते हैं। विशिष्ट स्तर के लोक नाट्य शैलियों को नाटक द्वारा प्राप्त करने के लिए दर्शक उत्सुक है।

लेकिन अस्सी के बाद से हिन्दी में नाटक, नाटककार, अभिनेता, निर्देशक और मंडलियों की संख्या में भारी बढोत्तरी के बावजूद, दर्शकों की कमी कमोबेश बनी ही हुई है। हफ्तों या महीनों जी तोड मेहनत से तैय्यार नाटक को देखने दो चार सौ या अधिक से अधिक हजार-पन्द्रह सौ ज्यादा दर्शक भी मैजीद नहीं होते। कभी कभी पहले प्रदर्शन के बाद दूसरे प्रदर्शन तक दर्शक की समख्या कम होते लगती है। यह स्थिति दो दशकों से आज भी है। यह बड़ी चिंता जनक विषय बन गई है।

निष्कर्ष

नाटक लिखना, मंच पर लाना और उसे देखना अर्थात नाटककार, निर्देशक और दर्शक तीनों के मेल मिलाप से ही नाट्यकला का विकास होता है। नाटककार जो भी लिख सकताहै लेकिन निर्देशक दर्शकीय क्षमता को दृष्टि में रखकर चलना पडता है। प्रस्तुतीकरण की प्रक्रिया में रंगमंच की विधा और प्रयोगशीलता के अनुसार नाटक के बाहरी ढांचे में परिवर्तन आनिवार्य होते है तथा नाटककार को इन परिवर्तनों को स्वीकार करना पडता है।

नाटक लिखने के बाद दर्शकों तक पहुँचने से पहले नाटक को कई पडावों से गुजरना पडता है। नाटक लिखने की प्रक्रिया में ही रंगकर्मियों का सहयोग, सामूहिक पाठ, रिहर्सल के दौरान उसमें परिवर्तन, और उसका मंचन, मंचन के बाद उसमें सुधार और तब उसका प्रकाशन। मोहन राकेश से लेकर आज के नाटककार तक के सभी समर्थ नाटककारों के रंगमंचीय नाटक इन पडावों से गुजरने का संकेत देकर हमारी इस बात की पुष्टि करते है कि नाटक को लिखे जाने के बाद प्रकाशन तक पहुँचने से पूर्व इस प्रक्रिया से अवश्य गुजरना चाहिए।

साहित्य की हर विधा परिवर्तन की प्रक्रिया को अपनी सामर्थ्य के अनुसार ग्रहण करती है, और परिवर्तन की प्रक्रिया द्वारा अपनी भूमिका निभाती है। रंगमंच नाटक,संगीत, नृत्य आदि द्वारा अपनी प्रतिक्रिया को अभिव्यक्त करता है। रंगमंच दृश्यत्व को लेकर चलता है, इसलिए उसकी अभिव्यक्ति जन जीवन को जल्दी आकृष्ट करती है और उसका प्रभाव भी दर्शकों पर अधिक गहरा पडता है। रंगमंच में सामाजिकता की भावना अधिक क्रियाशील रहती है।

पचास के आगे हिन्दी में केवल छिटपुट रंगमंडलियाँ ही थी, उनके पास न साधन थे, न समझ। नाटक लिखने के लिए कोई प्रेरणा ही नहीं मिलती थी लेखक के सृजनात्मक व्यक्तित्व का नाट्यानुभूति से, उसके विशिष्ट रंगमंचीय आयाम में, कोई साक्षात्कार ही न हो सकता था। शौकिया अभिनेताओं और निर्देशकों द्वारा प्रायः अच्छे से अच्छे नाटक की हत्या होती रहती थी। इस संदर्भ में डॉ. नेमिचन्द्र जैन इस प्रकार लिखते है कि - ***"वास्तव में श्रेष्ठ नाटकों के अभाव की समस्या और भी गहरी तथा उसकी जडें उलझी हुई है, और उनके सूत्र नाटक की रचना प्रक्रिया में ही खोजना उचित है। साहित्यिक अभिव्यक्ति की एक विधाके रूप में अनुभूति और शिल्प दोनों की स्तरों पर, सामान्य साहित्य के साथ उसकी सामानताएँ और अलग विशिष्टताएँ दोनों ही महत्वपूर्ण है।"***[96]

पचास के बाद के नाटक और रंगमंच का आपस में गहरा संबंध जुड गया है। पचास के बाद के नाटककार यह स्वीकार करने लगे है कि रंगमंच नाटक की कसौटी है। नाटक की अनिवार्यता और सार्थकता अभिनीत होने में है।। धर्मवीर भारती के 'अन्धा युग' के कारण भारतीय रंगजगत में हिन्दी रंगमंच का दर्जा एकाएक बहुत ऊँचा उठ गया। राकेश के तीन नाटक हिन्दी रंगांदोलन के दृष्टि से अन्यतम उपलब्धि है। आधे - अधूरे का कथ्य सीधे आज के व्यक्ति की मानसिकता से जुडा है। हम निश्चिय से यह कह सकते हैं कि मोहन राकेश के नाटक रंगमंचीय संभावनाओं को और भी विकसित करते है। सुरेन्द्र वर्मा के नाटक 'सूर्य की अंतिम किरण से सूर्य की पहली किरण तक', 'द्रौपदी', 'आठवाँ सर्ग' आधुनिक जीवन की समकालीन वैयक्तिक समस्याओं और सामाजिक उलझावों को अभिव्यक्त करते है।

हबीब तन्वीर के नया थिएटर समकालीन रंगमंच को लोक नाट्य शैलियों से ओत प्रोत करता है। जीवन उन विविध स्थितियोंसे संबंधित है जिन्हें दृश्य काव्य के माध्यम से हम हबीब तन्वीर के मंच पर देख सकते है। हबीब तन्वीर के नाटकों में एक अंतर स्पष्ट रूप से दिखाई देता है और वह है सामूहिकता का। इसी विषय पर बल देकर सनत कुमार लिखते है कि - ***"लोक शैली के नाटकों में अनेक बार जन-समूह, समूह चेतना, सामूहिक संघर्ष के दृश्य दिखलाई देते है। यह सामूहिकता बोध निश्चय ही लोक नाट्य के कथ्य तथा रचना शैली के कारण हिन्दी नाटकों में आया है। उसका दूसरा कारण नाटकों की विषय-वस्तु का जनवादी होना भी रहा होगा। सर्वाधिक उल्लेखनीय तथ्य यह है कि समकालीन हिन्दी नाटककारों का एक वर्ग जीवन से जुडने की चिंता में ही लोकनाट्यों की ओर गया, और लोक नाट्यों से उसने मात्र लोक-शैली ही नहीं लोक मानस भी प्राप्त किया।"***[97]

'घासीराम कोतवाल', 'हयवदन', 'जुलूस', 'तुगलक' आदि नाटक हिन्दी में विभिन्न केन्द्र में अलग-अलग मंडलियों और निर्देशकों द्वारा इस सौ स ज्यादा प्रस्तुतियाँ हो चुकी हैं। पचासोत्तर मंच की परिवर्तन स्पष्ट है, दिल्ली का हिन्दी रंगमंच देश विदेश की श्रेष्ठतम नाट्य कृतियों के रंगानुभव का माध्यम बनता जा रहा है। इससे हिन्दी रंगमंच पर खेलने के लिए उपलब्ध नाटकों की संख्या भी बहुत बढी है, और उसके कारण, बडी चुनौती को स्वीकार करने के फलस्वरूप उसकी शक्ति और क्षमता भी बढी है, उसका सामान्य स्तर भी ऊँपर उठा है।

आकर्षक रूप में दृश्यों को पेश करने में पचासोत्तर नाटक सफल हुआ है। उसी तरह दृश्यबंध के अनुकूल अभिनय करने में भी उसके तहत रंगसज्जा जैसे ध्वनि, प्रकाश, संगीत आदि कलाओं से रंगमंच को सुशोभित किया गया है। इस काल

में मंच और रूप सज्जा पारंपरिकता से हटकर प्रतीकात्मक की ओर उन्मुख हुई। पचासोत्तर रंगमंच ने प्रयोग के नये नये रूप ग्रहण किए। मंच को अनावश्यक तडक-भडक से हटाकर, अभिनय और कर्म व्यापार से जोडा गया। नाटकों की भाषा पूरी तरह व्यवहार की रखी गयी।मंच को सहज बनाने केलिए प्रयत्न किया गया है इससे अभिनेता और दर्शक के बीच के दूरी भी कम हुई इस संदर्भ में प्रो. हिरेन मुकर्जी के शब्दों में आधुनिक नाटक सामान्य से सामान्य की जीवनानुभव को व्यक्त करने में सक्षम हुई है। जैसे - ***"We here are concerned primarily with the drama, Which we must confess, has durinng the last half-century and more in our country, touched some of the lowest depths of degeneration."***[98]

नुक्कड नाटक का आगमन के बाद नाटक दर्शक के पास जाने की प्रक्रिया शुरू हो गई है। अनेक रंगकर्मियों ने प्रतिबद्धता के साथ इस नाट्य विधा को साथ लेकर हिंदी रंगमंच को एक नई दिशा दिखाने का प्रयास किये है। समाज को परिवर्तन करने के मुख्य लक्ष्य को लेकर सफदर हाश्मी जैसे रंगकर्मी ने अपने प्राणों का न्योछावर भी किया।

पचासोत्तर जीवनानुभवों को स्पष्ट रूप से परिलक्षित करने में आधुनिक रंगमंच की विशेष योगदान है। बंध कमरे के लेखन से मुक्ति, सामाजिक यथार्थ का अंतरंग पहचान और परिवर्तन की कामना, दर्शकीय चेतना का विकास तथा नाट्य प्रस्तुतियों में शारीरिक उपस्थिति आदि पचासोत्तर रंगमंच के परिवर्तन के विविध आयाम है। रंग प्रक्रिया में उपस्थित होने वाले अनेक उलझनों को झेलकर रंगमंच गतिमान हैं। जो दृष्टि मैंने इन विषयों पर लगाया वह मुझे रंगमंच के प्रति विस्तार 'विजन' को प्राप्त करने में सक्षम हुई है।

लेकिन जो निष्ठा पचास के आस-पास में रंगमंचीयता पर दिखाया गया है उसमें अस्सी के बाद उपेक्षित दृष्टि लगाया गया है। रंगमंचीय कलाकारों की अभाव बना हुआ है। जो प्लाटफार्म मोहन राकेश के समय में तैय्यार की गयी है वह प्लाटफार्म आज ढल गयी है। लेकिन परिवर्तन समाज और एक सशक्त आंदोलन के लिए मंच राह देख रही है और उसके साथ जनता भी।

संदर्भ सूची

1. साठोत्तरी हिंदी नाटकों का रंगमंचीय अध्ययन - राकेश वत्स - पृ - 13
2.रंगमंच काला और दृष्टि - गोविन्द चातक - पृ - 23-24
3.नाटक और रंगमंच - सीताराम झा श्याम - पृ - 165
4.नाटक और रंगमंच - सीताराम झा श्याम - पृ - 166
5.रंगमंच और नाटक की भूमिका - लक्ष्मीनारायण लाल - पृ - 16
6.हिन्दी साहित्य कोश - पृ- 436
7. Encyclopedia of America - volume - 26 - pg -491
8 Encyclopedia of britanica - volume - 22 - pg - 28
9 काव्य कला और अन्य निबंध - जयशंकर प्रसाद - पृ -62
10. साहित्यिक और सांस्कृतिक दृष्टि - मोहन राकेश - पृ- 84
11. रंगदर्शन - नेमिचन्द्र जैन - पृ -21
12.नुक्कडनाटक - चंदेश - पृ -13
13.भाषा-रजत जयंति विशेषांक - 1985 मार्च-जून -प्रताप सहगल - पृ-38 14आज के रंग नाटक (टूटे आयने के प्रतिबिंब :इब्रहीम अल्काजी)पृ-11
15, अषाढ का एक दिन (भूमिका से)
16.रंगमंच : कला और दृष्टि - गौविन्द चातक - पृ -50
17.नटरंग - वीरेन्द्र मेहंदी रत्ता - अंक - 32- पृ 64
18. अधायुग - भारती - पृ- 135
19.पश्यंती - धर्मवीर भारती - पृ- 21
20. अधायुग पाठ और प्रदर्शन - डॉ. जयदेव तनेजा - पृ- 165
21 1972 दिसंबर -संयजित शोक सभा में व्यक्त डॉ. नामवंर सिंह की वक्तव्य से
22 अषाढ का एक दिन - मोहन राकेश - पृ -13-14
23.नटरंग : वर्ष 1;अंक : 2 पृ-10
24. Enact : 75-76 - mar,aprl - 1973(Rakesh Fastival pual jacob)
25.Hindustan Times - main stream : Habib Tanwir
26.मोहन राकेश : रंगशिल्प और प्रदर्शन-जयदेव तनेजा - पृ 201
27.आधे अधूरे - मोहन राकेश - (निर्देशक वक्तव्य से) पृ - 7
28. मोहन राकेश : रंगशिल्प और प्रदर्शन - पृ 268
29.Enact : 67: may 1972
30. सुरेन्द्र वर्मा के नाटकों में रंगमंचीयता - देवेन्द्रकुमार गुप्ता - पृ 51
31.नटरंग - अंक - 38-39 - पृ 33
32. द्रौपदी - सुरेन्द्र वर्मा - पृ- 5
33.सूर्य की अंतिम किरण से सूर्य की पहली किरण तक - सु, व पृ 13
34.सूर्य की अंतिम किरण से सूर्य की पहली किरण तक - सु, व पृ- 9

35.नटरंग - अंक -2 पृ -46
36.नटरंग - अंक -1, 1965 - पृ - 12
37.समकालीन हिन्दी नाटककार - गिरीश रस्तोगी - पृ 221
38. साठोत्तर हिन्दी नाटक - लवकुमार लवलीन - पृ - 59
39.बकरी - नाटककार की वक्तव्य से - प-10
40.मधुमति - अक्तूबर - 2001 - पृ- 40
41 कबिरा खडा बाजार में - भीष्म साहनी - पृ- 15
42 करफ्यू - डॉ. लक्ष्मीनारायण लाल - पृ- 11
43.घासीराम कोतवाल - विजय तेन्दूलकर - पृ- 11
44 तुगलक - गिरीश करनाड (निर्देशक का वक्तव्य) पृ- 9
45.हिन्दी रंग कर्म दशा और दिशा - डॉ. जयदेव तनेजा - पृ- 144
46 रंगदर्शन - नेमिचन्द्र जैन - पृ- 68
47 नटरंग - 1983 - खण्ड -11, अंक -41 पृ-92
48.अंधायुग :पाठ और प्रदर्शन - पृ - 25
49 साठोत्तरी हिन्दी नाटकों का रंगमंचीय अध्ययन -राकेश वत्स - पृ- 213
50..Enact : may 1977(Directing Andhayug)
51 लहरों के राज हंस : नाटक का एक परिवर्तित रूप - पृ -34
52राष्ट्रीय नाट्य विद्यालय द्वारा प्रस्तुत लहरों के राज हंस के परिचय पत्र से प्रकाशित लेखक का वक्तव्य से उदृत
53. मोहन राकेश : रंग शिल्प और प्रदर्शन - डॉ. जयदेव तनेजा - पृ-247
54सूर्य की अंतिम किरण से सूर्य की पहली किरण तक - सुरेन्द्र वर्मा - प-8,9
55 रंग प्रसंग -जानवरी -जून 1999 - पृ 109
56. तीसरा पाठ - नेमिचन्द्र जैन - पृ- 207-208
57. करफ्यू - लक्ष्मीनारायण लाल - (नाटककार की डायरी से उदृत वक्तव्य से) -पृ- 11
58. तीसरा पाठ - नेमिचन्द्र जैन - पृ-209-210
59.नटरंग - 46- पृ- 40
60.हिन्दी नाटक : रंगशिल्प दर्शक - विकल गौतम - पृ- 24
61. अधायुग पाठ और प्रदर्शन - डॉ. जयदेव तनेजा - पृ- 27

62.हिन्दी नाटक : रंगशिल्प दर्शक - विकल गौतम - पृ- 39
63. लहरों के राज हंस - मोहन राकेश - पृ- 63
63 (B).आधे अधूरे - राकेश - पृ- 95
64 सुरेन्द्र वर्मा के नाटकों में रंगमंचीयता - देवेन्द्र कुमार गुप्ता - पृ- 76
65 समकालीन हिन्दी नाटककार - गिरीश रस्तोगी - पृ-66
66. नटरंग - अंक -32 - पृ-45

67. नटरंग - अंक -32 - पृ- 32
68.रंगदर्शन - नेमिचन्द्र जैन - पृ- 67
69.मोहन राकेश और साहित्यिक और सांस्कृतिक दृष्टि - पृ- 91
70. आषाढ़ का एक दिन - पृ - 116
71. मोहन राकेश : रंगशिल्प और प्रदर्शन - डॉ. जयदेव तनेजा - पृ- 66
72 आधे अधूरे के काठमंडू के समय प्रकाशित स्मारिका में छपे निर्देशकीय से उदृत
73. द्रोपदी - सुरेन्द्र वर्मा - पृ- 18
74. नटरंग - अंक 32 - पृ- 50
75 नटरंग - अंक 1 - 1965 - पृ-13
76चौक चौक पर गली गली में - जनम - पृ-116
77.आधुनिक हिन्दी नाटक - सुरेश चन्द्र शुक्ल - पृ-218
78.रंगदर्शन - नेमिचन्द्र जैन - पृ- 63
79. रंगमंच देखना और जानना - डॉ. लक्ष्मीनारायण लाल - पृ- 60
80अधायुग : पाठ और प्रदर्शन - पृ- 124
81.Enact : 73-74 jan-feb 1973- G. Rastogi
82.दृश्य -अदृश्य - नेमिचन्द्र जैन - पृ- 115
83 रंगप्रसंग - जनवरी-जून -1999 - पृ- 112
84.तीसरा पाठ - नेमिचन्द्र जैन - पृ- 78
85. दिनमान - 19 जनवरी 1984
86 रंग दर्शन - नेमिचन्द्र जैन - पृ- 81
87.रंग दर्शन - नेमिचन्द्र जैन - पृ- 85-86
88नुक्कड नाटक (भूमिका से) चन्देश - पृ- 11
89. अधायुग : पाठ और प्रदर्शन - जयदेव तनेजा - पृ- 125
90. मोहनराकेश :रंगशिल्प और प्रदर्शन - जयदेव तनेजा - पृ- 89
91Times weekly : Dec -10, 1972 (Death of a militant writer : Satya Dev
92रंग प्रसंग - जनवरी-जून -1999 - पृ- 118
93.साठोत्तर हिन्दी नाटककार - डॉ. लवकुमार लवलीन - पृ- 28
94 सिंहासन खाली है - सुशील कुमार सिंह - पृ- 9
95 सफदर - जनम - पृ- 66
96.रंगदर्शन - नेमिचन्द्र जैन - पृ- 35
97 समकालीन हिन्दी नाटक और रंगमंच - सनत कुमार - पृ- 26
98.Peoples Art in the twentieth centrury - Janam - pg -375

पंचम अध्याय

5.हिंदी नाटक :परिवर्तन के आयाम : शिल्प

5.1 मानव हृदय के रहस्यों का आविष्कार : नाट्य भाषा

5.1.1 जीवन की सार्थक अभिव्यक्ति : लोक मानस भाषा

5.1.2 नाटक की सफलता : पात्रानुकूल भाषा

5.2 नाटक की सार्थक कुंजी : संवाद योजना

5.3 प्रभावोत्पादकता की सक्रिय चेष्टा :शब्द योजना

5.4 सृजनात्मक ऊर्जा के संवाहक : प्रतीक

5.5 लेखकीय अनुभवों का मानदंड : बिंब विधान

5.6 नाटक का प्राण तत्व : गीत

निष्कर्ष

5.हिंदी नाटक : परिवर्तन के आयाम: शिल्प

समय और स्थिति के अनुसार प्रवृत्तियों में परिवर्तन होता है। समाज की प्रवृत्ति के अनुसार या जनता की चित्तवृत्तियों के कारण भी साहित्यक मान्यताएँ बदलती रहती है। परिवर्तन की अभिव्यक्ति समाज को सोचने के लिए प्रेरित करती है और उस परिवर्तन से समाज को दिशा दृष्टि मिलती है। पचासोत्तर नाटकों के कथ्य में ही नहीं, शिल्प में भी अनेक परिवर्तन उद्‌घाटित होते है। पचासोत्तर नाटककारों ने नाट्य लेखन के प्रति एक गंभीर उत्तरदायित्व और रंग दृष्टि की पहचान के सूत्र का सफल चित्रीकरण किये हैं।

इस युग के नाटककारों का नाटक, नाटकीय और रंगमंचीय बनते हुए रंगमंच की तलाश का भी है। उनकी रंगनिष्ठा का सबसे बडा प्रमाण यह है कि उन्होंने अपने नाटकों में न केवल रंग निर्देश दिये है अपितु रंगमंच के आकार प्रकार तथा दृश्यों के अभिकल्पन को विकसित किये हैं। 'अंधायुग'नाटक का प्रयोग धर्मी चेतना को दृष्टि में रखते हुए श्रीनरनारायणराय लिखते हैं कि - ***"एक समर्थ कृति के रूप में यह काव्य नाटक वर्तमान से प्रेरणा और आधार ग्रहण करता है, अपनी रंगमंचीय विरासत को व्यंजित करता है और इससे भी आगे बढकर भविष्य की परंपरा की नींव रखता है।"***[1]

पचास के पूर्व नाटक लिखने से नाटककार का काम खतम होता था। लेकिन पचासोत्तर नाटककारों का काम केवल नाटक लिखना ही नहीं । कथ्य के साथ शिल्प का भी संपूर्ण जीवनानुभवों को पारकर जाना पडता है।कालगत दृष्टि से नाटकों में अभिव्क्ति का संप्रेषण एक सुव्यवस्थित एवं सुनियोजन पद्धति की अपेक्षा रखता है। पचास के बाद नाटक को यदि जीवन की अभिव्यक्ति का सश्क्त जीवन का माध्यम माना जाता है तो केवल इसलिए कि वह दर्शकों तक पहुँचता है। इसलिए आज केवल नाटक लिख देना ही काफी नहीं माना जाता है। नाटक में प्रेक्षक रंजन की क्षमता एक अनिवार्य शर्त के रूप में स्वीकार की जाने लगी है।

पचास पूर्व नाटककारों के नाटक साहित्य कला और पठन - पाठन की प्रवृत्ति के साथ-साथ रंगमंचीय अभाव में कृत्रिम जान पडते हैं। प्रसाद की नाटकों के संबंध में रंगमंच विषयक धारणा ने रंगमंच के विकास में योगदान की अपेक्षा अवरोध ही पैदा किया है। जयशंकर प्रसाद ने फारसी थियेटर एवं भारतेंदू युगीन नाटकों का सम्यक परीक्षण कर नाट्य कृति के क्षेत्र में साहित्यिक क्षेत्र एवं कलात्मक दृष्टि प्रदान की, परंतु नाटक में मूल पक्ष को भूल दिया। फल स्वरूप नाटक और रंगमंच की दिशा

भिन्न हो गई। प्रसादोत्तर हिंदी नाटक रंगमंच विहीन होकर अपनी दिशा में अग्रसर हुआ। नाटक पुस्तकीय स्तर पर उपलब्धि होते हैं लेकिन मूल प्रदर्शन का भाव इन में नही के बराबर है। यही कारण है कि प्रसादोत्तर काल के इस नाट्य साहित्य में जीवन की अभिव्यक्ति अवश्य हुई परंतु प्रदर्शन संभव नहीं हो पाया।

साहित्यिक संवेदना के साथ मंच के उपयुक्त नाटक लिखने के लिए आधुनिक नाटककार ने महत्वपूर्न योदगान दिए है। मोहन राकोश, सुरेन्द्र वर्मा, सर्वेश्वर दयाल सक्सेना, मुद्राराक्षस आदि अपने नाटकों में सामान्य जन भाषा के साथ मंच को अपने कथ्यगत गहराई के साथ आगे बढाया है। हिन्दी रंगमंच ने अपने अस्तित्व-बोध के साथ पहली बार नाटककार और निर्देशक के सह अस्तित्व, संबंध और परंपरा संवाद-स्थिति और दोनों की स्वतंत्रता को उजागर किया। हिन्दी रंगमंच ने हमें कई श्रेष्ठ निर्देशक दिए-हबीब तन्वीर, बी.वी. कारंत, मोहन महर्षी, एम. के. रैना, कविता नागपाल, प्रसान्ना, रंजित कपूर, देवेन्द्र राज अंकुर आदि। 'अंधायुग', 'लहरों के राज हंस', 'आषाढ का एक दिन', 'आधे अधूरे', 'द्रौपदी', 'सूर्य की पहली किरण से सूर्य की अंतिम किरण तक', 'सिंहासन खाली है', 'युवर्स फेथफुली', 'हानुष', 'कबिरा खडा बाजार में', 'करफ्यू', 'हयवदन', 'तुगलक', 'बकरी' आदि कई प्रस्तुतियाँ देश की श्रेष्ठतम आधुनिक प्रस्तुतियों में गिनी जा सकती है।

नाटकीय शिल्प में भाषा, अभिनय, निर्देशन, मंचन प्रक्रिया, ध्वनि एवं संगीत रूप सज्जा आदि दिखाई पडते हैं। आधुनिक नाटककार आस्थावान, समर्पित एवं उत्साही थे। उन्होंने हिन्दी नाटक को एक नया युग, प्रौढ दिया। हिन्दी रंग-परदृश्य पर राकेश के आगमण से पूर्व पर्याप्त जागररूकता और सक्रियता थी। 'आषाढ का एक दिन' पूरी रंग परंपरा के सार्थक एवं प्रासंगिक दाय की उपलब्धियों का जीवंत प्रतीक बन गया। इस संदर्भ में डॉ. जयदेव तनेजा लिखते है कि - ***" हिन्दी नाटक और रंगमंच को नई गरिमा, प्रतिष्ठा तथा व्यापकता प्राप्त हुई। इस कार्य में केवल राकेश के नाटकों का ही नहीं उनके उत्साही, समार्पित और उत्प्रेरित व्यक्तित्व का योगदान भी कम उल्लेखनीय नहीं है। इसलिए छठे दशक के बीच जब देश की सभी रंगसमृद्ध भाषाओं के नाटकों और नाटककारों को राष्ट्रीय स्तर पर प्रत्ष्ठा मिली तो उस समय हिन्दी नाटक का उचित प्रतिनिधित्व करने का श्रेय स्वभावतः केवल मेहन राकेश को ही प्राप्त हुआ।"*** [2]

पचास के बाद ही नाटककार, अभिनेता और दर्शक को कलात्मक स्तर पर जोडनेवाले निर्देशक नामक एक संयोजिक व्यक्तित्व का उदय हुआ। बाद में हिन्दी नाटरंग में केवल निर्देशन ही प्रायः होकर रह गया। वास्तव में रंग प्रक्रिया में

निर्देशक, अभिनेता और दर्शक सहकर्मी की निर्णायक भूमिका निभाते हैं। इस संबंध को जान-समझे बिना रंगकर्मी के मूल स्वरूप तथा सत्य के साक्षात्कार नहीं कर सकते। नाटककार के हाथ से निर्देशक के हाथ में जाने से ही नाटक का सफलता दिखाई देती है। - ***"एक कृति के रूप में नाटक तभी सफलता प्राप्त कर सकता है जब कि उसमें रंगमंच पर अभिनीत होने की संभावनाएँ निहित हो।......लिखा गया नाटक एक हड्डियों के ढाँचे की तरह है जिसे रंगमंच का वातावरण ही मांसलता प्रादन करता है।"*** [3]

नाटककार अपने नाटक को सृजित करने के बाद उसको लोगों तक पहुँचना है तो उसमें भाषा दर्शक वर्ग तक जाना चाहिए और उन्हें पहचानना चाहिए। आधुनिक हिन्दी नाटककार की भाषा बहुत ही सरल दिखाई देती है, पर सरल होते हुए भी बेहद जठिल और ज्यादा रचनात्मक हो जाती है। उन्होंने लिखित भाषा के साथ साथ एक नयी रंग भाषा को बनाये है। मैंने उस भाषा के मूलको,भारतेन्दु और प्रसाद युगीन नाटकों की भाषा और आधुनिक भाषा का योगदान, प्रभाव और प्रयोग आदि पर दृष्टि लगाई है।

5.1 मानव हृदय के रहस्यों का आविष्कार : नाट्य भाषा

मनुष्य एक सामाजिक प्राणी है और वह जिस समाज में जीता है उसकी एक भाषा होती है। भाषा मनुष्यों को जोडने का काम करती है। अपनी अंतर्गत भावनाओं को एक रूप देने से भाषा बन जाती है। अभिव्यक्तीकरण का सक्षम रूप भाषा है। संप्रेषण के लिए मनुष्य ने भाषा को सृजित किया है। संसार में अनेक भाषाएँ है। हरेक भाषा के पीछे कुछ न कुछ इतिहास रहता है। भाषा की उन्नती से मनुष्य की उन्नती प्रस्फुटित होती है।

किसी भी देश की भाषा का मूलाधार वहाँ की बोपचाल की सामान्य भाषा ही होती है। जब बोलचाल की भाषा को व्याकरणिक स्वरूप प्रदान कर दिया जाता है तो वह मानक भाषा हो जाती है। साहित्यिक और सामान्य भाषा में यही अंतर होता है। साहित्यिक भाषा को काव्य भाषा भी कहा जाता है। परन्तु काव्य भाषा लोक भाषा का ही विकसित रूप है। टी.यस. इलियट ने काव्य भाषा को एक विशेष अर्थ प्रदान किया है। उनका मानना है कि साहित्यकारों को स्वयं अपनी तरह भाषा का प्रयोग करना चाहिए ताकि समाज के किसी वर्ग की तरह नहीं।

भाषा मनुष्य की चेतना के प्रतीक है। भाषा का अंत मनुष्य का अंत मान सकते है। व्यक्ति की सहज संप्रेषण संरचनात्मक उन्नति का एक मार्ग है। अपने अंतर्गत क्षमता को उद्दीप्त करने का कार्य भाषा करती है। भाषा के माध्यम के अलावा तथा उसके प्रतिनिधित्व के अलावा जगत के ज्ञान के कोई अन्य मार्ग नहीं है। विचार और अर्थ में सापेक्षता हैं, अनुभव और विचार में सापेक्षता है। विचार, अर्थ, अनुभव का समाहार भाषा करती है।

भाषा एक सहज अभिव्यक्ति है। मनुष्य के हर पहलू में भाषा का योग रहता है। नोम चामस्की के अनुसार - ***"Language as a biological organ - it is pretty clear that it is - and this, I think, gives quite a lot of insight into the essential nature of human beinges"***[4] भाषा सामाजिक आवश्यकता है। प्रकृति से मनुष्य अनेक लक्षणों को पाया है लेकिन भाषा को उसने स्वयं गढा है।

बोलचाल की भाषा के अंतर्गत देशी शब्दों का उपयोग किया जाता है। देशी शब्द प्रादेशिक माहोल को प्रतिबिंबित करते हैं। देशी शब्दों में जोडने का भाव होता है, अपनापन होता है। उसी भाषा को सब बोलते है और वहीं भाषा सामान्य तक ले जाती है। प्रेमचन्द इस विषय पर दृष्टिपात करते हुए लिखते है कि - जो लेखक मानवी हृदय के रहस्यों को खोलने में सफल होता है उसी की रचना सफल समझी जाती है। सामान्य हृदय में सामान्य भाषा रहती है। नाटककार उसीको अभिव्यक्त करने से सफल होता है, साहित्य भाषा से नहीं। नाटककार या साहित्यकार को जनवादी भाषा का सहारा लेना आवश्यक है क्योंकि वह अपनी क्षमता को उन लोगों तक पहुँचाना चाहता है जिनका साहित्य से बहुत थोडा सम्पर्क रहता है। इस पर मैनेजर पाण्डेय लिखते है कि - ***" यदि एक साहित्यकार चाहता है कि गरीब और कम पढे लोग उसकी रचनाओं को पढ या सुनकर उनसे प्रभावित हो सकें तो उसे अनेक मुहावरे को अपनाना होगा तथा साहित्यक्ति भाषा की उस परंपरा को तोडना होगा तथा जिसके अनुसार साहित्य कुछ गिने-चुने लोगों को रस विभोर करने की वस्तु बन कर रह जाता है।"***[4 (B)]

भाषा का अक्सर एक रूप नहीं होता, कारण यह है कि उसके बोलने वाले समाज की एक रूपता नहीं होती है। अनेक सामायिक तथा भौगोलिक परिवर्तनों के कारण समाज के लोगों में स्वभाव कार्यकलाप, रहन-सहन तथा चिंतन दर्शन में बहुत अंतर आ जाता है और यह अंतर उस भाषा में दिखाई पडता है। जब युग, कथ्य और शिल्प बदलता है तब उनके साथ भाषा भी बदलता है। वस्तुतः सामाजिक और

राजनैतिक परिवर्तन, उनके आंतरिक दबाव और बदलती सामाजिक कथन शैलियों के फलस्वरूप भाषा में दिखाई पडता है। एक सफल साहित्यकार अपने माहोल से परिवर्तन को दृष्टि में रखकर अपनी भाषा की निर्माण करता है।

सीधी और सरल भाषा में आम जनता तक अपनी बात पहुँचाने में जनवादी साहित्यकार को इस लिए जन भाषा का सहारा लेना चाहिए कि वह भाषा स्वयं भावनात्मक धरातल पर जनता के बहुत करीब है। साहित्यकार को सामान्य जनता की परिस्थितियों के साथ जुडना चाहिए और वह उनके सोचने-समझने और महसूस करने के माध्यम को भी अपनालें। कोई आदमी केवल गरीब लोगों की भाषा को सीख लेने से काम नहीं चलता, रचनाकार अपनी नियती को सामान्य जनता की नियति से पूर्णतया जोडना चाहिए। इस तरह जोडने से ही साहित्यकार की प्रामाणिकता अधिक सक्षम होगी।

वस्तुतः भाषा का समस्या हिन्दी नाटक के लिए बहुत बडी समस्या रही है। हर युग भाषा के प्रति किसी रूप में जागरूक रहा और उसको अपनी सीमाओं और समझ के अनुसार भाषा को सृजित करना पडता। हर अगले युग में पिछले युग की भाषा में नाटक लिखना संभव नहीं था। अगला युग नई जीवन दृष्टि और प्रासंगिकता लेकर आता है। उसमें पुरानी युग की भाषा असंगत लगने लगती है। इसलिए नाटककारों ने अपने बदली हुई मानसिकता के लिए एक नई भाषा की तलाश की किन्तु कोई भी रूप किसी भी दशक में स्थिर न हो सका।

भाषा नाटककार के विशिष्ट जीवन दर्शन स्पष्ट करती है। डॉ. मंजुला दास के शब्दों में - ***"भाषा एब्सर्ड, रोमानी, यथार्थ प्रेरित, आदर्शवादी प्रवृत्ति नाट्य शैलियों कृतिकार की मौलिक रूचि, वैविध्य के प्रति आग्रह तथा विद्रोह वैयक्तिक संस्पर्षों का प्रकट करती है। भाव के समान ही भाषा जहाँ बाह्य जागत से प्रबावित होती है, वहाँ आंतरिक रूप से लेखक के व्यक्तिगत अनुभवों, संस्कारसीलता तथा सृजन प्रक्रिया से संम्बद्ध होती है।"***[5] समर्थ नाटककार विभिन्न संकेतों तथा आवेग प्रवेगों के संस्पर्श से भाषा को अधिक सशक्त औ अधिक अर्थपूर्ण बना देता है। भारतेन्दु काल से भाषा को देखने से हिन्दी नाट्य भाषा के कुछ लक्षण हमें मालूम होते हैं।

हिन्दी नाट्य परंपरा का सूत्रपात हिन्दी भाषा के अपने विकास क्रम के साथ जुडा रहा है। मगर इसकी प्रतिष्ठा भारतेन्दु काल में ही कायम हुई। भारतेन्दु पूर्व नाटकों की भाषा और प्रवृत्तियों के आधार पर यह कहा जा सकता है कि इस युग के नाटकों में ब्रज, अवधी और खडीबोली का संक्रमित प्रयोग चला था। बाद में हिन्दी

रंगमंच पर जब नाटक व्यवसाई पारसी कम्पनियों का अभ्युदय हुआ, तब उर्दू भाषा का भारी दबाव पडने लगा। भारतेन्दु 'निज भाषा उन्नति' को सभी प्रकार की प्रगतियों का मूलाधार कहकर नाट्य शास्त्र के गंभीर अध्ययन के आधार पर नाट्य कला संबंधी सैद्धांतिक आलोचना लिखी। उन्होंने प्राचीन-नवीन, स्वदेशी विदेशी सबी तरह के नाटकों का अध्ययन और अनुवाद भी किया। अनेक पैराणिक मौलिक नाटक की रचना और मंचन भी किया।

भारतेन्दु के नाटकों में जो लचीलापन आज माहसूस होता है कि उनके नाटकों में एक ऐसी भाषा, जिसमें इतना उतार-चढाव है कि भाषा ही अभिनय मूलक प्रतीत होती है। अलग से उसमें अभिनय की संभावना ढूंढने की जरूरत नहीं पडती। उस पर लोगों का ध्यान चालीस-पचास वर्षो में उतना नहीं गया और ज्यादातर लोग यह समझते रहे कि बडी हल्की-फुल्की भाषा है और भारतेन्दु ने बहुत हल्का फल्का नाटक लिखे। उन्होंने भारत दुर्दशा, अंधेर नगरी में लोक मानस और जीवन से जुडा मुहावरा अपनी भाषा में लिया है। भारतेन्दु जो भाषा रचा है उसमें उनके एक रंगकर्मी और अभिनेता होने के कारण एक बहुत स्वाभाविक आरोह-अवरोह मिलता है।

भाषा की दृष्टि से, भारतेन्दु युग में गद्य और पद्य के क्षेत्र में दो भाषाएँ चलती रही- कविता के क्षेत्र में ब्रज भाषा और गद्य के क्षेत्र में खडी बोली। भारतेन्दु ने इन दोनों के बीच का रास्ता अपनाया। वे अपने नाटकों में अंग्रेजी, संस्कृत, पारसी, उर्दू शब्दों से बचकर चले हैं। भारतेन्दु के समकालीन नाटककारों ने भी सरल, स्पष्ट, प्रभावयुक्त भाषा का ही प्रयोग किये है। इनकी शैली सभी जगह स्पष्ट है। लोक जीवन से उन्होंने सारी चीजों को ग्रहण किया है। प्रवृत्तियों के अनुसार उन्होंने भाषा उसके अनुकूल लहजें में बुलवायी।

हिन्दी नाट्य साहित्य और भाषा विकास की दृष्टि से महत्वपूर्ण 'प्रसाद युग' का है। भारतेन्दु युगीन शैशवी परिवेश से नाटक, प्रखरता प्रधान करने वालों में श्री जयशंकर प्रसाद का नाम अन्यतम है। उन्होंने अपने नाटकों की भाषा में साहित्यकता एवं काव्यमयता की रक्षा की। और ऐतिहासिक परिवेश में आधुनिक चेतना का संचार किया। कला की दृष्टि से उनके सभी नाटकों में नवीन प्राचीन का समावेश और समन्वय दिखाई पडता है।

विजय द्विवेदी के अनुसार - ***"प्रसाद युग तक आते-आते पारसी नाटक मंडलियाँ, रंगमंच का एक देशी-विदेशी खिचडी रूप प्रतिष्ठित कर अपनी विकृतियों के कारण पतन की दिशा में गति कर चुकी था। अव्यवसायिक, कलात्मक रंगमंच का***

प्रभाव था। इसलिए प्रसाद को रंगमंच के लिए आधार की आधार तलाश करनी पडी। प्रसाद जी के नाटकों के रंगमंचीय आधार पर पारसी कम्पनियों की छाप देख सकते है। लेकिन भाषा पर इसका कोई प्रभाव नहीं दिखाई पडता है।"[6] जयशंकर प्रसाद के नाटकों की भाषा में संस्कृत का प्रयोग अधिक पाया जाता है। क्योंकि उनके सारो नाटक प्राचीन भारत के इतिहास से संबंधित थे।

प्रसाद की भाषा में कहीं कहीं एक लंबासा गढ-गढाया वाक्य विन्यास आता है, वह तो मंच पर उतना अभिनय मूलक नहीं प्रतीत होता और कहीं कहीं उच्चारण की दिक्कतें भी आती है। प्रसाद की भाषा जो संतोष भी बोलता है, जो विलास भी बोलता है और जो लीला भी बोलती है। जयशंकर प्रसाद के नाटकों की भाषा में काव्यात्मक संस्कृति शब्दावली का परिनिष्टित प्रभाव अधिक पाया जाता है। उर्दू, फारसी अथवा अंग्रेजी की शब्दावलियों को प्रसाद ने संभवतः इसलिए नहीं स्वीकार किया क्योंकि उनके अधिकतक नाटकों का संबंध भारत के इतिहास से था और उस समय तक इन भाषाओं का भारतीय जन जीवन पर कोई प्रभाव नहीं पडा था।

प्रसादोत्तर युग के नाटककारों ने हिन्दी नाटकों की भाषा के सरलीकरण का शुभारंभ किया था। स्वाधीनता के बाद यह और सबल और पुष्ट हुई। - ***"हिन्दी के प्रसिद्ध नाट्य समीक्षकों का मत है कि आधुनिक हिन्दी नाटकों के क्षेत्र में अनेक अभिनव प्रयोग हुए और उनमें समसामयिक जीवन और समाज की बहुविध समस्याओं और प्रश्नों को उठाया गया। फलतः नाटक का स्वरूप, उसकी भाषा शैली एवं शिल्प बहुआयामी हो गया।"***[7]

स्वाधीनता के बाद पुरानी मान्यताएँ टूट गयी। इस परिवेश में समकालीन नाटककारों ने भाषा के माध्यम से प्रस्तुत करने का प्रयास किया। देश के स्वाधीन होने के बाद हिन्दी साहित्य की सभी विधाओं में अभूतपूर्व तेजी आयी। स्वाधीन भारत का परिवेश भी पूरी तरह बदल गया। देखने के लिए पुराने मूल्य बचे भी नहीं। इस परिवेश में व्यक्तित्व, मूल्य बोध, भाव सबका सामूहिक विघटन हो गया इसी परिवेश को आधुनिक नाटककारों ने भाषा के माध्यम से प्रस्तुत करने का प्रयास किया। इस युग के नाटकों की भाषा में जीवन के यथार्थ पक्ष से छुटकारा, पात्रों के अंतर्विरोधी भावों का विवेचन, मनोवैज्ञानिकता का आगमन स्पष्ट दिखाई पडता है। इसीलिए इस काल के नाटकों की भाषा में जीवन के यथार्थ पक्ष का परिचय मिलता है।

धर्मवीर भारती के गीतिकाव्य 'अंधायुग' की रचना एवं रंगमंच और भाषा के लिए महत्वपूर्ण नाटक है। धर्मवीर भारती ने इस नाटक में मुक्त छंद के साथ 'वृत्तगंधी

गद्य' का प्रयोग करके एक नया योगदान किया। इसमें बिम्ब प्रधानता, भाव तीव्रता, बोलचाल की सहजता और गतिशीलता, गति और लय की विवधता, एक साथ पाई जाती है। इस पद्य नाटक की भाषा में काव्यात्मकता और नाटकीयता, व्यंजनात्मकता और अभिधात्मकता, अलंकारिक बिंबात्मकता और बोलचाल की तीव्रता का अद्‌भुत समन्वय दिखाई देती है। इस नाटक में भारती ने संस्कृत और उर्दू के तत्सम, तद्‌भव, देशज तथा समकालीन जीवन की बोलचाल की मुहावरेदार शब्द योजना का वैविध्यपूर्ण प्रयोग किए हैं।अंधा युग के संदर्भ में नेमीचन्द्र जैन का कथन प्रासंगिक लगता है कि -" ***The most important featuer is its language which has an unusually evocative quality, combining poetic intensity with spontaneity of the spoken word and the variation of rhythem and colour so necessary for vital the artical expression."[8]***

इसके बाद मोहन राकेश ने साठोत्तरी हिंदी नाटकों को नई दिशा, नई दृष्टि, नई भाषा प्रधान की । सामाजिक जीवन परिवेश के बदल जाने से व्यक्ति, उसके विचार, उसकी दृष्टि और भाषा शैली में बदलाव आ जाता है। एतिहासिकता, सामाजिकता या भाषा की भावात्मकता को लेकर संस्कृत निष्ट भाषा का चयन राकेश के नाटकों में मिलता है। मोहन राकेश के नाटकों यह परिवर्तन पाया जाता है। हिंदी नाटकों को भारतेंदू के बाद एक सही भाषा देने का श्रेय मोहन राकेश को मिलता है। केवल तीन नाटकों के द्वारा ही मोहन राकेश ने अपनी रंगयात्रा में अनेक भाषागत प्रयोग किये हैं।" ***सच कहा जाता है कि नाटक की सांप्रतिक भाषा संरचना की, सही अर्थों में नई दिशा, मोहन राकेश के 'अषाढ़ का एक दिन' से ही मिली। इस नाटक की भाषा में दुराव रहित अभिव्यक्ति और संप्रेषण की विशालतर क्षमता का विस्तार पाया जा सकता है। भाषा संरचना की दृष्टि से 'अषाढ़ का एक दिन' एसी एक प्रौढ़ रचना है, जिसका एक-एक शब्द दर्शक को सोचने विचार ने पर मजबूर करता है। इस नाटक में नाटककार ने वार्तालाप और भाषा रूप को इस तरह सजाया है, इससे पूरे परिवेश सजीव और साकार हो उठे हैं।"[9]***

मोहन राकेश के 'आधे अधूरे' नाटक से भाषा का एक बिल्कुल बदला हुआ रूप हमारे सामने आया। कुछ जगह राकेश ने भाषा को एक तरह से नकारा भी है। जो कुछ भी उन्होंने कहना चाहा वह भाषा के साथ-साथ विभिन्न ध्वनियों से और संकेतों से बहुत कुछ कहलवाया। पहली बार मध्यवर्गीय जीवन के सूक्षम जटिल अनुभवों, तनावपूर्ण विस्फोटक मन:स्थितियों को समकालीन मुहावरे और बोलचाल की सृजनात्मक भाषा में अभिव्यक्ति मिली है। संवाद संक्षिप्त, विस्तार,गति आदि लक्षणों से मोहन राकेश ने अपने नाटकों द्वारा 'जीने की भाषा' का सृजन किया है। उनकी

नाटकों में कुछ हदतक लोकभाषा, कुछ स्थानीय मुहावरे और कुछ अंग्रेजी शब्द अभिव्यक्त हुए हैं।

सुरेंन्द्र वर्मा के नाटकों में पात्रों में जो टकराहट एक नई तरह की भाषा को जन्म देती है। वर्मा के नाटको में लम्बे - लम्बे स्वगत अत्छी तरह संप्रेषित किये गये हैं। 'सूर्य की अंतिम किरण से सूर्य की पहली किरण तक' नाटक में तीन -तीन पेज के लम्बे स्वगत है, पर उनमें बनावटीपन का आभास नहीं होता, इसका मुख्य श्रेय उनकी भाषा के ही है। और उसी प्रकार लक्ष्मीनारायण लाल के नाटकों में वर्तमान भाषा का उपयोग किया गया है। भाषा में एक वैविध्यतापूर्णता दिखाना लक्ष्मीनारायण लाल की विशेषता है।

नाट्य भाषा में सही पकड और पहचान होती है। व्यावहारिक भाषा और नाट्य भाषा का मिलावटी रूप भीष्म सहानी, मुद्राराक्षस आदि के नाटकों में मिलती है। माता प्रसाद नाटकों में दलित भाषा का जिक्र मिलता है। ज्यादातर कस्बाती बोलियों का सही तरह उपयोग किया गया है। हबीब तन्वीर के नाटकों में छत्तीसगढ़ी लोकभाषा की भरमारा है। हबीब तन्वीर के नाटक कथ्य की दृष्टि से बिलकुल आधुनिक होने के कारण उनके नाटकों में जिंदगी से संबंधित भाषा का ज्यादा प्रयोग मिलते हैं।

भाषा केवल शब्दों से नहीं बनती, शब्दों को विशिष्ट क्रम में रखा जाना भी जरूरी होता है। इसी क्रम विधान के कारण प्रत्येक नाटककार की भाषा एक दूसरे से भिन्न हो जाती है। इसके लिए नाटककार की भाषा वाक्यविन्यास से परिचित होना आवश्यक है। इसी कारण से मोहन राकेश ने भाषा को लेकर अनेक प्रयोग आरंभ किये थे। लेकिन राकेश के रास्ते से चलकर भाषा को मुक्ति प्रधान करनेवाला नाटककार नहीं मिला है। अब हिंदी नाटक की भाषा में वही खामोशी है जो वर्षों से चली आ रही है।

इस बीच में नुक्कड़ नाटक जनाता की माँग के रूप में उभरकर आया है। नुक्कड नाटक में समाज का सही प्रतिबिंब मिलता है। नुक्कड नाटक भाषा के पीछे प्रगतिशील चेतना भरी हुई है। नुक्कड नाटककारों ने जन सामान्य भाषा को अपनाया है। इसका प्ररंभ 1936 में प्रगतिशील संघ की स्थापना से जुडा हुआ है।

प्रगतिवादी साहित्यकार ने धरती के मिट्टी के पुतलों के शब्द में ही साहित्य रचना की है। उन्होंने अपने युग के शोषित, दमित,अज्ञान, ग्रसित समाज का प्रतिनिधित्व करना था, उनके दुख-दैन्य, आशा -निराशा और आकांक्षाओं को अपने

काव्यों में स्वर देना था। यह कार्य उनके भाषा के माध्यम से ही संभव था।संस्कृत जन्य भाषा, अभिजात्य वर्ग की भाषा इसके लिए उपयुक्त नहीं थी। इस लिए उन्होंने जन भाषा को अपनाया। -" ***उन्होंने कल्पना और सौंदर्य बोध की नयी दृष्टि की तरह भाषा में भी नयी दृष्टि का परिचय दिया। वे भाषा के जिस रूप के द्वारा अपने भावों, संवेदनाओं और विचारों की स्पष्ट अभिव्यक्ति दे सकते थे, वही भाषा रूप उन्हें अभीष्ट था। भाषा का वह रूप कुछ लोगों की दृष्टि में उत्कृष्ट हो या निकृष्ट इसकी उन्हे परवाह नहीं थी।"***[10]

नाटक के शिल्प में भाषा महत्वपूर्ण उपकरण है। आधुनिक नाककार ने अपने भाषा में भाव, विचार और चित्र तीनों का समर्थ चित्रण किया है। अपने नाटकों द्वारा नया संस्कार, नयी गति और जीवन्तता का मिलाप दिखायें है। हमारी कविता की भाषा बोलचाल की भाषा से बहुत दूर रही है उसमें सही संप्रेषनीयता नहीं है। इस कमी को दृष्टि में रखकर ही आधुनिक नाटककार ने अपने नाटकों में जीवन की वास्तविक अनुभूती की जीवन्त भाषा का निर्माण करके प्रयोग किये है। भाषा का सरल,सीधा और नित्य व्यवहार का रूप ही आधुनिक नाटक की भाषा का रूप है। आधुनिक नाटकों की भाषा भावात्मक और विचारात्मक है। जिस भाषा का प्रयोग परंपरा से होता आ रहा है उसी के सरल, सीधे, अर्थ गर्भ शब्दों को लेकर उन्होंने अपनी भाषा का निर्माण किया है।

भाषा समाज को प्रभावित करती है। पूँजवादी समाज में और समाजवादी समाज में अलग अलग तरह के भाषा का उफयोग किया जाता है। पूँजवादी जनतंत्र में यही होता है कि जनता वोट देती है, पर राजकाज में हिस्सा नहीं ले पाती। पर समाजवादी जनतंत्र में वह मतदान ही नहीं, करती, वरन् शासन कार्य में हाथ भी बांटाती है। डॉ. रामविलास शर्मा का कहना है कि - " ***पूँजवादी जनतंत्र की विशेषता यह है कि जनता वोट ही देती है, राजकाज में हिस्सा नहीं लेती। समाजवादी जनतंत्र की विशेषता यह है कि जनता अपने प्रतिनिधि ही नहीं चुनती वरन् शासन कार्य में भाग भी लेती है। इस लिए सोवियत संघ में, जनता की भाषाओं के व्यवहार में इतना जोर है। मजदूर सभाओं, सोवियतों और अन्य जन संस्थाओं द्वारा जनता सबसे पहले किसान और मजदूर साक्षर और होने के कारण देश के राजकरण, आर्थिक और सास्कृतिक जीवन में सक्रिय भाग लेते है।"***[11]

भाषा बदलाव लाने का हथियार है। मनुष्य की मानसिकता का बदलना केवल भाषा का माध्यम से ही संभव है। भाषा में उस तरह का दम है जिससे मनुष्य की अंतः चेतना तक पहूँचने की शक्ति है। अतः चेतान को बदलने से मनुष्य की

मानसिकता भी बदल जाती है। अतः साहित्य - ***"मनुष्य की चेतना और सामाजिक चिंता की देन होता है। इसलिए उसमें मनुष्य जीवन की वास्तविकताओं की अभिव्यक्ति, अनिवार्य रूप से होनी चाहिए। साहित्य का मूल मकसद-समाज, समाज व्यवस्था और सामाजिक संबंधों के बुनियादी बदलाव के लिए चेतना जगा कर ही चुप नहीं रह जाना चाहिए। वरन् उसे अपने मुक्ति संघर्ष के लिए बेहतर सुखी भविष्य की चिंता का दायित्व अपने ऊपर लेना है होगा तभी साहित्य का लक्ष्य पूरा होता है।"***[12] उस कार्य के लिए सहीं भाषा की आवश्यकता है। उस भाषा सबकी होना चाहिए। संबको सम्पेषित करने की शक्ति उस भाषा में होनी चाहिए। सबको परिवर्तित करने की शक्ति उस भाषा में होनी चाहिए। परिवर्तन भाषा की मूल मकसद रहना चाहिए।

5.1.1 जीवन की सार्थक अभिव्यक्ति : लोक मानस भाषा

पचासोत्तर नाटककार जन -जन तक पहुँचनेवाले शब्दों का प्रयोग करने के लिए अधिक प्रधानता देते थे। इससे देखनेवालों को अपनापन महसूस होता है। इस युग की भाषा में प्रतीकात्मकता अधिक है। उस भाषा में संवेदनाओं का संकेत मानवीय पीड़ा, समान्तर जिंदगी की संकेत के साथ भावना और आवेग का पुट भी मिलता है। नाटक में एक प्रकार की तटस्थता रचनाकार के लिए अनिवार्य है। इन पचास साल में नाटक की भाषा को एक सजग रूप प्रधान करने के लिए बोलती भाषा को आधुनिक नाटककार ने अपनाये हैं। 'अषाढ़ का एक दिन नाटक' में मोहन राकेश ने अपने भाषा के साथ अनेक प्रयोग किए हैं। नीचे वक्तव्य से हमें यह पता चलता है कि भाषा को उन्होंने किस तरह अपने जी चाहे ढ़ग से इस्तमाल किया है -

> ***"इस जीव को देखते हो ? पहचान सकते हो? यह मल्लिका है जो धीरे-धीरे बड़ी हो रही है और माँ के स्थान पर अब मैं इसकी देख -भाल करती हूँ।......यह मेरे अभाव की संतान है। जो भाव तुम थे, वह दूसरा नहीं हो सका, परंतु अभाव कोष्ट में किसी दूसरे की जाने कितनी -कितनी आकृतियाँ हैं ! जानते हो मैंने अपना नाम खोकर एक विशेषण उपार्जित किया है और अब मैं अपनी दृष्टि में नाम नहीं, विशेषण हूँ।"***[13]

शब्द अपने आपमें महत्वपूर्ण नहीं होते, उनका अपनी पडौसी शब्दों से संबंधित उन्हें अर्थपूर्ण बनाता है। राकेश मानते हैं कि - ***"कोई भी शब्द योजना बिना अपनी एक आंतरिक लय के प्रणवान नहीं होती, और लय या ध्वनि का ग्राफ ही उसकी***

वास्तविकता अर्थवत्ता है।"[14] अपने समय की जठिल जीवन को प्रमाणिक अभिव्यक्ति देने के लिए राकेश ने एक तनावपूर्ण रंग भाषा की सृष्टि की है। राकेश द्वारा सृजित किया गया भाषा नाटक, रंगमंच और जीवन को एक ही बिन्दु पर लाकर संप्रेषण करने की चेष्टा करती है। उन्होंने अपनी भाषा में शब्द का अर्थ और उसकी ध्वनि दोनों पर समान बल दिये हैं। इस प्रयोग के द्वारा दर्शकों पर अधिक प्रभाव डालने की सफलता प्राप्त हुई है जैसे -

" कालिदास : मैं तुम्हारी प्रसंसा करने केलिए अवश्य बाध्य हुँ।
तुम दूसरों के घर में ही नहीं, उनके जीवन में ही
अनधिकार प्रवेश कर जाते हो।
विलोम : अनधिकार प्रवेश ...? मैं ? क्यों अंबिका, तुम्हें कालिदास की यह बात कहा तक संगत प्रतीत होती है कि मैं, विलोम, दूसरों के जीवन में अनधिकार प्रवेश कर जाता हूँ?"[15]

राकेश के आधे आधूरे नाटक में जो भाषा का प्रयोग किया गया है उसमें आधुनिक संवेदना बदले और बदलते हुए मानवीय बोलचाल के मुहावरे का प्रयोग मिलता है। राकेश के कथ्य और शिल्प धरातल पर ही नहीं भाषा के स्तर पर भी संघर्ष दिखाये हैं। शब्द प्रयोग के रूप में देखने से आधे अधूरे नाटक की भाषा जीवंत, सशक्त और सच्ची नाट्य भाषा के रूप में विकसित होती है -

"पुरुष चार :....क्यों कि तुम्हारे जीने का मतलब रहा है-कितना कुछ एक साथ होकर, कितना-कुछ एक साथ पाकर और कितना- कुछ एक साथ ओड कर जीना। वह उतना-कुछ कभी उन्हें किसी एक जगह न मिल पाता, इसलिए जिस किसी के साथ भी जिंदगी शुरू करती, तुम हमेशा इतने ही खाली, कितनी ही बेचैनी बनी रहती। वह आदमी भी इसी तरह तुम्हे अपने आस पास सिर पकडता और कपडे फाडता नजर आता....और तुम...।"[16]

'आधे अधूरे' नाटक की भाषा आज के मध्यवर्गीय प्रामाणिक भाषा है। शब्द का उपयोग और प्रयोग तथा अर्थगत दृष्टि से देखने से नाटकीय भाषा में हर संवाद में अधूरापन दिखाई देता है। वास्तविक मानसिकता को व्यक्त करना इतनी आसान नहीं है। लेकिन इस नाटक में मानसिक विक्षोब को एक रूप देने में जिंदगी का सही

मतलब पाया जाता है तद्वारा 'जानने की भाषा' को छोड कर 'जीने की भाषा' का सही परिवर्तित रूप का प्रयोग किया गया है। निम्नाकित सावित्री के शब्दों को देखने से हमें पता चलता है कि नाटककार अपनी भाषा को जीवन से कैसे जोड देते हैं -

"स्त्री : (खडी होती है) मुझे उस असलियत के बात करने दीजिए जिसे मैं जानती हूँ।.....एक आदमी है। घर बसाता है। क्यों बसाता है? एक जरूरत पूरी करने के लिए। कौन सी जरूरत? अपने अंदर के किसी उसको ...एक अधूरापन कह लीजिए उसे .... उसको भर सकने की। इस तरह उसे अपने लिए...... अपने में...पूरा होना होता है। किन्ही दूसरों को पूरा करते रहने में ही जिंदगी नहीं काटनी होगी।"[17]

मोहन राकेश के बाद नाटकों में अनुभूति के अनंत रूपों को भाषिक आधार देकर सभी स्तरों में भाषा का उपयोग कराते हुए लोक भाषा का सही प्रयोग में सुरेन्द्र वर्मा, सर्वेश्वर दयाल सस्केना, हबीब तन्वीर, मुद्राराक्षस आदि का नाम भी लिया जाता है। सर्वेश्वर दयाल सस्केना द्वारा लिखा गया आधुनिक राजनीतिक व्यंग्य नाटक 'बकरी' में लोक मानस भाषा का सही प्रयोग किया गया है। उत्तर भारत के ग्रामाण महिला के जितने भी संवाद हैं उन सब में उसी भाषा का प्रयोग हमें मिलता है। यथा-

औरत : आप बडे लोग हैं हुजूर। आपको एक नहीं हजार बकरी मिल जाएगी। हम गरीब का सहारा न छीनो।

....

औरत : हम देश में नहीं रहित हुजूर, गाँव में रहित है।

....

औरत : हुजूर एहका छोड दे, हमरे पीछेपीछे न लग जाए तो जौन सजा चोर की ऊ हमारी। आप के पीछे ना हीं जाएगी हुजूर, हमरे पीछे जाएगी।"[18]

इन पचास सालों में शब्द जहाँ से भी लिए गये हो लेकिन वाक्य में इनके स्थान आधुनिक जीवन की लय के अनुरूप सहज ढंग से निर्धारित किया गया है। आधुनिक भाषा की विकास यात्रा में इस सशक्त भाषा को और सक्षम बनाने में भीष्म साहनी का भी योगदान है। उन्होंने भी अपने नाटकों के द्वारा लोक मानस भाषा की सही रूप प्रस्तुत किए हैं। अंतरंग की जो भी संवेदना रहती है वह भाषा के द्वारा ही

व्यक्त होती है। नीचे दिए गये उद्धरण से भीष्म साहनी उसी संवादों का चित्र हमें दिखाते है - यथा-

कात्या : जी, मैंने बहुत सुन लिया। बच्चे तो भूखों मरते रहें और में उसका हौसला बढाती रहूँ? मुझसे यह नहीं होगा। घर की हालत क्या आपसे छिपी है? बच्ची के चिथडे क्या फशे नजर नहीं आते? जाडों में हमारा घर गर्म नहीं हो पाता। क्या उससे छिपा है? इस हालत में मैं उसका हौसला बढाती रहा करूँ?......."[19]

रंगमंच पर शंब्दों के प्रयोग से ही बिम्ब की उत्पत्ति होती है। दर्शकों तक सम्पेषित करने के लिए अभिनेता के बोलने का ढंग सही होनी चाहिए। उसके लिए यही भाषा की जरूरत है। इसीलिए आधुनिक नाटककारों ने कहावतों और मुहावरों का प्रयोग अपने नाटकों में अच्छी तरह प्रस्तुत किये हैं। इस तरह लिखने के लिए स्वतंत्र्योत्तर नाटककार को काफी संघर्ष करना पडा। मंच पर उच्चरित करने केलिए जन भाषा की इस्तेमाल करनी चाहिए। इस ओर आधुनिक नाटककार की क्षमता और भी बढी है। इस संदर्भ में निम्न प्रसंग द्रष्टव्य है -

"कबीर : हुजूर, कुछ पहले हमारे यहाँ एक दानिशमन्द हो गुजरे हैं, अमीर खुस्सरो उनका नाम था। आपने सुना होगा?

सिकिंदर : बेशक, बेशक !

कबीर : अपने बादशाह के गले में मोतियों का हार देखकर उन्होंने फर्माया था कि गरीबों के आँसू मोती बनकर बादशाह सलामत के गले की जेबाइस बने हैं।

सिकिंदर : मतलब?

कबीर : आपने अपने-अपने एमाल की बात कही तभी मुझे ख्याल आया। किसी के आँसू दूसरे के लिए मोती जुटा देते हैं और उसे अपने लिए चिथडे भी नहीं जुटा पाते।"[20]

अस्सी के बाद के नाटकों में कुछ काव्यात्मकता की झलक मिलती है। भाषा की भावात्मकता का अधिक प्रयोग मिलता है। संस्कृतनिष्ट भाषा का तो उपयोग नहीं हुआ है लेकिन कविता से जुडे हुए शब्दों का कुछ हद तक प्रयोग किया गया है। और उसी समय बोलचाल भाषा का भी पूरी तरह इस्तेमाल किया गया है। असगर वजाहत ने अपने नाटक 'ओ जन्मया ही नई' नाटक में रात के बारे में वर्णन करते है, नीचे उद्धरण से हमें यह विषय पता चलता है। जैसे -

"......रात में ही दुनिया के अहम काम होते है। मिसाल के तौर पर फूलों में रस पडता है रात को, समन्दरों में ज्वारभाटा आता है। रात को, खुशबुए रात को ही जन्म लेती हैं, परिश्ते रात को ही उतरते हैं, सब से बडी 'वहीं' रात को नाजिल हुई है।"[21]

उक्त उदाहरणों से हमें यह स्पष्ट होता है कि सहज भाषा आधुनिक नाटकों का प्राणतत्व बना है। लोक मानस भाषा का प्रयोग हर मंच पर हुआ था। इस युग के नाटकों में लोकमानस भाषा का प्रयोग करने के कारण जो विषय का संदेश है, वह सामान्य लोगों तक पहुँचता है। इसी कारण से आधुनिक हिन्दी नाटक सैकडों बार मंचित किये गये है।

5.1.2 नाटक की सफलता : पात्रानुकूल भाषा

नाटक में शब्द के साथ अभिनय की भी जरूरत पडती है। नाटककार जो भी लिखता है उसका जो अभिनय रंगमंच पर होता है। इसलिए नाट्य भाषा के साथसाथ अभिनय मूलकता भी अनिवार्य है। अगर सफल नाटक बनाना है तो पात्रानुकूल भाषा का प्रयोग करना नाटकार का प्रथम कर्तव्य बन जाता है। संपूर्ण और समग्र रूप में पात्रों का सृजन करना चाहिए और उनके मुँह से पात्रानुकूल भाषा कहलवाना पडता है। इसी नियती को दृष्टि में रखकर आधुनिक नाटककार ने अनेक प्रयोग किये हैं और पात्रानुकूल भाषा को वातावरण और वास्तविकता को दृष्टि में रखकर काफी सफलता पूर्वक सृजित किये है।

आधुनिक कवि धूमिल भाषा को संबोधित करते हुए संसद को छोडकर सडक पर आने के लिए आमंत्रित करते हैं -

'भाषा
उस तिकडमी दरिंदे का कौर है,
जो सडक पर और है
संसद में और है
इसलिए बाहर आ
संसद के अंधेरे से निकलकर
सडक पर आ।'

आधुनिक नाटककार भी भाषा को आमंत्रित करते है लेकिन रंगमंच तक ही सीमित करने का प्रयत्न करते हैं। नाटक में हर भाव, विचार, पात्र वातावरण ऐसा

होना चाहिए जैसा मूर्त हो सके। नाटकीय तत्व को सीधे लोक प्रियता प्राप्त कराने के लिए पात्रानुकूल भाषा विशेष काम करती है। 'अंधायुग', 'आधे अधूरे', 'करफ्यू', 'सिंहासन खाली है', 'बकरी' आदि नाटकों के सफलता में यह विषय जुडी हुई हैं। 'अंधायुग' नाटक में प्रहरी की बातचीत देखने से धर्मवीर भारती की पात्रानुकूल भाषा के परिचय हमें मिलता है -

"रक्षणीय कुछ भी नहीं था यहाँ.....
संस्कृति थी यह एक बूढे और अंधे की
जिसकी संतानों ने
महायुद्ध घोषित किए,
जिसके अँधेपन में मर्यादा
मलित अंग वेश्या सी
प्रजा जनों को भी रोगी बनाती फिरी
उस अन्धी संस्कृति,
उस रोगी मर्यादा की
रक्षा हम करते रहे
सत्रह दिन।
मेहनत हमारी निरर्थक थी
आस्था का,
साहस का,
श्रम का,
अस्तित्व का हमारे
कुछ अर्थ नहीं था
कुछ भी अर्थ नहीं था।"[22]

स्वातंत्र्योत्तर परिवेश ने व्यक्तित्व को व्याकुल-विखंडित कर दिया है। ऐतिहासिक कथ्यांश को लेकर आधुनिक परिवेश का स्पष्ट चित्रण करने में राकेश प्रथम गिने जाते हैं। अपने नाटक आषाढ का एक दिन और लहरों के राजहंस में संस्कृत निष्ट भाषा का सही प्रयोग किये है। इस नाटक में कालिदास और मल्लिका द्वारा पात्रानुकूल भाषा का सही रूप में प्रस्तुतीकरण मिलता है। एक असफल व्यक्ति के रूप में मल्लिका अपने को कालिदास के सामने इस प्रकार रखती है कि -

"तुम जीवन से तटस्य हो सकते हो, परंतु मैं तो अब तटस्य
नहीं हो सकती। जीवन को तुम मेरी दृष्टि से देख

सकते हो? जानते हो मेरे जीवन के ये वर्ष कैसे व्यतीत हुए हैं? मैंने क्या क्या देखा हैं?क्या से क्या हुई हूँ.....परंतु मैंने यह सब सह लिया। इस लिए कि मैं टूटकर भी अनुभव करती रही कि तुम बन रहे हो। क्योंकि मैं अपने को अपने में न देखकर तुममें देखती थी। और आज यह सुन रही हूँ कि तुम सब छोडकर सन्यास ले रहे हो? तटस्थ हो रहे हो?"[23]

अनुभूति के साथ सृजित की गयी भाषा ज्यादा रंगमंच पर काम आ सकती है और दर्शक वर्ग तक पहूँच सकती है। भाषा में अपनापन होता है। 'लहरों के राज हंस' में भी राकेश ने अधुनिक संशोधित भाषा की उपयोगिता से वह स्वयं भावात्मक धरातल पर जनता के बहुत करीब आ जाते हैं। उनके संवाद व्यक्त होते समय उनके भाव हल्के से प्रतीत होते है। लेकिन बाद में सोचने के लिए हमें मजबूर करते हैं। सुन्दरी की पात्रानुकूल भाषा से हमें यह निम्नांकित विषय और भी स्पष्ट लगता है -

"सुन्दरी : सोचने की स्थितियाँ होती है अलका !जो बात इस क्षण नहीं सोच जा सकती, वह अगले क्षण सोची जा सकती है। मैंने उन्हें भेजा था, तो एक विश्वास के साथ भेजा था। चाहती, तो रोक भी सकती थी। परन्तु रोकना मैंने नहीं चाहा, क्योंकि वैसा करना दुर्बलता होती। अब इतना सन्तोष तो है कि दुर्बलता कहीं थी, तो मुझे में नहीं थी।"[24]

आधे अधूरे का परिवार पंजाबी परिवार है इस लिए उस नाटक की भाषा में उर्दू का ज्यादा प्रयोग मिलता है। ज्यादातर लोक भाषा और स्थानीय मुहावरे शामिल हैं। इस नाटक में सभी पात्र अपनी अपनी बोली में अपने अपने स्तर से पात्रानुकूल भाषा बोलती हैं। इस भाषा को खोजने का श्रेय राकेश को दिया जाता है। पुरुष चार से राकेश इस तरह कहलवाते हैं कि -

"तुमने कहा, जो तू नहीं हुआ, वह अब तो हो ही सकता है। उसने कहा, वह चाहता है हो सकता, पर आज इसमें बहुत सी उलझनें सामने है-बच्चों की जिन्दगी को लेकर, इसको लेकर उसको लेकर। यह भी कि इस नौकरी में उसका मन नहीं लग रहा, पता नहीं कब छोड दे, इसलिए अपने को लेकर भी उसका कुछ तय नहीं है इस समय। तुम गुमसुम होकर सुनती रहीं और रूमाल से आँखें पोंछती रही, आखिर उसने कहा कि तुम्हें देर हो रहीं है, अब लौट चलना चाहिए। तुम चुपचाप उठकर उसके साथ गाडी में

आ बैठी। रास्ते में उसके मुँह से यह भी निकला शायद कि तुम्हे अगर रूपसे-पैसे की जरूरत है इस वक्त तो वह ...."[25]

हिन्दी नाटक की भाषा को एक रूप देने में और कस्बाती बोलियों को प्राचुर्य देने में अनवरत रंगयात्री हबीब तन्वीर की प्रस्तुयों से प्राप्त होती है। उत्तर प्रदेश, मद्यप्रदेश और राजस्थान -इन तीन प्रदेशों का जन जीवन इन नाटकों में बार-बार आता है। विचारनीय स्थिति यह है कि हबीब तन्वीर की 'आगरा बाजार' को छोडकर कोई नाटक हिन्दी में प्रकाशित ही नही किया है। हबीब तन्वीर उर्दू में ही लिखते है और कई बार तो नाटक के मूल प्रति के अलावा कोई दूसरी प्रति होती ही नहीं। छत्तीसगढी क्षेत्र से ज्यादातर अभिनेता आने के कारण और तन्वीर के कथ्य आंचलिक क्षेत्रों के कथा विशेषों के कारण उनके नाटकों में लोक मानस रूप और पात्रानुकूल भाषा का भरपूर प्रयोग मिलता है।

भाषा प्रयोग की दृष्टि से आधुनिक नाटक राकेश के नाटकों से कम महत्व नहीं है। सर्वेश्वर दयाल सक्सेना, सुशील कुमार सिंह आदि की नाटकीय भाषा में समकालीन जीवन को उसके पूरे तनाव के साथ पकडने की शक्ति भरपूर है। पात्रानुकूल भाषा प्रयोग करने में सुरेन्द्र वर्मा सफल हुए है। अपने 'द्रौपदी', 'सूर्य की अंतिम किरण से सूर्य की पहली किरण तक' नाटकों में प्रचलित बडे-बडे प्रतीकों के प्रयोग प्रधान रूप से किया है। स्त्री के व्यक्तित्व, संघर्ष और अंतर्द्वन्द्व की झलक इस भाषा में मिलती है। यथा -

" .....सुबह से दोपहार तक, दोपहार से शाम तक, शाम से रात तक-यहाँ जल्दबाजी, यहाँ शोर, यहाँ रफ्तार -कोई कहीं से आ रहा है, किसी को कही जाना है। किसी का काम हो चुका है, किसी के होने की उम्मीद है।.....(आवेश से) सबका कुछ न कुछ चाहिए। एक चीज मिल गयी, तो दूसरी चाहिए। दूसरी मिल गयी, तो तीसरी चाहिए, तीसरी भी मिल गयी, तो पहले से बेहतर चाहिए। उससे भी बेहतर मिल गयी, तो फिर सबसे बेहतर चाहिए।"[26]

सुरेन्द्र वर्मा के नाटकों में भाषा कथ्य स्त्री पुरुष के काम संबंधों से परिचालित होने के कारण अलग शब्द भंडार और बिम्बों का सही प्रयोग मिलता है। वर्मा के नाटकों में संवाद शैली बडी उत्तेज रंग भाषा को गढा है। सम सामयिक जीवन की गहन समस्याओं को, मानवीय संबंधों को नाटकीय अभिव्यक्ति देने के लिए भाषा युगानुकूल और कथ्य की आत्मा को संप्रेषित करने में सक्षम है - 'सूर्य की अंतिम

किरण से सूर्य की पहली किरण तक' नाटक में शीलवती द्वारा दी गयी निम्न वक्तव्य इसका सशक्त प्रमाण है -

"शीलवती : ***कैसी बात करते हो !..... जानते नहीं, अतःपुर की मुझे जैसी स्त्री के लिए क्या विशेषण देते रहे हैं तुम्हारे कविजन?...... असूर्यस्पर्शा......सूर्य की किरणों ने भी जिसका स्पर्श नहीं किया हो !...... वही स्त्री हाथों में जय माला लिए राज प्रांगण में उतरेगी- सहस्त्रों दृष्टियों का केन्द्र बनी, और एक रात के लिए किसी पुरुष के साथ चली जायेगी जिसे उसने कभी देखा नहीं जिसके संबंध में वह कुछ नहीं जानती....... और उसे अपना शरीर समर्पित कर देगी-अपना रूप, अपना यौवन, अपना कैमार्य.....!"***[27]

और एक जगह शीलवती कहती है जिसमें पात्र के बिल्कुल अनुकूल की भाषा नाटककार ने प्रयोग किया है -

"(रूक कर कुछ अंतर्मुख-सी) सोचती हूँ और काँप-काँप जाती हूँ।....एक अनजान भवन......उस भवन का शयन कक्षा....उस शयन कक्ष की शैया....... उस शैय्या पर ..... (विराम। करुण मुस्कान से) वेश्याओं के मनोबल की जितनी सराहना की जाये, कम है।"[28]

लक्ष्मीनारायण लाल के 'करफ्यू' में पति के बीच अदृश्य अनदेखे अनेक डाईमेन्स को व्यक्त करने में सरल और गहरी भाषा का मंचीकरण किया गया है। इस नाटक में ज्यादा अंग्रेजी शब्द मिलते हैं। लेकिन संवाद बहुत छोटे हैं। इनके नाटकों में पात्रानुकूल की भाषा पूरी चेतना से अभिव्यक्त होती है। इस नाटक का प्रत्येक शब्द पात्रों के मानसिक अंतर्द्वन्द्व और तनावपूर्ण परिवेश को अभिव्यक्त करने में पूर्ण समर्थ हैं। - यथा

"मनीषा : ***हिम्मत नहीं ? मुझ में भी न थी-बिल्कुल नहीं। तब मेरे पापा वाइस चान्सलर थे। मैं यही सोलह साल की थी सीनियर केम्ब्रिज में ......। उस लडके का नाम कमल था। वह न खेलता न बात करता, बस एकाएक मुझे निहारता रहा। एक दिन जब हम पिकनिक पर गए हुए थे तो अकेला पाकर उसने मुझे किस कर लिया मुझे बुरा नहीं लगा था। फिर भी मैंने उसे डांट दिया।***

प्रिन्सिपाल से रिपोर्ट करने की धमकी दी।"[29]

पात्रानुकूल भाषा से दर्शक नाटक में भागीदार बन जाते है। दर्शक किस भाव से नाटक देखने बैठते है उसी भाव और भाषा का दर्शक मंच पर होने से सही संप्रेषण होता है। हर वर्ग अपने प्रांत एवं स्तर के आधार पर अपने भावों को भाषा द्वारा दर्शाते है। उसी तरह राजनेता के लिए एक प्रत्येक भाषा होती है। उनके शब्दों में एक खासियत दिखाई देती है। एक अजीब प्रकार की बोली में वे बोलते है। उस भाषा को 'सिंहास खाली है' नाटक में सुशील कुमार सिंह हमें दिखाते हैं -

"प्यारे देश वासियों !तमाम विरोधों और अंतर्विरोधों के बावजूद भी आपके सहयोग और समर्थन के बल पर हमने अपने विपक्षियों पर विजय पा ली है। हम आपकी समृद्धि के लिए पूरा- पूरा प्रयास करेंगे। साथ ही आपसे अनुरोध करते है कि आप विपक्षियों से सतर्क रहे। उनके बहकावे में न आएँ। आपको भ्रम में डालने के अतिरिक्त वे किसी भी योग्य नही रह गए है...प्यारे देशवासियो ......।"[30]

'योर्स फेथफुली' नाटक में मुद्राराक्षस द्वारा दफतरों की भाषा का उपयोग कराया जाता है। 'डिस्पैचर' की भाषा इस प्रकार है -

"डिस्पैचर : आफिस आर्डर नंबर सच एण्ड सच। डेटेड सच एण्ड सच। सब्जेक्ट.......

कोरस : आफिस आर्डर नंबर सच एण्ड सच। डेटेड सच एण्ड सच । सब्जेवट........"[31]

ग्रामीण भाषा अलग होती है। हिन्दी आधुनिक नाटकों में सभी नाटकार अलग भाषा का प्रयोग करते हैं। ग्रामीण व्यक्ति किसी विषय को यों ही नहीं मानते है अगर एक बार मानने के बाद उस पर अडे रहते हैं। उनकी भाषा में सहजता यों ही पाई जाती है। उनकी मन और भाषा दोनों स्वच्छ रहते हैं। नीचे सर्वेश्वर दयाल सक्सेना द्वारा प्रयुक्त ग्रामीण भाषा को देखने ये यह विषय और भी सच मामूम पडती है -

" एक ग्रामीण : मान लो बकरी गंधी महत्मा की है। देवी है। हम देवी माना। सच्चे मन से माना। ऊ नाहीं मानिन। तो बताओ उ उल्लू बिनिन कि हम?

युवक : बकरी देवी हो तब न ?

दूसरी ग्रामीण : मान लो कि है। फिर कैन उल्लू बना?

युवक : काका, उल्लू न ऊ बने, न आप। उल्लू हम बने

जो आपसे इतने बहस किए।

ग्रामीण : *बचवा, अब हम पढ-लिखे नहीं न। पढ वाइया के संगौ-साथ नाहीं न। ऊ ठहरे बडवार, हम ठहरे छोटवार। छेटन के कहना माने के परक है। कहना न मानै तो ठीक नाही । ऊ कहिन हम सिर झुकाइ के मानलिहा। अब उनके करम उनके साथ। हमारे करम हमरे साथ।"*[32]

आधुनिक बोल चाल की भाषा में विषय के साथ-साथ तीव्रता भी होती है। पात्रोचित भाषा को उपयोग करने में असगर वजाहत भी सफल हुए हैं। वजाहत जगह-जगह पर अपने पात्र की भाषा को सारगर्भित रखने केलिए प्रयत्न करते हैं। उनके पात्र एक जगह सरल भाषा बोलती है और दूसरी जगह उद्वेगपूर्ण बातें करती है -

"रवीन्द्र : ऐसी बहुत - सा खबरे आती हैं..... हमें पता भी चलती हैं लेकिन हम नहीं छापते.....हम छापते है बलात्कार, हत्या डकैती....खून..... राहजनी...पिस्तोल दिखाकर लूट लिया...ठगी....चार साल की बच्ची के साथ बलात्कार......आंतंकवाद ....सुनो बात .... ये अखबार.......ये नेशनल प्रेस किसका है........ तुम इसके मालिक हो या मैं इसका मालिक हूँ......नहीं हम से कोई नहीं......कुत्ता अपने मालिक के 'शू'.....करने पर भी भटकता है घरवालों पर नहीं भटकता......तुम चाहते हो.....मालिक को ही काट खाए?"[33]

पचासोत्तर हिन्दी नाटक हर विधा में एक नये मोड लेकर गतिमान हुआ हैं। कथ्य पुराना होने पर भी उससे आधुनिक समस्याओं को जोडने के कारण भाषा में अमूल परिवर्तन घटित हुआ है। इस नयी भाषा को घडने में नाटककारों ने अनेक दिक्कतों का सामना जरूरी किये है। फिर भी एक जीवन्त भाषा देने में समर्थ हुए है। पात्रोचित भाषा प्रयोग करने से दर्शक तक नाटकीय कथ्य पहूँचाने में किसी प्रकार की बाधा उत्पन्न नहीं होगी। अन्धायुग से लेकर आज तक के हर नाटक में पात्रोचित भाषा का सही उपयोग किया गया है। इस भाषा के साथ आधुनिक हिन्दी नाटकीय रंगमंच और भी परिपुष्ट बन गया है। कालिदास, मल्लिका, सुरेखा, शीलवती, ओक्काक आदि पात्रों की भाषा से नाटक की एक नयी संवेदना के रूप मिलता

5.2 नाटक की सार्थक कुँजी : संवाद योजना

नाटक में हर भाव, विचार, पात्र, स्थिति और वातावरण ऐसा होना चाहिए जिससे संपूर्ण रंगचित्र दर्शक तक पहुँच सके है। आधुनिक नाटकों में संवादों पर अत्यधिक ध्यान दिया गया है। अतः नाटक में संवादो को संक्षिप्त, सजीव, सहज और अभिनयोचित बनाने का प्रशंसनीय प्रयत्न किया गया है। पचासोत्तर नाटकों में सरल चुस्त, प्रभावशील संवाद मिलते हैं। आधुनिक नाटकों में शुद्ध हिन्दी का प्रवाह होते हुए भी संवाद आवश्यकतानुसार कहीं संक्षिप्त कहीं कुछ बडे किन्तु अत्यन्त अभिनयात्मक, आकर्षक और हृदयस्पर्श हैं।

मानव जीवन में किसी परिस्थिति विशेष में अनेक अनुभूतियाँ प्राप्त होती है। वही अनुभूतियाँ व्यक्तित्व से परे होकर भाव बन जाती हैं। इन अनुभूति विशेष की अभिव्यक्ति का माध्यम जहाँ शब्द वाणी या भाषा है, चाहे वह गद्य में हो या पद्य में। परन्तु नाटककार जीवन की प्रवाह को दृष्टि में रखकर सही संवादों के द्वारा अपने बात को कहने का प्रयत्न करते है। लंबे,संस्कृतगर्भित, भावात्मक संवाद बोझिल होने के कारण स्वाभाविक नहीं लगते है।

नाटक में संवाद सहज स्वाभाविक होना है। नाट्य भाषा की और एक विशेषता यह है कि सांकेतिक रूप से संवाद होने से नाटक और ज्यादा सशक्त बन जाती है। अच्छे संवादों से भाषा की सामर्थ्य बढती है। राकेश के नाटकों में ऐसे प्रयासगत संवाद मिलते हैं। मोहन राकेश के संवाद विशेषता को दृष्टि में रखकर गोविन्द चातक इस प्रकार लिखते हैं कि - ***"वस्तुतः राकेश के संवाद सीधे और सपाट नहीं है। कोई विशेष मनःस्थिति जब पात्रों के मन को आ घेरती है तो वह अतिशय सघनता और सांकेतिकता प्राप्त कर लेती है। तब शब्द जैसे संकेतों में बह जाते है और वाक्य विन्यास भी कही सघन और कहीं खण्डित हो जाता है। पात्र जिस तनाव और विकृति को झेलते और उसमें एक के शब्द दूसरे शब्द में उलझ जाते है। कोई कहता है तो कुछ उत्तर मिलता है। और फिर होती है बेतु की बातें, टीका टोकी, सुनी अनसुनी करना, टूटे फूटे संवाद और चुप्पी, जो समस्त विसंगति में अर्थ की संगति बैठाती है। कुछ संवाद शुरु होते है और खत्म होने से पहले टूट जाते है या पीछे छूट जाते हैं और कहीं पात्र कुछ कहकर स्वयं ही बात को अनकहा छोड़ देते हैं।"***[34]

शब्द का चयन, क्रम और प्रयोग सही रूप में रहने से ही स ही अभिव्यक्तीकरण होता है। 'लहरों के राज हंस' में राकेश ने छोटे और बडे संवादों के

साथ अपनी भाषा का परिचय हमें देते हैं। नीचे दिए गये उदाहरण से इस विषय हमें और ज्यादा स्पष्ट होता है -

"नंद : बस इतना ही जाना है तुमने ?....और मैंने समझा था कि तुम वास्तविक अर्थ ही जान गयी हो।
सुन्दरी : बहुत गहरा है वह वास्तविक अर्थ ?......नहीं उतना गहरा नहीं है। मैंने जितना जाना है, उससे अधिक नहीं है उसमें जानने को।
नंद : है, है, है। उससे थोडा, थोडा, थोडा अधिक है। और आज तुम जानने की ही बात कर रही हो, तो अच्छा है उतना और जान लो।" [35]

'आषाढ का एक दिन' नाटक में सारा सौन्दर्य उसकी संवादों में छिपी हुई है। अभिनय, क्रियाओं और भाषा में वह सौन्दर्य निहित है। संवादों के द्वारा अच्छे तर्क प्रस्तुत कर सकते है। 'आषाढ का एक दिन' नाटक में नीचे दिया गया संवाद से उसी तरह का एक तर्क हमें मालूम पडता है। -यथा

" मल्लिका : मैं जानती हूँ माँ, अपवाद होता है। तुम्हारे दुख की बात भी जानती हूँ। फिर भी मुझे अपराध का अनुभव नहीं होता। मैं ने भावना में एक भावना का वरण किया। मेरे लिए वह संबंध और सब संबंधों से बडा है। मैं वास्तव में अपनी भावना से प्रेम करती हूँ जो पवित्र है, कोमल है, अनश्वर है........।
अंबिका : और मुझे ऐसी भानवा से वितृष्ण होती है। पवित्र, कोमल और अनश्वर है...... !
मल्लिका : माँ तुम मुझ पर विश्वास क्यों नहीं करती ?
अंबिका : तुम जिसे भावना कहती हो वह केवल छलना और आत्म प्रवंचना है।......भावना में भावना का वरण किया है।......मैं पूँछती हूँ भावना में भावना का वरण क्या होता है? उससे जीवन की आवश्यकताएँ किस तरह पूरी होती हैं ?..... भावना में भावना का वरण हैं !
मल्लिका : जीवन की स्थूल आवश्यकताएँ ही तो सब कुछ नहीं है, माँ उनके अतिरिक्त भी तो बहुत कुछ है।
अंबिका : होगा। में नहीं जानती।"[36]

'आधे अधूरे' नाटक में संवादों का क्रम और घर का परिवेश एक साथ चलते हैं। इस नाटक में अनेक जगह संवाद केवल मौन रूप में चलते है। सावित्री महेन्द्रनाथ के बीच और बडी लडकी, छोटी लडकी के बीच, सावित्री और पुरुष चार के बीच जो संवाद घटित हुआ है उनमें सहज एवं सायास बोली मिलती हैं। निम्न संवाद को देखने से हमें मालूम पडता है कि राकेश अपने संवाद किस तरह हरकत, लय, उच्चार, संकेत तथा ध्वनियों में बांधकर प्रयुक्त करते है -

"पुरुष एक : हाँ, पूछकर ही जानना है आज। कितने साल हो चुके हैं मुझे जिन्दगी का भार ढोते ? उनमें से कितने साल बीते हैं मेरे इस परिवार की देख रेख करते ? और उस सबके बाद मैं आज पहुँच कहाँ हूँ? कि यहाँ बात करता है? जिसे देखो वहीं मुझसे उल्टे ढंग से बात करता है? जिसे देखो वहीं मुझसे बदतमीजी से पेश आता हैं ?

लडका : (अपनी सफाई देने की कोशिश में) मैंने तो सिर्फ इसलिए कहा था...... डैडी, कि.........!

पुरुष एक : हर एक के पास एक-न -एक वजह होती है। इसने इस लिए कहा था, उसने उसलिए कहा था। मैं जानना चाहता हूँ कि मेरी क्या यही हैसियत है इस घर में कि जो जब जिस वजह से जो भी कह दे, मैं चुपचाप सुन लिया करूँ ? हर वक्त की दुलाकर हर वक्त की कोंच, बस यही कमाई है यह मेरी इतने सालों की ?

स्त्री : (वितृष्णा से उसे देखती) यह सब किसे सुना रहे हो तुम?

पुरुष एक : किसे सुना सकता हूँ? कोई है जो सुन सकता है? जिन्हें सुनना चाहिए वे सब तो एक रबडस्टैंप के सिवा कुछ समझते ही नहीं मुझे। सिर्फ जरूरत पडने पर इस स्टैंप का ठप्पा लगाकर......।

स्त्री : यह बहुत बडी बात नहीं कह रहे तुम?

लडका : (उसे रोकनेकी कोशिस में) ममा...।

स्त्री : सिर्फ मुझे इतना पूछ लेने दे इनसे कि रबड-स्टैंप के माने क्या होते हैं ? एक अधिकार, एक रूबता, एक इज्जत यही न?

लडका : सुनो तो सही ममा.....।

स्त्री :	***(बिना उसकी तरफ ध्यान दिये)यह सब कब कब मिला है इन से किसी को भी इस घर में ? किस माने में ये कहते हैं कि...?***
पुरुष एक :	***किसी माने में नहीं। मैं इस घर में एक रबड-स्टैंप भी नहीं, सिर्फ एख रबड का टुकडा हूँ-बार-बार घिसा जाने वाला रबड का टुकडा। इसके बाद क्या कोई मुझे वजह बता सकता है, एक ही ऐसी वजह, कि क्यों मुझे रहना चाहिए इस घर में? "[37]***

ऊपर दर्शाया गया संवाद से समसामयिक मनुष्य की पीडा और मुक्ति की आकांक्षा स्पष्ट दिखाई पडती है। पचास के और पचासोत्तर नाटकों का अंतर यही है कि पचास के बाद के नाटक जीवन के निकट हैं। उनके संवाद दर्शक को सीधे संबोधित करते है। राकेश की भाषा यात्रा को सुरेन्द्र वर्मा ही आगे ले जाते है। उन्होने भी एक सही नाट्य भाषा के लिए अपनी

तलाश जारी रखी हैं। उनकी दृष्टि में संवाद नाटक का शरीर है। इस लिए सुरेन्द्र वर्मा ने अपने नाटकों में सही संवाद शैली को अपनाया है। नाटकीय भाषा और संवाद शैली के बारे में कल्पाना पत्रिका में इस प्रकार लिखा गया है कि - ***" भाषा सरल हो पर मामूली न हो ताकि गहरे भावों को वहन कर सके। दृश्य स्पष्ट हो, अनिवार्य हो, तमाशा भरे हो। पर ढांचा विश्वासनीय हो। ऐसी भाषा और ऐसे दृश्य का जब मेल बैठ जाता है तब एक अनमोल नाटक पैदा होता है।"[38]***

शिल्प की दृष्टि से सुरेन्द्र वर्मा के नाटकों में पात्रो के अनुकूल और सहज अभिव्यक्ति को लिए हुए है। सुरेन्द्र वर्मा के कथ्य ऐतिहासिक होने के कारण उनकी भाषा में तत्कालीन सांस्कृतिक वातावरण का पिरवेश मिलता है। द्रौपदी नाटक में सुरेन्द्र वर्मा का संवाद-कौशल एक नयी प्रयोगधर्मिता का सूचक है। 'द्रौपदी' नाटक में मनमोहन पाँच रूपों में पाँच तरह के अनुकूल संवाद रचना करने में बडी जागरूकता दिखाते हैं। वर्तमान युग के विज्ञान और अभिशाप, छटपटाहट, महनगरीय संत्रास आदि को सही भाषा के साथ स्पष्ट संवादों द्वारा वर्मा ने प्रस्तुत किया है। यथा -

"सुरेखा :	***तो?- कैसे लगा तुझे?***
मंदा :	***(जैसे प्रतिक्रिया याद कर रही हो) कैसे लगा ? पहले गुस्सा फिर नफरत फिर दुख-। (हँसकर) और फिर कुछ नहीं -।***

सुरेखा : (विचारमग्न) फिर कुछ नहीं -।
मंदा : हाँ । - क्योंकि उसके सिवा और चारा-क्या है ?
सुरेखा : किसके सिवा ?
मंदा : (चुनौती के स्वर में) नहीं पन के सिवा।
सुरेखा : नहीं ऽ ऽ पन -
मंदा : घर बहुत बडी चीज है, रिखी। घर हो, तो औरत को बहुत कुछ दरगुजर करना पडता है। (कडे स्वर में) करना चाहिए, वरन् कहीं ऐसी न हो कि -(पानी का गिलास उठाकर गरागट पी जाती है) चलें ?, देर हो रही है।"[39]

सुरेन्द्र वर्मा ने अपने नाटकों में संवादों के बीच विराम का बहुलता से प्रयोग किया है। कुछ जगहों में शब्द से कुछ नहीं बनता वहाँ केवल मौन काफी है। वर्मा 'मौन' और 'विराम' तीव्र नाट्यलक्षणों की सृष्टि करने में सफल रहे हैं। ये 'मौन' क्षण और 'विराम' दो संवादों के बीच अथवा एक संवाद के पश्चात् अथवा जटिल स्थितियों के बीच आये हैं। वर्मा के प्रसिद्ध नाटक 'सूर्य की अंतिम किरण से सूर्य की पहली किरण तक' में प्रयुक्त विराम सघन नाट्यक्षणों की सृष्टि मिलता है -

" प्रतोष : शील........!
विराम।
शीलवती : हूँ.......!
विराम।
प्रतोष : चुप क्यों हो.....?
विराम।
शीलवती : नहीं तो ...... !
विराम।
प्रतोष :कुछ बोलो....?
विराम।
शीलवती : ऊँहूँ........!
प्रतोष :दीप जला दूँ .....?
विराम।
शीलवती : नई......सब कुछ बदल जाता है प्रकाश के साथ ....।"[40]

ऊपर के संवाद को परखने से हमें स्पष्ट होता है कि नाटक में ऐसा स्थल होते है जहाँ केवल विराम और मौन ही सार्थक लगते हैं। ऐसे स्थलों पर शब्द बेकार जान पडता है। संवाद हीनता, संकोच, स्थिति की विसंगति या विषयांतर को प्रकट करने के लिए कुछ जगह विराम लगाना ही अच्छा लगता है। बातों से काम नहीं होगा तो मौन वह कार्य पूराकर सकती है। पात्रों के तनाव को व्यक्त करने के लिए, संवेदना का असली की असली अभिव्यक्ती के लिए मौन ही सही माध्यम साबित होता है।

सुरेन्द वर्मा के संवादों में लय और वाक्य विन्यास का भरपूर प्रयोग मिलता है। कहाँ स्वर को ऊपर ले जाना, कहाँ नीचे ले आना है, कहाँ समतल रहना है.....कहाँ भावावेश में जल्दी होगी, कहाँ धीमापन को रखना है आदि विषयों के ज्ञाता और सार्थक प्रयोग सुरेन्द वर्मा है। सही लय से संवाद के आरोहण और अवरोहण का पता चलता है। लय को कुछ संदर्भों में केन्द्र से परिधि तक और परिधि से केन्द्र तक ले जाना नाटककार के शिल्पज्ञान का पता करवाता है। भाषा के साथ विन्यास करने में सुरेन्द्र वर्मा तत्पर है। यथा -

"यह शयनकक्ष साक्षी है मेरी पीडा का....ये भित्तियाँ और गवाक्ष...यह मुत्कालाप.....(छोटा सा विराम) यह शैय्या....तुम मेरे शरीर से ताप लेना प्रारंभ करते थे.....नग्न नारीत्व से अपने पुरुषत्व को जागृत करना चाहते थे - आलिंगनों से, चुंबनों से, स्पर्शों से और नख चिह्नों से..मेरी पूरी होठों पर सीत्कार ....मेरे अंग प्रत्यंग में कँपकँपाहट की तरंगें - मैं पूरी तरह तैय्यार....पके फल की तरह टूट पडने को, उमडते जार की तरह बांध तोड देने को, भरे मेघों की तरह बरस पडने को, और प्यासी धरती की तरह एक-एक बूँद अपने में समा लेने को.....।"[41]

आधुनिक नाटकारों द्वारा वातावरण, परिवेश और कथ्य को दृष्टि में रखकर भाषा का चयन किया गया है। उन्होंने संघर्षपूर्ण स्थितियों, चुनौती देने वाले पात्रों और विषयों की खोज ही नहीं अपितु श्रोता तक पहूँचने के लिए सही शब्दों का प्रयोग भी करते है। 'करफ्यू' नाटक में श्री लक्ष्मीनारायण लाल छोटे छोटे शब्दों से संवाद बनाते है। उस नाटक में कहीं भी दो पंक्ति स् ज्यादा संवाद नहीं मिलते है। विराम चिह्नों को भी सही तरह इस्तेमाल किया गया है। -

गौतम : ***हेलो..हा, कविता.....फोन की घंटी ....घर में ही हो। थोडी तबीयत खराब है..... क्या..हूँ.ओ हाँ...हूँ..हूँ.***

रख देता है।

गौतम : ***शहर में काफी वारदात हुई है - अब शान्त है..लेकिन***

टेंशन अभी है।

मनीषा : *टेंशन कम होने में समय तो लगता ही है।*

गौतम : *आपकी ऊँगलियाँ कितनी प्यारी हैं।*

मनीषा : *तो आप यहाँ से शुरु करते हैं?*

गौतम : *(चुप)*

मनीषा : *विलम्बित लय में बडा ख्याल.....(नकल करती है)*
अ...आ..आ...आ....आ...आ..आ......आ.....आ...
कित....नी...खू....ब....सूरत....है।"[42]

जब से हिन्दी नाट्य प्रक्रिया में नुक्कड नाटक का चयन हुआ है तब से परिवेशगत शब्दों का प्रयोग नाटकों में प्रारंभ हुआ। नुक्कड नाटक समाज का सही प्रतिबिंब करता है। नुक्कड नाटक भाषा के पीछे प्रगतिशील चेतना भरी हुई है। नुक्कड नाटककारों ने जन सामान्य भाषा को अपनाये है। जिस भाषा का प्रयोग परंपरा से होती आ रहा है उसी के सरल, सीधे, अर्धगर्भ शब्दों को लेकर उन्होंने अपनी भाषा का निर्माण किया है। राजनीतिक संभावनाओं के पीछे से निकला हुआ नुक्कड नाटक को अपने कार्य के लिए सही भाषा की आवश्यकता है। नुक्कड नाटक में प्रयुक्त होनेवाली भाषा किसी विद्वत्ता या पांडित्य का प्रदर्शन नहीं करती है। बल्कि आम जन की सहज प्रस्फुटित भाषा ही कही जा सकती है। सीधी ,सरल सपाट भाषा का प्रयोग नुक्कड नाटक के लिए अपेक्षित है।

नुक्कड नाटककारों ने भाषा को वास्तविकता, यथार्थ, सामाजिक कुंठाओं को सामान्य लोगों तक संप्रेषित करने के लिए एक पुल की तरह उपयोग किये है। परन्तु नुक्कड नाटक अपनी खास जरूरत की तरह से अपने लिए एक अलग व्याकरण बनाता है। इस संदर्भ में सफदर हाशमी कहते है कि - ***" नुक्कड़ नाटक में संवाद लम्बे और बोझिल नहीं बल्कि हल्के फुल्के, तेज तर्रार और संक्षिप्त होने चाहिए। भाषा जठिल न होकर सरल और खूबसूरत होनी चाहिए। मुक्त छंदों का प्रयोग भी हमने संवादों के रूप में किया है। प्लाट इस तेजी से विकासित होना चाहिए कि दर्शकों को हर क्षण कोई नई उपलब्धि होती रहे। गति नुक्कड नाटक के कामयाब प्रदर्शन में सबसे ज्यादा महत्वपूर्ण तत्व है।"***[43] नुक्कड नाटक किसी रंगसज्जा पर निर्भर नहीं होता इसलिए संवाद ही उसे अधिकाधिक प्रभावी बनाता है। उनके संवाद तथ्यों को ज्यों का त्यों प्रस्तुत करते हैं। यथा -

"बाबा :....चल उठ और लाला से आटा ले आ।

औरत : बाबा वह आटा नहीं देता।

बाबा : अरे आठा क्यों नहीं देता।.... उधार देता है कोई भीख नहीं देता।

औरत : पर बाबा उसका बेटा कहता है.....

बाबा : क्या कहता है ?

औरत : कहता है ......कहता है..अगर उधार में आटा चाहिए तो दुकान बंध होने के बाद अकेले मैं आना।"[44]

नुक्कड नाटक के बाद दलित साहित्य एक प्रकार की आक्रमकता से उभरकर आयी है। हिन्दी का दलित साहित्य अत्यंत संभावनपूर्ण है। भाषा के स्तर पर देखने से दलित नाटकों में कस्वाती बोलियों का ज्यादातर प्रयोग किया गया है। आज भी दलितों की बस्थियाँ सवर्ण समाज से अलग रहती है और उनके कुए, नाल और उत्सव समारोह अलग रहती हैं। उसी तरह उनकी भाषा भी अलग है। दलितों के जीवन के वास्तविक एवं कटु अनुभव और उनकी अभिव्यक्ति के प्रसंग अलग है। इसलिए जनमानस भाषा और जीवन से जुडी हुई भाषा को दलित नाटककार माता प्रसाद और नाग बोड्स आदि अपने नाटकों में सम्प्रेषित करते है। यथा -

"कटोरी : तो तुम बन जाऊ न गुँडा ?

मातादीन : मैं गुँडा ? (हँसते हुए) मैं गुँडा.....

कटोरी : सच्ची, झूठी ना कहि रही मैं !

मातादीन : गुँडा का ऐस बनत हैं, बावरी ?

कटोरी : आदमी ई होत है ना गुँडा ?

मातादीन : हट्टि. अचछी बात ना गुँडा बनिबो।

कटोरी : अच्छी बात कौन सी है तो ? ....मैं पूछत हो अच्छी बात कौन सी है ? ब्याज कित्तो है "[45]

इस प्रकार 1950 से 2000 तक के नाटकों में छोटे-छोटे संवादों में अनेक महत्वपूर्ण विषयों को व्यक्त करते है। आधुनिक नाटकों में सशक्त, यथार्थपरक, कथोपकथन हमें मिलता है। अपने नाटकों में संवादों के लिए आम बोलचाल की भाषा का ही प्रयोग करते है। अनेक संवादों है जो सामाजिक मनुष्य की पीडा, और मुक्ति की आकांक्षा को मुखर कर जाते है। संस्कारी और परिष्कृत भाषा शब्दों, ध्वनि संयोजन, लययुक्त संवाद रचना आदि की सहायता से आधुनिक नाटककार ने शिल्प को और मजबूत किये है। नेमिचन्द्र जैन के शब्दों में - ***" पात्रों के चरित्र्य और संस्कारों के कारण नाटककार को जीवंन बोलचाल की सर्जनात्मक नाट्य भाषा के प्रयोग के बावजूद नंगी-बाजारू भाषा से बच निकलने की सुविधा मिल गई है।"[46]***

रचना का संघर्ष जो नाटक की सृजनात्मक भाषा में व्यक्त होता है। संघर्ष पूर्ण नाटक को सशक्त माध्यम बनाकर दर्शक तक पहुँचाने में आधुनिक नाटककार की भाषा महत्वपूर्ण भूमिका निभाती है। छोटे-छोटे अर्थपूर्ण संवादों के साथ व्यक्ति के आंतरिक यथार्थ को व्यंजित करने का प्रयत्न करती है। आवश्यकतानुसार वाक्य विन्यास, वाक्य संरचना, शब्द चयन आदि भाषिक तत्वों को अंकित करने के लिए सही संवादों की आवश्यकता है। उस आवश्यकता का परिपूर्ण विश्लेषण आधुनिक नाटकों में हुआ है।

5.3 प्रभावोत्पादकता की सक्रिय चेष्टा : शब्द योजना

हरेक साहित्यकार को अपने अनुभव को अनुभव पूर्ण अनुभव कराना पडता है। साधारण रूप से अनुभव यथार्थ से दूर नहीं रहते वरन् यथार्थ के साथ लिपटा रहता है। अपने अनुभव के केन्द्र तत्व रहता है उसको पाठक या दर्शक तक पहूँचाने के लिए सही शब्दों को चुनना चाहिए। शब्दार्थ प्रक्रिया के साथ संप्रेषण की भूमिका निभाना भाषा का प्राथमिक कार्य है। उस प्रथम कार्य को सफल करने के लिए सशक्त नाटककार ही नहीं पाठक गण भी रहना जरूरी है। साहित्य रचना में इस मेल मिलाप का बडा ही योगदान रहता है कि जिस विषय का जिक्र रचनाकार द्वारा होता है उसका भाव बिना हिचकिचाहट से पाठक या दर्शक तक पहुँचना जरूरी है।

शब्द एक स्वतंत्र इकाई है। अनेक शब्दों के युग्मों से वाक्य बनता है। हरेक शब्द की अपनी एक पहचान और स्वतंत्र परिकल्पना होती है। जन्म की दृष्टि से या अर्थ के दृष्टि से हर शब्द के पीछे एक कहानी रहती है। आधुनिक काल के नाटकों में उर्दू, संस्कृत तथा अग्रेजी शब्दों को मिल जुलाकर लिखना सहज प्रक्रिया बन गयी है। हिन्दी की बोलचाल की भाषा और मुहावरे हिन्दी उर्दू की मिलीजुली सम्पत्ति है। आधुनिक नाटकों में ज्यादातर अंग्रेजी शब्दों का और बहुत से तद्भव आंचलिक शब्दों का प्रयोग हुआ है। साधारण बोलचाल में प्रयुक्त अंग्रेजी शब्दों का नाटक में प्रयोग करने से विषय वस्तु की गहराई के बावजूद अभिनय बडे सीमित वर्ग में ही होता है। अंग्रेजी से अनुवाद करते समय तो कुछ जगह यथार्थवाद और मूल नाटक की रक्षा की दृष्टि से ज्यो का त्यों रहना अच्छा लगता है। लेकिन स्वदेशी मंच पर स्वदेशी नाटक को अंग्रेजी शब्दों की ज्यादातर प्रयोग करना उचित नहीं लगता है।

ऐतिहासिक और सास्कृतिक वातावरण को प्रतिष्ठित करने के लिए संस्कृतनिष्ट शब्दों का प्रयोग किया गया है। 'लहरों के राज हंस', 'आषाढ का एक

दिन', 'सूर्य की अंतिम किरण से सूर्य की पहली किरण तक', 'आठवाँ सर्ग' आदि नाटकों में काल की दृष्टि से ज्यादातर संस्कृतनिष्ट शब्दों का प्रयोग मिलता है। इस काल के भाषा को दृष्टि में रखकर श्री देवेन्द्र कुमार गुप्ता लिखते है कि - ***" संस्कारी और परिष्कृत भाषा शब्दों, बिंम्बों, ध्वनि संयोजना, लय युक्त संवाद रचना आदि की साहायता से उत्तेजक कथ्य को कुत्सित होने से बचा पायी है।"***[47]

'अधायुग' गीत नाट्य में धर्मवीर भारती संस्कृत श्लोकों को ज्यादातर इस्तेमाल करते है। युगानुकूल भाषा प्रयोग से अंधायुग और भी सशक्तरूप से संप्रेषित किया गया है। नीचे दिए गये उद्धरण से अंधायुग में संस्कृत शब्दों का परिचय हमें मिलता है -

"कोटिकोटि योजन तक दहाडता हुआ समुन्द
मेरे वैयक्तिक अनुमानित सीमित जग को
लहरो की विषय-जिह्वाओं से निगलता हुआ
मेरे अंतर्मन में पैठ गया
सब कुछ बह गया
मेरे अपने वैयक्तिक मूल्य
मेरी निश्चित किन्तु ज्ञानहीन आस्थाएँ"[48]

ऊपर के पद्य में योजन, समुद्र, वैयक्तिक, जिह्वा, अंतर्मन, मूल्य, आस्था, आदि संस्कृत शब्द हैं। मोहन राकेश के नाटकों में भी संस्कृत शब्दों का प्रयोग ज्यादा हुआ है। इन नाटकों का भाषिक संस्कार मूलतः साहित्यिक है और अपने समकालीन दर्शकों की दृष्टि से देखने से व्यावहारिक जीवन और बोलचाल से भिन्न है, इस लिए इन शब्द अपेक्षित ऊष्मा, अंतरंगता, अपनत्व और उत्तेजना नहीं दे पाती। अषाढ का एक दिन नाटक में लांछन, आहत, पार्वत्य-भूमि, हरिणशावक, विचक्षणता, निस्संदेह, अनर्गलता क्षम्य, कोमलता आदि अनेक शब्द हैं। 'लहरों के राज हंस' में गच्छामि, कामोत्सव, व्यस्थ, अवज्ञात्मक, मास्तिष्क कमलताल, अतिथि, दीपाधार, श्रृगार-कोष्ठ आदि शब्दों का भरपूर प्रयोग हुआ है।

'आधे अधूरे' नाटक में तो उर्दू मिश्रित हिन्दी का अभिव्यक्ति मिलती है। आधे अधूरे नाटक का परिवार पंजाबी परिवार है, जहाँ सामान्यतः उर्दू का ही अधिक प्रयोग होता रहता है। इस संदर्भ में स्वयं राकेश ही लिखते है कि - ***" आधे अधूरे में अधिकतर उर्दू का प्रयोग है। फिर उसमें मेरी लोक भाषा, कुछ स्थानीय मुहावरे और कुछ अंग्रेजी भाषा के शब्द और अभिव्यक्तियाँ भी इसमें शामिल है।"***[49] इस के

अतिरिक्त अनेक ध्वनियों का उपयोगीकरण इस नाटक में ज्यादातर हुआ है। जैसे अ -अ-अ-अ-अ अ-अ-अ ; ह....ह....ह....ह...ह...ह..ह...ह.ह...ह ; हुश-हुश-हुश-हुश-हुश; फुः - फुः - फुः - फुः ; हूऽ -हूऽ.....हूऽ....हूऽ....हूऽ....हूऽ....हूऽ ; फू......फू......फू....फू...फू.....फू..; ओ - ओ - ओ - ओ - ओ - ओ - किट्पिट, किट्पिट, किट्पिट ; ओह्, ओह्, ओह्, ओह्, ओह्; चख, चख, चख ; ओफ्फोह, ओफ्फोह, ओफ्फोह ; इत्यादि सार्थक नाटकीय शब्द का प्रयोग किया गया है।

अंग्रेजी शब्दों का ज्यादा तर प्रयोग श्री लक्ष्मीनारायण लाल के नाटक 'करफ्यू' में मिलते हैं। नाटक का शीर्षक ही अंग्रेजी में रखा गया है। कुछ संदर्भों में अनेक वाक्य ही अंग्रेजी में कहाया गया है। पढे लिखे व्यक्तियों के बातचीत में तो अग्रेजी शब्द निकलना गलत नहीं है लेकिन वाक्य का अंग्रेजी में कहलवाना उचित नहीं लगता है। - ***"नो, थैंक्स, नाटमी। व्याई, यू डोन्ट टेक? आई एम ए मार्डन मैन।"***[50] इस उद्धरण में तीन अग्रेजी वाक्यों का प्रयोग मिलता है। इतना ही नहीं फैकट्री, होम, स्वीट होम, फ्लर्ट, टैक्सटाइल, टाई, टैम्प्रेचर, नानसेन्स, रेडी, स्टेडी, हाइपर टेन्शन, इन्ही बिशन्स, वाइस-चान्सलर, किस, रिसर्च स्कालर, आदि शब्द हमें बढती अंग्रेजी केलिए साक्षीभूत है।

योर्स फेथफुली नाटक से ही पता चलता है कि मुद्राराक्षस का यह नाटक में भी अंग्रेजी भाषा का प्रतिफलित रूप हमें मिलता है। इस नाटक में कुछ जगह पूरे के पूरे संवाद अंग्रेजी में ही चलता है। कुछ जगह अंग्रेजी को हिन्दी में अनुवाद कर करते है लेकिन उस दृष्टि में नाटककार का कोई प्रयत्न हमें नहीं मिलता है। एक ही अंग्रेजी शब्दों को बारबार उपयोग किया गया है। -

"फण्डमेंटल रूल्स मेड बाई गवर्नर जनरल इन काँउसिल.....फण्डमेंटल रूल्स मेड बाई गवर्नर जनरल इन काउंसिल"[51]

और एक जगह

"आफिस आर्डर नम्बर सच एण्ड सच, डेटेड सच एण्ड सच। सब डेक्ट डिसिप्लिनरी एक्शन अण्डर रूल्स फोर्टीन आफ सेन्ट्रल सिविल सर्वीस क्लासिफिकेशन कण्ट्रोल एण्ड अपील रूल्स....."[52]

सुरेन्द्र वर्मा के नाटकों में ऐतिहासिक परिप्रेक्ष और अंग्रेजी दोनों शब्दों का प्रयोग दिखाई देता है। 'सूर्य की अंतिम करिण से सूर्य के पहली किरण तक', 'आठवाँ सर्ग' नाटकों में सास्कृतिक वातावरण और परिवेश के अनुसार संस्कृतनिष्ठ शब्दों का प्रयोग किया गया है। जैसे -महादेवी, अमात्य, महिषी, बलाधिकृत, तोरण, स्तम्भ,

मदिरा, चपक, दण्डनायक, अन्तःपुर, मंडप आदि शब्दों नाटक को और भी आकर्षक बनाने में सफल हुई है। द्रौपदी नाटक में सामान्य शब्दों के द्वारा काम संबंधी संकेत करवाते है। जैसे ब्लावुज के बटन, थ्यौरी या प्राक्टिकल, पाँचमिनट का सवाल, वो चीज इत्यादि।

नुक्कड नाटक में तो जन भाषा का ज्यादा प्रयोग मिलता है। कस्बाती बोलियों को लेकर जन मन तक जाना उस नाटक का प्रथम मकसद रहता है। पात्रानुकूल भाषा को प्रयोग के साथ साथ छोटे-छोटे अर्थयुक्त श्ब्दों को प्रयोग करना इन नाटकों की विशेषता है। व्यंग्यपूर्ण शब्दों को लेकर सामान्य लोगों को दृष्टि में रखकर सही संप्रेषण की मकसद को

मूल में रखकर लिखा गया है। इसी लक्षण के कारण नुक्कड नाटक विशेष रूप से प्रसिद्धी पाई है। यथा -

"सिपाही : मंत्री जी की स्वागत कोई भी कर सकता है...सबको अधिकार है...वहाँ समता..... बिरादरी है...अंधा हो काना हो, लंगडा हो, लूला हो, उचक्का हो, बेईमान हो, फ्राड हो ... अफीमची हो, स्मैंकिया हो, चरसिया हो, या शराबी हो,... सब मंत्री का स्वागत कर सकते है।...हमें तो संख्या चाहिए.....संख्या।"[53]

हबीब तन्वीर अपने छत्तीसगढी कलाकारों से छत्तीसगढी भाषा में रंग नाटक प्रस्तुत करके भाषा का महत्त्व बढाते है। उन्होने विदेशी नाटकों के रूपांतर करके देशीय मंच को सुशोभित किया। तन्वीर की छत्तीसगढी शब्दों के बारे में रघुवीर सहाय लिखते है कि - ***"वह समझ छत्तीसगढी कलाकारों के जीवन से और उनके आत्मसाक्षात्कार से पैदा हुई थी। जो बोली वे बोल रहे थे वह उनका आशय था, उनका साहित्य नहीं। इसलिए उनका बोलना उनके दिलसे और दिमाग से निकला था, उनकी कला से नहीं। उसमें बहुत से शब्द थे जो उन्होंने दिल्ली की आबादी में रहकर सीख लिये। लेकिन वे उन शब्दों के गुलाम नहीं थे।"***[54]

दलित नाटक आधुनिक समाज की माँग है। हिन्दी आधुनिक नाटकों में दलित चेतना ज्यादातर मिलती है लेकिन भाषा का आभाव है। माता प्रसाद के नाटकों में भावों में दलित चेतना है लेकिन भाषा में नहीं है। जो शब्द भण्डार की आभिव्यक्तीकरण जिस तरह दलित कविता में मिलती है, नाटक में नहीं। नाग बोडस

के 'दलित' नाटक में कुछ देहाती शब्दों का इस्तेमाल करके ऐसे प्रयोग करता है उतना सार्थक नहीं मान सकते हैं।

आधुनिक हिन्दी नाटकों में खासकर साठोत्तरी नाटकों में अंग्रेजी शब्दों का प्रयोग अधिक मिलता है। जन भाषा का ही उपयोगीकरण हुआ है लेकिन आधुनिक नाटकों में पढे लिखे मध्यवर्गीय पात्रों के कारण अंग्रेजी शब्दों का ज्यादा भावपूर्ण रेखाओं से निर्मित है। इस काल की भाषा में गहन अर्थगर्भित सटीक संवाद, सहज सरल शब्द चयन और बोलचाल की लययुक्त वाक्य निर्माण जैसी अनेक विशेषताएँ है। अनेक नये शब्द को आधुनिक नाटकारों ने गढा है और अपनी साहित्य रचना में वैविध्यपूर्ण भाषा को समृद्ध किये हैं।

5.4 सृजनात्मक ऊर्जा के संवाहक : प्रतीक

प्रतीक का अर्थ है चिन्ह, किसी मूर्त के द्वारा अमूर्त की पहचान अभिव्यक्ति का एक बहुत बडा माध्यम प्रतीक है। जो वस्तु हमारे नहीं है उसका प्रत्यक्षीकरण प्रतीकों के माध्यम से ही संभव है। विभिन्न विद्वानों द्वारा ही की गयी परिभाषाओं के आलोक में कहा जा सकता है कि प्रतीक एक ऐसी शब्द रचना है जिसके संकेत से किसी भावना, विचार या पदार्थ का बोध होता है। मानव जीवन में प्रतीकात्मक सृष्टि का अवधारणा महत्व है। जो बात बिम्बों के माध्यम से वय्क्त नहीं हो पाती है उसे प्रतीकों द्वारा व्यक्त किया जा सकता है।

जब काव्य वर्णनों का त्याग करके भावकुलशता की ओर उन्मुख होता है तब भाषा के प्रयोग में सजगता आ जाती है। जब कथ्य वर्णनात्मकता से भावात्मकता की ओर बढती है तो लेखक को अभिव्यक्ति की प्रेषणीयता से जूझना पडता है, उसे अभिव्यक्ति के लिए नये शब्दों की खोज करनी पडती है। जो अर्थ सीधे अर्थ में नहीं बंधते उसको प्रेषित करने के लिए प्रतीकों का सहार लेना पडता है। प्रतीकों के बनने की क्रिया के संबंध में डॉ. चन्द् कला ने बताया है कि - ***" जब हम किसी और तरह से अपने भावातिरेक को अभिव्यक्त करने में असमर्थ होते है तब प्रतीकों का आश्रय लेते है। हमारे वाणी की गति परिमित है और स्वर व्यजना युक्त सार्थक शब्दों की शक्ति की बहुत थोडी होती है अभिधा के लिए जब भावों का आवेग दुर्भर हो जाता है तब लक्षणा और व्यंजना की सहारा अपेक्षित होती है। हमें वाच्यार्थ से आगे बढकर लक्षणार्थ और व्यंजनार्थ की खोज पडती है। वहीं पर शब्दों को प्रतीकों का पद प्राप्त होता है।"*** [55]

प्रतीकों का सहारा लेकर ही लेखक अपने सूक्ष्म चिंतन को अभिव्यक्त करता है। अतः प्रतीक अनुभूति का मूर्त आधार होता है और वह अपने से बडे किसी सूक्ष्म भाव या अभिप्राय को व्यंजित करता है। स्थूल वस्तुगत आधार को सूक्ष्म मानसिक अर्थों को स्थूल वस्तुगत आधार से जोडता है। प्रतीक के संबंध में हिन्दी कोश में कहा गया है - ***" मनुष्य का समस्त जीवन प्रतीकों से परिपूर्ण है। वस्तुतः मनुष्य मूलतः प्रतीकों के माध्यम से ही सोचता है।.... कुछ प्रतीक साराभौम होते है, जैसे सिंह वीरता का, स्वेत रंग पवित्रता का, श्रृंणाल कायरता का और लोमडी चतुराई का प्रतीक है।"***[56]

प्रतीक केवल चिन्ह या संकेत मात्र नहीं है, और न ही उपमान है यह तो भाषा को शक्ति प्रधान करनेवाला उपकरण है। जहाँ भाषा भावों की अभिव्यक्ति में असफल रहती है वहाँ प्रतीक उन्हें सफलता पूर्वक व्यक्त करने का कार्य करते है। अतः प्रतीक संकेत तक ही सीमित नहीं है वह बहुत कुछ है, उसका अर्थ व्यापक है। लान्गेज अंड रियालिटी नामक पुस्तक में अर्बन ने इस प्रकार लिखा है कि - ***" A Symbol is always a sign but it is much more than a sign."***[57]

काव्य सर्जन और प्रेषणीयता का आधार प्रतीक ही है। यह अभिव्यक्ति का ही नहीं मानवीय चिंतन एवं अनुभूति का भी महत्वपूर्ण साधन है। प्रत्येक प्रतीक में अमूर्त के मूर्तन और मूर्त के अमूर्तन की प्रक्रिया समन्वित रहती है। पचासोत्तर नाटकों में इस प्रतीक विधान अर्थगत संप्रेषणीयता का सफल चित्रीकरण हुआ है। - ***"मानव जीवन के विभिन्न पहलुओं पर उनकी सूक्ष्म एवं पैनी दृष्टि जाती है और सीधे-साधे शब्दों, प्रतीकों एवं प्रतीकात्मक शैली के साथ ही तदनुरूप भाषा एवं शिल्प की योजना द्वारा नाटककार उसे दृश्यत्व देता है।"***[58]

'अंधायुग' नाटक नामकरण से ही हमें इसकी प्रतीकत्मकता का पता चलता है। समकालीनता का सही चित्र इस अंधायुग के द्वारा भारती हमें दिखाने का प्रयास करते है। मिथक यानी माइथालजी के एक अंश को लेकर उसे आधुनिक दृष्टि से उपस्थिति करने का प्रयास करते है। इस अंधायुग शब्द की प्रतीकत्मक शक्ति के बारे में बताते हुए जयदेव तनेजा इस संदर्भ में लिखते है कि - ***" अंधायुग के अंतकाल में नाटककार प्रेतात्मा के माद्यम से केवल पात्रों की ही अंतरिक असंगति समझने का प्रयास नहीं करता बल्कि उस संपूर्ण युग को भी अंधे समुद्र के साँग रूपक के माध्यम से गहराई तक चीर-फाड कर देखता-दिखाता है। उसके अनुसार -यह अंधायुग चौतरफा पहाडों से घिरे एक ऐसे अंधे समुद्र की तरह है जिसमें दर्शे और गुफाओं से उमडते हुए भयानक तूफान चारों ओर ही उसे मथ रहे है और नागलोक के गहवर में***

एक दूसरे से लिपटे हुए केंचुल चढे सैकडों अंधे साँप टेढे-मेढे, रेंग-रेंग कर उसके बहाव में गति पैदा कर रहे हैं अर्थात सैकडों धाराएँ उपधाराएँ, सिद्धांत, विचार मान्यताएँ और वाद परस्पर संघर्ष कर रहे हैं और अवलोकन की दमित इच्छाओं के वशीभूत हो कर मोहांध और विषाक्त प्रकृति के व्यक्ति आँखों पर केंचुले की तरह सफेद पट्टियाँ बांधकर सर्वव्यापक अंधता और विनाश का कारण बन रहे है।"[59]

'आषाढ का एक दिन' नाटक मोहन राकेश की विशेष कृति है। इस नाटक में चारित्रिक स्तर पर कालिदास सृजनात्मक कलाकार का प्रतीक है तो मल्लिका कालिदास की आस्था की विस्तार रूप का संकेत करती है। विलोम आक्रमंकारी मनःस्थिति का प्रतीक है। हरिणशावक कोमलता और प्रकृति तन्मयता का प्रतीक है। 'लहरों के राज हंस' नाटक प्रत्येक घटना, स्थिति, मनः स्थिति के साथ लेखक एक न एक प्रतीक प्रस्तुत कर देता है। स्वयं राकेश शीर्षक के बारे में इस प्रकार कहते है कि - ***"राजहंस, नंद और सुन्दरी के समानान्तर हैं -लहरे उनकी परिस्थितियाँ।"***[60]

इस नाटक में सुन्दरी जीवन के भोग पक्ष का प्रतीक है तो गौतम बुद्ध योग पक्ष का प्रतीक है। नंद द्वन्द्वग्रस्त मानव चेतना के प्रतीक है। नंद का चरित्र एक अन्य स्तर पर सुन्दरी के अहं का प्रतीक है। इस नाटक में पत्थर फेके जाने पर हंसों का आहत क्रन्दन और उनके पंखों की तेज फडफडाहट नंद-सुन्दरी के मधुर जीवन में शीघ्र ही होनेवासी उथल-पुथल, सम्बन्धों के तनाव और उनकी छटपटाहट का पूर्व संकेत है। यहाँ राकेश ने ध्वनि को प्रतीक की तरह प्रयोग किया है।

भारतीय मध्यवर्गीय जीवन के दस्तावेज जैसे नाटक आधे आधूरे है। इस नाटक भी प्रतीकात्मक दृष्टि से महत्वपूर्ण भूमिका निभाती है। इस नाटक में स्त्री सावित्री आधुनिक संघर्षशील स्त्री की प्रतीक है, महेन्द्र नाथ असफलता और पराजय के लगातार आक्रमण के प्रतीक है। सिंघानिया भ्रष्ट की, प्रेम खिलाडी जगमोहन समझदार आदमी के प्रतीक है। इस नाटक के बच्चे बिन्नी, किन्नी अस्वीकार, पलायन, आक्रोश, आत्म सम्मान के प्रतीक है। - ***" आधे अधूरे में आज के भारतीय मध्यवर्गीय जीवन के सूक्ष्म, जठिल अनुभवों, अनुभूत-अर्थ, अनुभूत सम्वेदनाओं, बहु आयामी वैविद्यपूर्ण स्थितियों और जूझते-टूटते आधे-अधूरे पात्रों की तनावपूर्ण विस्फोटक मनः स्थितियों को पूरी सच्चाई, ऊष्मा और विश्वासनीयता के साथ अपने साकालीन मुहावरे और बोलचाल की सृजनात्मक भाषा में पहली बार सफल नाटकीय अभिव्यक्ति मिली है।"***[61]

सुरेन्द्र वर्मा के नाटक 'द्रौपदी' महाभारत की द्रौपदी की तरह मनमोहन में पाँच पति और उसके जीवन के पाँच पहलुओं को एक साथ झेलने की आधुनिक नारी की प्रतीक है। उसी प्रकार भीष्म साहनी के नाटक 'हानुष' और 'कबिरा खडा बाजार में' दोनों के नाटक मध्ययुगीन वातावरण के अनुकूल आधुनिक नाटककार के प्रतिरूप है। हानुष और कबीरा आधुनिक कलाकार के प्रतीक है। सर्वेश्वर दयाल सक्सेना के नाटक 'बकरी' नाटक में बकरी गाँधी जी का प्रतीक है। उस नाटक में युवक चेतना के प्रतीक है। यह प्रतीक जनसाधारण से संबंध रखती है। - ***"गाँधी जी ने राजनीति में स्त्य और अहिंसा का जो मूल्य स्थिति किया, उसे परवर्ती नेताओं ने 'बकरी' बताकर, उन्ही स्थापित मूल्यों के आलोक में मूल्यों को तोडने का उपक्रम भी किया। गाँधीवादी आदर्शों को सत्य और अहिंसा की बकरी बताकर उन्होंने जनता का शोषण किया।"*** [62]

इस प्रकार समकालीन हिन्दी नाटककार नाटकीय प्रतीक एवं नाटकों में प्रतीक विधान के प्रति बहुत सचेष्ट एवं प्रयत्नशील रहा है क्योंकि जीवन की जठिलताओं एवं विषम परिस्थितियों से गुजरते हुए वह जो कुछ भी अनुभव करता है, उसे सीधे शब्दों में व्यक्त नहीं कर पाता। उसीकी अभिव्यक्ति के लिए उन्हें प्रतीकात्मक शैली ही अधिक उपयुक्त प्रतीत होती है। समकालीन हिन्दी नाटकों में विशेषकर राकेश, सुरेन्द्र वर्मा, मुद्राराक्षस के नाटकों में जीवन की त्रासादी एवं विसंगति, गतिविधियों के विविध प्रतीकों के माध्यम से व्यक्त करने का प्रयास देखा जा सकता है।

रचनाकार की रचेना मानसिकता की अभिव्यक्ति के एक सशक्त माध्यम के रूप में निर्मित होते है। इसलिए प्रतीक रचनाकार के भाव संप्रेषण और रचना धर्मिता के तत्वों को स्पष्ट करने के साथ ही अमूर्त भावों और विचारों का संवाहक बन जाता है। कथ्य की दृष्टि से ही नहीं शिल्प की दृष्टि से भी ये नाटक बहुत सफल हुए है। कथ्य को समर्थन दिलाने के प्रयत्न में प्रतीक बडी ही सफलतापूर्वक भूमिका निभाती है उसका सफल निरूपण आधुनिक नाटकों में हुआ है।

5.5 लेखकीय अनुभवों का मानदंड : बिम्ब विधान

नाटक में बिंम्ब का महत्वपूर्ण स्थान है। संपूर्ण नाम और रूप को लिए हुए है। उसी तरह भाषा भी शब्द, रूप, भाव और गुणों से युक्त है। काव्य में बिंम्ब अनुभितयों और संवेदनाओं को समझने के लिए उपस्थिति होते है। अतः इन्द्रियों द्वारा जिस अनुभव को प्राप्त किया जाता है उसका एक मूर्त अंकन मानस पलट पर हो जाता है। यह कहा जा सकता है कि बिम्बों के निर्माण में मनुष्य के स्पर्श, गंधादि अनुभूतियों

की ऐन्द्रीयकता काम करती है। बिम्ब के संबंध में नगेन्द्र कहते है कि -***"बिम्ब एक प्रकार का चित्र है जो किसी पदार्थ के साथ विभिन्न इन्द्रियों के सन्निकर्ष से प्रमाता के चित्त में उदभुत हो जाता है।"***[63]

अतः बिम्बात्मकता का अर्थ चित्र योजना या चित्रात्मकता है। वह नाटक के द्वारा ही पाठकों में प्रत्यक्ष वातावरण को उसी तरह प्रस्तुत करता है जिस तरह आँखों द्वारा देखा हुआ चित्र दृश्य पर प्रभाव डालता है। बिम्बो के संबंध में साहित्यकोश में कहा गया हैकि - ***"प्रस्तुत परिवेश के संवेदनों और प्रत्यक्ष के अतिरिक्त व्यक्ति के मानस में अतीत की तथा आस्तित्व न रखने, न घटनेवाली वस्तुओं और घटनाओं की असंख्य प्रतिमाएँ रहती है। बिम्ब शब्द व्यक्ति के मानस की प्रतिमाओं को ही पर्याय है।"***[64] डॉ. हजारी प्रसाद द्विवेदी साहित्यकार का प्रथम कर्तव्य बिम्ब ग्रहण कराने को ही मानते है - ***"कवि का प्राथमिक कर्तव्य बिम्ब ग्रहण कराना है और उसका साधन अप्रस्तुत विधान है। इसके बिना कवि मनोरम भावों को हृदयहारी बनाकर अपना वक्तव्य कह ही सकता ।"***[65]

अतः बिंम्ब का स्वरूप मूर्त होता है। साहित्यकार अपने अनुभवों द्वारा अपने मानस में जिन बिम्बों को संचित करता है उन्हें अपनी अभिव्यक्ति में प्रस्तुत करके उसे संप्रेषित करने का आभास करता है। ये बिंब कुछ कल्पाना प्रधान, वस्तु प्रधान, स्वरूप प्रधान स्वच्छंद, समन्वयात्मक होते है अर्थात लेखक कुछ कल्पना और वस्तु के सामंजस्य से और कुछ वस्तु प्रधान बिम्ब जिसमें कल्पाना का योग नहीं होता है जो नीरस वर्णन युक्त होतो है।

बिम्ब विधान की परंपरा अत्यंत ही प्राचीन है। वेदों और उपनिषदों में अनेक बिम्ब हमें दिखाई पडते है। प्राचीन काल के काव्यों में बिम्ब के विभिन्न रूपों को हम देख सकते है। आधुनिक युग में काव्य के लिए जिस बिम्ब योजना का प्रयोग हुआ है वह अंग्रेजी काव्य के बिम्ब विधान का प्रभाव लिए गए दिखाई पडते है। 'अंधायुग' नाटक में भरती ने ऐसे बिम्ब विधान के निर्माण में ऐसे ध्वनि उभराते है जिससे सृजन और विनाश के अनेक बिम्बों का चित्रण मिलता है। इस नाटक में भारती ने पुराने शब्दों की नई अर्थ छायाएँ देते है, उन्हें नूतन लय-संयोजनों में पिरोकर अभिप्रेत कराते है। धर्मवीर भारती की बिम्ब विधान के बारे में डॉ. जयदेव तनेजा इस प्रकार लिखते है कि - ***"पौराणिक वातावरण के निर्माण और पात्रों के परंपरागत रूप के भ्रम को बनाए रखने के लिए एक ओर यदि नाटककार उस काल में प्रयुक्त अस्त्र-शस्त्र के नाम, कर्म-काण्ड, धार्मिक रीति-रिवाज तथा संस्कारों, चमत्कारों एवं मान्यताओं का इस्तेमाल करता है तो दूसरी ओर वह उसे समकालीन बनाने के लिए***

आज के जन जीवन के शब्द प्रयोगों, मुहावरों, अभिव्यक्तियों तथा घटनाओं पात्रों की आधुनिक बौद्धिक व्याख्याओं को भी प्रस्तुत करने में कोई गुरेज नहीं करता। कथ्य और फार्म के धरातल पर विद्यामान परंपरा और प्रयोग, प्राचीनता और समकालीनता संस्कारी भावुकता और बौद्धिक आधुनिकता का द्वन्द्व भाषा के स्तर पर भी देखा जा सकता है।"[66]

धर्मवीर भारती के निम्न उदाहरण से उक्त वक्तव्य का सही सफलतापूर्वक विवेचन मिलता है -

"बादल नहीं है
ये गिद्ध हैं
लाखों करोडों
पाँखे खोले
लो
सारी कौरव नगरी
का आसमान
गिद्धों ने घेर लिया।"[67]

'आषाढ का एक दिन' नाटक में राकेश ने सांस्कृतिक समृद्धि और गरिमा प्रधान करने के लिए अपने बिम्बों के द्वारा अत्यंत प्रभावी रूप में प्रस्तुत किया गया है। राकेश के नाटकों में हमें अनेक विशेषता मिलते हैं। उसी प्रकार भाषा और रंगमंच की दृश्यात्मकता के आंतरित एवं अभिन्न रूप से जुडी वैविध्यपूर्ण और प्रखर बिम्बात्मकता राकेश की रंगसृष्टि की अन्य विशेषता है। 'आषाढ का एक दिन' नाटक में डॉ. गोविन्द चातक के अनुसार - ***" आषाढ के झरते मेघ, सुखाने के लिए फैलाए हुए गीले कपडे, अम्बिका की ठोस और मल्लिका का तरल भाव-मुद्राएं, अनुस्वर और अनुनासिक की बनावटी भंगिमाएँ ग्रामवासियों का भोला देहातीपन और राजपुरुषों के दर्पपूर्ण चेहरे और अंततह दीपक की लौ में इन सब चहरे में मल्लिका का एक चेहरे ऐसे दृश्य बिम्ब प्रस्तुत करता है जो रंगमंच की कविता रचना है।"***[68]

मोहन राकेश की जठिल संश्लिष्ट नाट्य भाषा पात्रो और स्थितियों से जुडी होकर विश्वसनीयता के कारण अतीत और वर्तमान को एक साथ प्रस्तुत कर देती है। 'लहरों के राज हंस'की भाषा में उसके द्वन्द्व और तनाव को प्रस्तुत करने की, बोलने के ढंग, लय टोन और शब्द विन्यास आदि अदभुत ढंग से विद्यामान है। पात्रों के प्रवेश और प्रस्थान तथा अंकों के आरंभ और अंत पर भी राकेश ने ध्यान दिया है।

पहले अंकों के अंत में अतिथियों के आगमण की प्रतीक्षा का यह नाटकीय बिम्ब द्रष्टव्य है -***"बाहर से पैरों का शब्द: नंद सामने के द्वार की ओर बढ जाता है, मैत्रेय भरा चषकं होठों के पास रोके प्रतीक्षा करता है,सुन्दरी आँखों में अनिश्चिय का भाव लिए गवाक्ष की ओर देख रही है।"***[69] इस बिम्ब को देखने से पहले अंक की समस्त कथा उपस्थित हो जाती है।

आधे अधूरे नाटक में राकेश ने नाटक के पहले पृष्ट में ही सबी पात्रों की परिचय कराते हुए इतना सहज वर्णन नाटककार किया है हमारी आँखों के सामने उनका चित्र उभरकर आ जाता है। घर का वर्णन करते समय अनेक बिम्ब सहज लगते हैं - ***"तीन दरवाजे तीन तरफ से कमरे में झाँकते है। एक दरवाजे कमरे को पिछले अहाते से जोडता है, एक अंदर के कमरे से और एक बाहर की दुनिया से। बाहर का एक रास्ता अहाते से होकर भी है। रसोई घर में भी अहाते से होकर जाना होता है। परदा उठने पर सबसे पहले चाय पीने के बाद डाइनिंग टेबुल पर छोडा गया अधटूटा टी-सेट आलोकित होता है। फिर फटी किताबों और टूटी कुर्सियों आदि में से एक एक।"***[70]

द्रौपदी नाटक में सुरेन्द्रनर्मा ने भी अपने नाटक में कुछ ऐसे बिम्ब प्रयुक्त किये है उससे सही चित्र आकर हमारे मन में बैठता है। सफेद नकाबवाला, काले नकाबवाला, पीले नकाबवाला, लाल नकाबवाला आदि पात्रों को हमारे आँखों के सामने दिखाते है। नाटक में एक जगह इस प्रकार बिम्बित करते है कि - ***"मेरी जिंदगी बिल्कुल रेगिस्तान थी रंजना। लेकिन जब से तुम आयी हो बहार लहरा उठी है चारों तरफ और ठंडी हवा के झोंके अठखेलियाँ करने लगे है।"***[71]

सुरेन्द्र वर्मा के दूसरे नाटक का शीर्षक ही बिम्बात्मक है। एक रात की समय को सूर्य के माध्यम को दृष्टि में रखकर रात के बोझिल अंधकार और रात के साथ जुडी दूसरी ध्वनि यौवन-बिम्ब धारण करती है। रात भर अंधकार घोर अंधकार राज्य करती है। शीलवती के काम संबंधी वक्तव्यों से अनेक बिम्ब हमारे सामने प्रस्तुत होते है। यथा - ***" मैं बार-बार पूछता अपने शरीर से कि इसके बाद क्या होता है ? अपनी नसों के जाल से ....अपने रूधिर की गर्मी से, अपने यौवन से, अपने पुरुषत्व से ....और उत्तर के रूप में मेरी आँखों के आगे आ जाता -अंधकार ....घना अंधकार..केवल अंधकार।"***[72]

'योर्स फेथफुली' नाटक मुद्राराक्षस स्टेनो और अफसर के बीच होने वाले अमानवीय कार्य के वर्णन में अनेक बिम्ब से हमें परिचय कराते है। सरकारी दफ्तरों में

होनेवाली व्यापक व्यवहार के बारे में स्पष्ट और सीधा वर्णन अपने बिम्बों से करते है। इस नाटक में मुद्राराक्षस ने कुछ ऐसे शक्तिशाली बिम्ब प्रयुक्त किये है जो किसी संवेगात्मक अनुभव को व्यक्त करते है। इन बिम्बों द्वारा अनुभवों को जीवंतता प्रधान की गई है। उसी प्रकार सर्वेश्वर दयाल सक्सेना ने अपने नाटक 'बकरी' में भारतीय राजनैतिक चित्र का आविष्कार किये है जिससे हमारे आँखों के सामने राजनीति का नंगा चित्र प्रस्तुत हो जाता है। जीवांत बिम्ब का सही दृश्य हमारे सामने रखने के लिए सर्वेश्वर दयाल प्रयत्न करते है -

> ***"जिसकी लेते हैं शारण उसको ही खा जाते हैं लोग,***
> ***जिसका थामा हाथ, उसका ही लगा जाते हैं भोग,***
> ***मुंह से निकला नाम, जैसे पेट से निकली डकार,***
> ***वह भी मजबूरी हो जैसे वह भी ज्यें अख्तियार,***
> ***जिसका झंडा हाथ में है वह समाया पेट में***
> ***जिसके ढंडा हाथ में है वह समाया पेट में***
> ***पेट ही बस पेट निकल आ रहा देश का।"***[73]

साहित्यकार की सौन्दर्य चेतना से संबंद्ध सभी उत्कृष्टताएँ और विकृतियाँ उसके बिम्ब विधान में परिलक्षित होती है। बिम्ब का संबंध जितना रचना की वस्तु से होता है, उतना ही रूप से भी। विषय को मूर्त और ग्राह्य बनाता है। रूप को संक्षिप्त और दीप्त....। आधुनिक साहित्यकार की श्रेष्ठता की परीक्षा उसके द्वारा आविष्कृत बिम्बों के आधार पर ही की जा सकती है। उसकी विशिष्ठता और उसकी आधुनिकता सबसे अधिक उसके बिम्बों से ही व्यक्त होती है। भीष्म साहनी अपने नाटक 'कबिरा खडा बाजार में', 'हानुष' दोनों में अंतर्द्वन्द्व की अभिव्यक्ति इन सशक्त बिम्बों द्वारा सुन्दर ढंग से करते है। प्राकृतिक बिम्बों का चित्रण भी नाटककार ने इस ढंग से किया है कि सजीव प्राकृतिक हाथ उभकर आता है। - ***" भाले, नंगी तलवारें, नेजे उठाये, पंक्ति बद्ध अनुयाइयों का प्रवेश, वे धीरे-धीरे आगे बढ जाते हैं। उसके बाद करतल-ध्वनि करते, नाचते- गाते, स्त्री पुरुष का प्रवेश रंग-रंगीले वस्त्र धारण किये, चिमरे-करतालें बजाते वे आगे बढ जाते है। पीछे छः साधुओं के कन्धे पर रखी चाँदी की झिलमिलाती पालती प्रगाट होती है, जिस पर ज्याजी रंग के दुकूल वस्त्र में, मोटे से जठाधरी, त्रिपुण्डधारी महंतजी बैठे हैं। बडी सी तोंड बहुत सी मालाएँ, आँखों में अपने बडप्पन का विश्वास। पालकी के आसपास भक्त जन।"***[74]

नुक्कड नाटकों में अनेक बिन्ब प्रयुक्त हुए है जो अनुभव के सूक्षमतम स्तर का स्पर्श करते है। युगानुकूल बिम्ब भी बदलते रहते है। कोई भी साहित्यकार अपने युग

के अनुकूल अपनी दृष्टि के अनुसार अपने विचारों को प्रतिबिम्बत करनेवाले बिम्ब का प्रयोग करता है। उसी माइने में नुक्कड नाटककार अनेक नए बिम्बों को साथ लेकर बाहर आते हैं। असल में बिम्ब भावों को आकार देता है। वह भाव जगत में आई हुई वस्तुओं या उनके आसंगों का कल्पना शक्ति से निर्मित मानसिक चित्र हुआ करता है। नारी की तनावपूर्ण जीवन को बिम्बित करते हुए सफदर हाशमी लिखते है कि -

"दिन रात, रात दिन
लफंगें, बदमाश, कभी वर्दी, कभी बिना वर्दी के,
औरत की इज्जत पर हाथ डाल रहे हैं।
उसे अपने पैरों तले रौध रहे है।
और कोर्ट कचहरियों में एक अजब सन्नाटा है।
यह कैसी व्यवस्था है, कैसा कानून है।
कैसा न्याय है यह, कैसा सामाज है यह।"[75]

जब दलित चेतना युक्त नाटक लिखना प्रारंभ हुआ है तबसे नये बिम्बों का प्रयोग हो रहा है। यह प्रक्रिया प्रचीन ही है लेकिन नये अंदाज से लिखना शुरू हुआ है। लोगों के साने सामाजिक स्थितियों का सही चित्रण करने लगें हैं। सही चित्रण लोगों तक पहूँचाने के लिए सामानेय बिम्बों को साथ लेकर आधुनिक नाटककार अनेक नए बिम्बों को स्थापित कर नयी दिशा देने के लिए प्रयत्न करते है। माता प्रसाद के नाटकों में अनेक नए बिम्बों का सृजन हुआ है जिससे समाजगत संत्रास का सही चित्रीकरण हुआ है। यथा - ***" एक जुलूस में से डरूआ के साथ कुछ लोग निकल कर कल्ल को लाश को उठाते हैं तथा 'राम नाम सत्य है' कहते हुए उसे ले जाते है। अंतिम जुलूस के वक्त नवीन, मीना को मौसमी का रस पिला रहा होता है। इसे पीने के बाद मीना अपने बाप का जूते-चप्पलों का थैली खोल कर एक जूते की मरम्मत करने बैठती है तथा भ्रद्रपुरुष -1 और भद्रापुरुष -2 उसके पास जूते पर पॉलिश करवाने आते हैं और उस पर हँसते हुए फबतियाँ कसते हैं।"***[76]

इस प्रकार हिन्दी नाटकों में जो बिम्ब आये हैं वे केवल कल्पना के सहारे गढे नहीं गए है और न केवल एक शिल्पी की तरह तराशे और न पालिश किए गए हैं। उनके बिम्बों में जीवन की धडकनें और ज्ञान संवेदन की गतिशीलता प्राप्त होती है। इस के अतिरिक्त उनमें कराढती हुई संत्रास मानवता की पीडा है, संघर्षरत आस्था गतिमान है। उनके ये रूपाकार अपने साथ एक कहानी लिए हुए हैं, जिसमें जीवन की विडंबनाओं की त्रासदी हैं। आधुनिक बिम्ब नाटककारों के जीवनानुभवों से उपजा

है। इस लिए उनमें प्रयुक्त बिम्ब उनकी व्यक्तिगत और समूह गत जीवन का सफल प्रयोग है।

5.6 नाटक का प्राण तत्व : गीत

नाटक में संगीत का महत्वपूर्ण स्थान है। शब्दों के स्वर अधिक प्रभावी होते हैं, क्योंकि ये जनसाधारण को ही आसानी से समझने आ जाते हैं। आधुनिक नाटकों में एक न एक गीत रहता ही है। पचासोत्तर नाटकों में संगीत का उपयोग दृश्य योजना के लिए भी किया गया है। नाटकों के बीच में गीती का उपयोगीकरण से नाटक और भी सशक्त माध्यम बन जाता है। लोक नाट्यों से यह प्रवृत्ति को लेकर आधुनिक नाटकों में लगातार समूहगत भानवाओं को मुखरित किया गया है।

दृश्यों के बीच में विराम के रूप में गीतों गीतों का प्रयोग आधुनिक काल का एक लक्षण बन गया है। 'अधायुग' में यह प्रवृत्ति का परिचय मिलता है। धर्मवीर भारती इस प्रवृत्ति के बारे में अपने नाटक की भूमिका में इस प्रकार लिखते हैं कि - ***" दृश्य परिवर्तन के समय कथा-गायन की योजना है। यह पद्धति लोक नाट्य परंपरा से ली गई है। कथानक की जो घटनाएँ मंच पर नहीं दिखाई जाती, उनके सूचना देना वातावरण की मूर्मिकता को गहन बनाने या कहीं-कहीं प्रतीकात्मक अर्थों को भी स्पष्ट करने के लिए यह कथा - गायन की पद्धति अत्यंत उपयोगी सिद्ध हुई है।"***[77]

शुरू से ही साहित्य के अंतर्गत और विशेष रूप से नाट्य विधा और पद्य और काव्य प्रधान रहीं है। शास्त्रीय परंपरा के नाटकों में से अधिकतर नाटक अपने में काव्यात्मकता, पद्यात्मकता को समेटे हुए है। पाश्चात्य नाट्य साहित्य में यह विधा को शुरु करने से ही अधिकाधिक महत्व मिला है। चौदह वी शताब्दि के प्रथम चरण के दैराण लिखे गये वर्डसवर्थ, कीट्स, शैली, कालरिज आदि के पद्य नाट्य उनकी पृष्टी करते हैं। हमारे साहित्य में तो भारतोन्दु के अनूदित नाटकों पर पर्याप्त प्रभाव देखा जाता है। रवीन्द्र नाथ की गीतांजली इस प्रक्रिया में उत्कृष्ट काव्य माना जाता है। गीत नाट्य तत्वों को दृष्टि में रखकर जयदेव तनेजा लिखते हैं कि - ***" गीति काव्य एक ऐसी संगीतमय अभिव्यक्ति है, जिसके शब्दों पर भावों का पूर्ण आधिपत्य होता है, किन्तु जिसकी प्रभावशालिनी लय में सर्वत्र उन्मुक्तता रहती है। इस परिभाषा में भावों के साथ संगीतात्मकता या लयात्मकता के तत्वों को रेखांकित किया गया है। नितांत वैयक्तिक गीति और नितांत निर्वैयक्तिक नाट्य में जब परिणय होता है, तब दोनों अपनी अतियों का त्याग कर मध्यम मार्ग पर संझौता कर लेते हैं।"***[78]

गीति नाट्य में घनत्व की न्यूनता रहती है और आंतरिक संघर्ष की प्रधानता होती है। यह काव्यात्मक, लयात्मक भाषा की भावात्मक शक्ति के द्वारा प्रतीकों और बिम्बों की सहायता से जीवन और जगत की तथ्यात्मकता से आगे बढ़कर आंतरिक यथार्थ के वाहन गंभीर सत्यों का नाटकीय प्रस्तुतीकरण करता है। गीति नाट्य की नाटकीयता अधिक सूक्ष्म और तरल होती है। इसी गीत नाट्य का प्रारूप पचासोत्तर नाटकों में गीत के रूप में पाया जाता है। गीति नाटक के रूप में लिखा गया अंधायुग आज भी महत्वपूर्ण है।

आधुनिक हिन्दी नाटकों में गीतों का सादर प्रयोग हुआ है। इससे शिल्प और भी मजबूत बन जाती है। शब्दों से गीत लोगों को जल्दी प्रभावित करते है। गीतों के मदद से विषय को सरल बनाकर लोगों तक पहुँचा सकते हैं। जन पक्षीय नाटकों में यह प्रवृत्ति ज्यादा मिलती है। आधुनिक हिन्दी नाटकों का पहला प्रयोग धर्मी नाटक अंधायुग गीति नाट्य ही है। उसमें भरपूर गीतों का प्रयोग मिलता है। कथा गायन के रूप में, नाटककार हरेक अंक के आगे उस गेयता का पट्टुत्व दिखाते हैं। -यथा

"टुकडे टुकडे हो विखर चुकी मर्यादा
उसको दोनों ही पक्षों ने तोडा है
पाँडव ने कुछ कम कौरव ने कुछ ज्यादा
यह रत्कपात अब कब समाप्त होना है
यह अजब युद्ध है नहीं किसी की भी जय
दोनों पक्षों को खोना ही खोना है।"[79]

आश्चर्य की बात यह है कि राकेश के तीन नाटकों में कही भी गीतों का परिचय नहीं मिलता है। 'बकरी' नाटक में सर्वेश्वर दयाल सक्सेना अपने विषय धर्मिता को नट् और नटी के द्वारा संप्रेषित करने में सफल हुए हैं। इस नाटक में गीतों के सहारे सक्सेना राजनीतिक भ्रष्टता को हमारे सामने रखते हैं। स्वर युक्त गाना प्रेक्षकों की नजर को और उजागर कर देती है।। इस नाटक में गीत शिल्पगत औजार को और भी मजबूत कर देती है। यथा-

"हर ऐश करा जाएगी यह गाँधी की बकरी
हर खाता भरा जाएगी यह गाँधी की बकरी
हर सच्च को हरा जाएगी यह गाँधी की बकरी
वैतरणी तरा जाएगी यह गाँधी की बकरी
बकरी की इस लिए सभी जय बोलकर चलो
जो चाहो करो झिझको न दिल खोलकर चलो।"[80]

गीत में मनुष्य का अंतर्जीवन और बाह्य जीवन एक साथ ही चित्रित होता है। इस तरह का चित्रीकरण नुक्कड नाटकों में पाया जाता है। लोक नाटकों मे से उपजा हुआ नुक्कड नाटक अपने संप्रेषण के लिए जन जीवन को झकझोरते हुए अनेक गीतों की सहायतासे अपने नाट्य धर्मिता को आगे बढाई। लोगों को इकट्टा करने के लिए, आकृष्ट करने के लिए गीतों की सहयता को लेकर नुक्कड नाटककार साधारण लोगों को असाधारण सोच को प्रदान करते है। सफदर हाशमी अपने नाटकों में विषय को सरल बनाकर लोगों तक पहुँचाते हैं। यथा -

"आज जो हमसे हडतालों के छीन रहे अधिकार
कल वह जिंदा रहने की हक पर भी करे जोवार।
आज जो हमको पाठ पढाते हैं, मिलकर अनुशासन का,
क्या वह महंगाई भी कम करने को है तैय्यार।
नहीं जाएगें झूठी चाल में मेहनत कश इस बार,
बारबार के अनुभव से हम हो गये हैं होशियार
करते हैं मजदूर आज ऐलान सारे बाजार,
नहीं साथियों, नहीं सहेगें हम जालिम की मार।"[81]

असगर वाजहत अपने नाटकों में गीतों का भरपूर प्रयोग करते हैं। गद्य की अपेक्षा पद्य में भावों के सूक्ष्म चित्रण, कल्पाना का योग रहने तथा मर्मस्पर्शिता का अवसर अधिक रहता है। इस सूक्ष्म चित्रीकरण करने में वजाहत सफल हुए है। गीत में कविता का प्रभाव अन्य प्रभावों से विशेष महत्वपूर्ण है। शिल्प की दृष्टि से देखने से गीत की पद्यात्कमता, शैली और अंतर्वस्तु का समाहार रूप वजाहत के गीतों में मिलता है। यथा - *"अभी अभी तुम दोनों जाओं*
चोर पकड कर फौरन लाओ
हड्डी-फसली तोडो उनकी
गुर्री-गुर्री तोडो इनकी
देखो क्या अंधेरा मचा है
धन के पीछे चोर पडा है।"[82]

शास्त्रीय परंपरा के कारण नाटक अपने में काव्यात्मक, पध्यात्मक भावनाओं का **'ग्रांड टोटल'** माना जाता है। उस परंपरा का नव्य रूप आधुनिक हिंदी दलित नाटक है। दलित नाटकों में भी पध्य भावना का सही प्रयोग मिलता है। माता प्रसाद और नाग बोड्स अपने नाटकों में विषय संप्रेषण के लिए गीतों का सहारा लेते हैं। अनेक संवादों से बननेवाले भाव एक गीत की सहारा से बन जाता है। साधारण रूप से गाना

दलित चेतना का प्रतीक माना जाता है। यथा -

"मरकीट की चार घडी
उसमें एक जंझीर पडी
जब-जब घंटा बजता था
चलता मुसाफिर रुकता था
सूरज उपर तपता था
साँड गली से धुसता था
ए, बी, सी. डी लिखता था।"[83]

इस प्रकार गीत आधुनिक नाटक को उत्कृष्ट बनाने में अपनी भूमिका निभाई है। संवादों के बीच में गीत रहने से दर्शकों को ज्यादा मनोरंजकता प्राप्त होने की संकेत मिलता है। वैसे भी नाटक को मशहूर करने के लिए पंक्तियों को स्त्री या पुरुष गायकों में बाँट देना चाहिए। गीत के साथ अधिक वाध्य यन्त्रों का प्रयोग नहीं देना चाहिए। गायक स्वर की प्रमुखता रहना चाहिए।

गीत योजना आधुनिक नाटक को कविता का रूपांतर में प्रस्तुत किया है। उसमें वाल्यूम,अंडर टोन, ओवर टोन, स्वरों के कंपन आदि का प्रभावोत्पादक रूप में उपयोग किया है। आधुनिक नाटककारों की दृष्टि सही है कि शब्द से गीत अधिक प्रभाव डालते हैं,उस प्रभाव लोक मानस को अधिक उत्तेजित बना लेता है। वास्तव में पचासोत्तर नाटकों में लोक संगीत का गीतों का प्रयोग किसी चमत्कार के लिए नहीं किया गया है। बल्कि अपनी जमीन से जुड़ने की ललक तथा अपनी नाट्य रूप की भावना ही प्रमुख रही है। नेमिचन्द्र जैन के शब्दों में - ***इन सभी प्रयोगो में पारंपरिक नाट्यों की रूढ़ियों और पद्धतियों का इस्तेमाल किसी चालू फैशन या अंध परंपरा प्रेम के कारण नहीं बल्कि एक सृजनात्मक भावबोध (सेंसिबिलिटी) और कलात्मक विवेक पर आधारित है। वह ऐसे रचनाकारों द्वारा किया गया है जो अपने आज के जीवन अनुभव बोध को अधिक से अधिक प्रभावी और प्रासंगिक रूप में अभिव्यक्त करना चाहते है।"[84]***

निष्कर्ष

यह ठीक है कि परिवर्तन जीवन का अवश्यंभावी सत्यं है और नैतिकता के मानदंडों को बदलना भी युग संदर्भ में अनिवार्य ही है, किन्तु इन तमाम परिवर्तनों के बीच कहीं एक शाश्वत कसौटी को लेकर हमें चलनी होगी। हम अपने लिए अनेक

मानदंड रखते हैं। हम चाहे या अनचाहे उन मानदंडों को परिवर्तम के लिए प्यालफार्म की तरह उपयोग करना चाहिए। इब्सन ने एक जगह कहा है - '***नाटककार का काम उत्तर देना नहीं प्रश्न पूछना है।***' दर्शकों के मन में परिवर्तन का योग देना चाहिए यही उत्कृष्टता नाटककार का पहला कर्तव्य है।

मनुष्य की चेतना उसके अस्तित्व और अस्मिता की सुरक्षा ही नहीं करती वरन् उसके विपरीत उनका सामाजिक अस्तित्व उसकी चेतना को निर्धारित करता है।साहित्य मनुष्य समाज के विकास के परिणाम होता है वह मनुष्य की समाजिक चेतना की उपज के साथसाथ सामाजिक चेतना के उपजाता और आगे बढाता है। इस कार्य की संपूर्ति में सही कथ्य और शिल्प की आवश्यकता है। जो शिल्प का निर्माण 1950 से 2000 तक किया गया है वह नाटक को विश्वव्याप्त किया है। इस बीच में भाषा एक शक्तिशाली माध्यम के रूप में उभरकर बाहर आई है। - ***" भाव और भाषा अथवा नाटकीय अनुभूति और अभिव्यक्ति दोनों भिन्न वस्तुएँ नहीं है। यदि नाटककार भाव और विचार के अनुसार भाषा की सृष्टि में विश्वास रखता है तो निश्चयतः भाषा नाटक के अनुकूल होगी ही और उसमें परिवर्तनीयता और अभिनयोचित चांचल्य भी स्वाभाविक रूप से समाविष्ट होगी।"***[85]

नाट्य कला सामाजिक कला है। रंगमंच ही वह मध्य कडी है जो नाटक और जनता का संबंध जोडती है। नाटककार रंगमंच के माध्यम से ही समाज की विभिन्न समस्याओं, मनुष्य के चरित्र, सभ्यता, संस्कृति के स्वरूप और सुधार के उपाय दर्शकों के सम्मुख प्रस्तुत करता है। जिन-जिन देशों में नाटकों की उन्नती चरमोत्कर्ष पर रही है उसका प्रमुख कारण -समृद्ध रंगमंच की परंपरा। रंगमंचीय परंपरा को आगे बढाने के लिए सही शिल्प की आवश्यकता है। सहीं भाषा वह कार्य करने में सफल हुई है।

आधुनिक नाटककारों में भाषा शैली के प्रति विशेष ध्यान दिया है। कथ्य को दृश्य में रखने केलिए शिल्प की आवश्यकता होती है। इन पचास वर्षों में केवल कथ्य में ही नहीं शिल्प के धरातल भी अनेक प्रयोग हुए हैं। इस संदर्भ में नर नारायण राय का कहना है कि - ***" नए नाटकों में भाव, विषय , विचार आदि सभी धरातलों पर कहीं परंपरा को तोडकर और कहीं परंपरा के समानातर नवीन स्थापनाएँ की जाने लगी। नये जीवन दर्शन और नई भावभूमि को स्वयत्त कर लिखे जा रहे नाटकों ने अभिवयक्ति के लिए नये प्रकार के शिल्पगत प्रयोगों की आवश्यकता अनुभव की। फलस्वरूप कहीं परंपरा से एकदम अलग हटकर, कहीं परंपरा को नकार कर, कहीं परंपरा के समानांतर, नवीन शिल्पों की योजना की जाने लगी।"***[86]

1950 से 2000 तक के काल में अर्थ प्रवृत्तियों, संधियों, पाँच अंको की योजना का अस्वीकीर किया गया है। सेक्स और हिंसा प्रवृत्तिवाले दृश्यों को लिया गया है। एक ही अंक में नाटक को पूरा करना, दृशय योजना में स्वतंत्रता, एक नाटक में एक और नाटक रचने का प्रयास आदि इस युग की शिल्प संबंधी प्रयोग धर्मिता की विशेषताएं है। लोक नाट्यों की शैली का नाटकों में प्रयोग बहु प्रचलित प्रवृत्ति बन गई है। नाटक को लोक जन से जोडने के लिए कथा अपनी नाट्य परंपरा में से स्वस्थ तत्वों को स्वीकार करने की आकांक्षा इस प्रयोग धर्मिता का मुख्य लक्ष्य है।

भाषा एक सहज और सामान्य जीवनानुभवों से उपजा हुआ अभिव्यक्तीकरण का प्रारूप है। पचासोत्तर हिन्दी नाटकों में आवश्यकता के अनुसार, प्रांतीय भाषाओं और बोलियों का प्रयोग हुआ है। 'आधे अधूरे' में पात्र पंजाबी बोलते है, 'वसीयत' नाटक में भोजपुरी, 'दलित' नाटक में कस्बाती बोलियों का सफल प्रयोग हुआ है। आधुनिक नाटकों में संवादों पर अत्यधिक ध्यान दिया गाया है। अतः नाटक में, संवादों को संक्षिप्त सजीव, सहज और अभिनयोचित बनने का प्रसंसनीय प्रयत्न किया गया है। आधुनिक नाटकों में सरल, चुस्त, प्रवाहशील संवाद मिलते हैं। ऐतिहासिक और पौराणिक नाटकों में भी अभिनय तथा स्वाभाविकता का ध्यान रखा गया है। 'अषाढ का एक दिन', 'सूर्य की अंतिम किरण से सूर्य की पहली किरण तक' नाटकों में शुद्ध हिन्दी का प्रवाह होते हुए भी संवाद आवश्यकतानुसार कही संक्षिप्त कहीं कुछ बडे किन्तु अत्यंत अभिनयात्मक आकर्षक और ह्रदय स्पर्शी है।

इस प्रकार आधुनिक नाटकों में शिल्प को परिपुष्ट करने में अनेक प्रयोग हुए है। वस्तुतः ये प्रयोग नाटककारों की दर्शकीय चेतना का ही विस्तार है। नये-नये प्रतीकों की सहयता से भाषा और शैली को आधुनिक बनाया गया है। इस संद्रभ में राकेश वत्स लिखते है कि -***" भाषा का पात्रों के अनुकूल होना, दर्शकों को रंग प्रक्रिया में शामिल करने का यहसास देने के लिए तल बत्तियों के चलन को समाप्त करना, नाटक के पात्रों का दर्शकों के बीच में से आकर नाटक में भाग लेने(रक्तबीड, सिंहासन खाली है) नाटक को बंध प्रेक्षागृहों से बाहर निकाल कर गली, मुहल्ले और सडकों पर दर्शकों के बीच में बिना सज्जा मेकअप, बिना रंग-उपकरणों के प्रस्तुत करना (नुक्कड नाटक) आदि सभी प्रयोग नाटक और रंगमंच के भारतीय स्वरूप के तलाश के साथ साथ नाटककार की दर्शकीय चेतना के विकास की ओर इशारा करते हैं।"***[87]

संदर्भ सूची

1.नरनारायण राय -नाट्य विमर्श - पृ -50
2.मोहन राकेश रंग शिल्प और प्रदर्शन - डॉ. जयदेव तनेजा - पृ-29
3.मोहन राकेश रंग शिल्प और प्रदर्शन - जयदेव तनेजा - पृ- 33
4.The Architecture of Language - Noam Chamsky - pg -1
4.(B)साहित्य और विचार धारा - मैनेजर पाण्डेय - पृ- 132
5.साठोत्तर हिन्दीनाटक में त्रासद तत्व - डॉ.मंजुला दास - पृ- 326-27
6.हिन्दी नाटक के सौ वर्ष - डॉ. विजय द्विवेदी - पृ- 111
7.हिन्दी नाटक के सौ वर्ष - डॉ. विजय द्विवेदी - पृ- 114
8.Enact - jan-feb - 1969 - (some recent significant plays)
9.हिन्दी नाटक के सौ वर्ष - डॉ. विजय द्विवेदी - पृ- 116
10.प्रगतिवादी काव्य साहित्य - डॉ. कृष्ण लालाहंस - पृ- 375-76
11.भाषा और समाज -रामविलास शर्मा - पृ- 373
12.स्वतंत्र्योत्तर युगीन परिप्रेक्ष और नुक्कड नाटक - डॉ. मदनमोहन शर्मा - पृ - 126-127
13.आषाढ का एक दिन - राकेश - पृ- 101
14.नटरग : अंक - 21 - पृ - 11
15.आषाढ का एक दिन - राकेश - पृ- 49
16.आधे अधूरे - राकेश - पृ -90
17.आधे अधूरे - राकेश - पृ - 85
18. बकरी - सक्सेना - पृ- 34-35
19.हानुष - सहानी - पृ- 5
20. कबिरा खडा बाजार में - सहानी - पृ- 96-97
21.पांच नाटक - असगर वजाहत - पृ- 235
22. अंधायुग - धर्मवीर भारती - पृ- 15
23.आषाढ का एक दिन - राकेश - पृ-101-102
24. लहरों के राज हंस - राकेश - पृ- 106
25.आधे अधूरे - राकेश - पृ -92
26. द्रौपदी - सुरेन्द्र वर्मा - पृ- 19
27.सूर्य की अंतिम किरण से सूर्य की पहली किरण कर- वर्मा - पृ- 27
28.सूर्य की अंतिम किरण से सूर्य की पहली किरण कर- वर्मा - पृ-28
29.करफ्यू - लक्ष्मीनारायण लाल - पृ- 34
30. सिंहासन खाली है - सुशील कुमार सिंह - पृ- 22
31.योर्सफेयफुली - मुद्राराक्षस - पृ- 34
32.बकरी - सक्सेना - पृ- 46
33.पांच नाटक - वजाहत - पृ - 194

34.आधुनिक नाट का मसीहा : मोहन राकेश - गोविन्द चातक - पृ 135
35. लहरोंकेराज हंस - राकेश - पृ- 126
36. आषाढ का एक दिन - राकेश - पृ- 21
37.आधे अधूरे - राकेश - पृ- 38-39
38. कल्पना - जून 1975 - पृ- 18
39. द्रौपदी - पृ- 23
40.सूर्य की अंतिम किरण से सूर्य की पहली किरण तक- वर्मा - पृ- 44
41.सूर्य की अंतिम किरण से सूर्य की पहली किरण तक- वर्मा - पृ- 54
42.करफ्यू - लक्ष्नारायण लाल - पृ- 32
43. चौक -चौक पर गली-गली में - सहमत -भाग -1 (वक्तत्व से)
44 चौक -चौक पर गली-गली में - सहमत -भाग -1 पृ- 5
45. तीन नाटक - नाग बोड्स - पृ- 115
46. आधुनिक हिन्दी नाटक और रंगमंच -नेमिचन्द्र जैन - पृ- 161
47.सुरेन्द्र वर्मा के नाटक और रंगमंच - श्री देवेन्द्र कुमार गुप्ता - पृ-83
48. अंधायुग - पृ- 21
49.मोहन राकेश : साहित्यिक और सांस्कृतिक दृष्टि - पृ- 162
50 करफ्यू - लक्ष्नारायण लाल - पृ-30
51. योर्श फेथफुली- मुद्राराक्षस - पृ- 35
52.योर्श फेथफुली - मुद्राराक्षस - पृ- 67
53. जनता डाक्टर है - आसगर वजाहत- उदभावना-1-4, पृ- 21
54.रंग प्रसंग - 1995, जानवरी-जून पृ - 109
55.आधुनिक काव्य में प्रतीकवाद - डॉ. चन्द्रकला - पृ - 5
56. हिन्दी साहित्य कोश - पृ - 471
57.Language And Reality - Urban - pg -403
58.साठोत्तर हिन्दी नाटक - पृ- 88
59. अंधायुग - पाठ और प्रदर्शन - जयदेव तनेजा - पृ - 43
60.दिनमान -8 अप्रैल, 1973 , पृ - 43
61.मोहन राकेश :रंगशिल्प प्रदर्शन- डॉ. जयदेव तनेजा पृ - 227
62.साठोत्तर हिन्दी नाटकार - लव कुमार -लवलीन- पृ -73
63.काव्य बिम्ब - डॉ. नगेन्द्र - पृ-5
64.हिन्दी साहित्य कोश - पृ - 514
65.हिन्दी साहित्य - डॉ. हजारी प्रसाद द्विवेदी - पृ -456
66.अंधायुग - पाठ और प्रदर्शन - डॉ. जयदेव तनेजा - पृ- 81
67.अंधायुग - धर्मवीर भारती - पृ- 16
68. आधुनिक हिन्दी नाटक का मसीहा: मोहन राकेश गोविन्द चातक - पृ -60
69. लहरों के राज हंस - मोहन राकेश - पृ- 76

70. आधे अधूरे - राकेश - पृ- 10
71 द्रौपदी - सुरेन्द्र वर्मा - पृ- 29
72.सूर्य की अंतिम किरण से सूर्य की पहली किरण तक- वर्मा - पृ-43
73.बकरी - सर्वेश्वर - पृ- 68
74.कबिरा खडा बाजार में - भीष्म सहानी - पृ - 33
75.सफदर - सहमत - पृ- 111
76.तीन नाटक -नाग बोड्स - पृ- 142
77.अंधायुग - धर्मवीर भारती - (भूमिका से)
78.अंधायुग - पाठ और प्रदर्शन - डॉ. जयदेव तनेजा - पृ- 34-35
79.अधायुग - धर्मवीर भारती - पृ -13
80. बकरी - सक्सेना - पृ - 56
81.चौक -चौक पर गली-गली में - सहमत पृ- 65
82. पाच नाटक - हजगर वजाहत - पृ- 123
83.तीन नाटक -नाग बोड्स - पृ- 108
84.रंग दर्शन - नेमिचन्द्र जैन - पृ- 103
85. प्रसाद की रगमंच संबंधी धारणा - गोविन्द चातक(लेख) पृ- 41
86.नटरंग विवेक - नरनारायण राय - पृ- 17-17
87.साठोत्तरी हिन्दी नाटकों का रंगमंचीय अध्ययन - राकेश वत्स - पृ- 187

षष्ठम अध्याय

6.हिन्दी नाटक : उपलब्धियाँ एवं परिवर्तन की संभावनाएँ

6.1 स्वातंत्र्योत्तर जीवन का सही साक्षात्कार : हिन्दी नाटक

6.1.1 कथ्य परक उपलब्धियाँ

6.1.2 विधापरक उपलब्धियाँ

6.1.3 मंच परक उपलब्धियाँ

6.1.4 शिल्प परक उपलब्धियाँ

6.2 परिवर्तन की संभावनाएँ

6.2.1 आधुनिकता : हिन्दी नाटक

6.2.2 परिवेश : हिन्दी नाटक

6.2.3 आधुनिक हिन्दी नाटक : सर्जनात्मक लेखन की प्रासंगिकता

6.2.4 समकालीन हिन्दी नाटककार का स्वप्न और जिम्मेदारी

निष्कर्ष

6.हिन्दी नाटक : उपलब्धियाँ एवं परिवर्तन की संभावनाएँ

व्यक्ति एक सामाजिक प्राणी है। उसकी साधना समाज के विकास और कल्याण की साधना है। गति के धागे से एक क्षण भी व्यक्ति विच्छिन्न हुआ कि समाज के लिए अनुपयोगी हो उठेगा। अतः साहित्य व्यक्ति के अश्रु-हास की गाथा होते हुए भी सामाजिक विश्वासों और विषमताओं का दर्पण भी होता है। और इसी के चलते आज के युग में बडे ही स्पष्ट शब्दों में माना जाने लगा है कि साहित्य समाज का केवल दर्पण ही नहीं अपितु दीपक भी है। जो प्रकाश उस साहित्य के द्वारा पल्लवित होता है उसीसे समाज की गति निर्देषित होती है। साहित्य को सही रास्ता दिखाने में साहित्य को ऊपर उठाने में अपने प्रयास अवश्य करता है। उस प्रयास के पीछे परिवर्तन के विविध आयाम अंतर्निहित रहते हैं।

वस्तुतः साहित्य जनता का मानसिक परिष्कार करता है, उसे एक विशेष प्रकार का बौद्धिक प्रशिक्षण देता है। व एक ऐसी बौद्धिक संस्कृति निर्मित करता है जिसमें सामाजिक परवर्तन की प्रक्रिया सहज रूप में घटित हो सके। जनता के साहित्य को परिभाषित करते हुए मुक्तिबोध ने लिखा है कि - ***"जनता के साहित्य से अर्थ ऐसा साहित्य जो जनता के जीवन मूल्यों को, जनता के जीवनादर्शों को प्रतिष्ठित करता है, उस अपने मुक्तिपथ पर अग्रसर करता हो। इ मुक्तिपथ का अर्थ राजनीति मुक्ति से लगाकर अज्ञान के मुक्ति तक है। अतः इसमें प्रत्येक प्रकार का साहित्य सम्मिलित है, बशर्ते कि वह सचमुच उसे मुक्तिपथ पर अग्रसर करें।"***[1]

हमें यह विषय मानना बडेगी कि समाज का हमेशा ऊध्वगामी विकास ही नहीं होता। अपनी विकास यात्रा में वह मनुष्यता के जिन श्रेष्ठ गुणों को अर्पित करता है और उसकी स्थायी संपत्ति नहीं होते, कभी-कभी वह पीछे की ओर भी लौटता है और उसके श्रेष्ठ मानवीय मूल्य उसके हाथ छूट जाते है। आज जिस तरह जातिवाद, साम्प्रदायिकता, क्षेत्रवाद और भाषायी संकीर्णता के कारण से समाज पीछे लौटा है, उसका प्रभाव हमें साहित्य पर भी स्पष्ट रूप से दिखाई पडता है। नारीवाद, दलितवाद और उत्तर आधुनिकतावाद की विचारधाराओं ने साहित्य की मूल प्रकृति से हटकर जिस तरह रागात्मक प्रभाव पडाया उसका प्रयोग आज हमारे आँखों के सामने है।

आज साहित्य ही नहीं समूचे मानवीय अस्तित्व ही संकट में पडी हुई है। साहित्य की मूल प्रकृति की रक्षा और उसकी स्वायत्तता को स्थापित करने की जितनी आवश्यकता आज है, उतनी शायद पहले नहीं थी। इस शताब्दी में जन समुदाय और अनेक देश सबसे अधिक मुक्त हुए है पर उस मुक्ति के नाम पर अनेक भयावह

नरसंहार भी हुए। इसी शताब्दी में संसार का विचार और व्यवहार, उसकी संस्कृतियाँ और सभ्यता सबसे अधिक केन्द्रीकृत हुई। यह वह शताब्दी भी है जिसमें अनेक जातियाँ और अनेक समुदाय डुबाये गये और अनेक समाज स्मृति वंचित हुए। यह वह शताब्दी है जिसमें आचार और विचार, रहन-सहन, जीवन पद्धतियों का ऐसा विश्वव्यापी एकीकरण हुआ है कि अनेक समाजों और देशों की विशिष्टताएँ, यहाँ तक कि कलाएँ और संगीत तक विलीन हो गए। ग्लोबल विलेज की भावना और भी सुदृढ इस शताब्दी का ही फल है। इन सब प्रयत्नों के पीछे संकट अंत:चेतना रूप लेकर प्रस्तुत किया जा रहा है।

मनुष्य के इस लंबे इतिहास में शायद कभी भी राजनीति केन्द्रीय विषय नहीं बनी है लेकिन बीसवीं शताब्दी में पहली बार ऐसा हुआ है। प्राय:कोई भी क्षेत्र नही बचा है जो राजनीति के प्रभाव से न बचा हो। हमारे समय की यह बड़ी खेद जनक बात है कि सब कुछ राजनीति से अपने संबंध को स्पष्ट और सुपरिभाषित करने को विवश है। जो भी द्वन्द्वता राजनीति के मूल में है उसका शिकार साहित्य को भी करना पड़ा है। आज राजनीति साहित्य को कब्जा करके रखा है। इस संदर्भ में निर्मल वर्मा कहते हैं --

"हमारे समय में शायद यह हुआ है कि मनुष्य की उम्मीद का सारा स्थापत्य ही बदल गया है - इस स्थापत्य में साहित्य के लिए जगह कम बची है। लेकिन एक दिलचस्प अन्तर्विरोध यह है कि बावजूद इसके, ऐसा लगता है कि अभी भी जीवन, अस्थित्व, नियति,नश्वरता, प्रेम, जिजीविषा आदि को समझने बूझने के लिए और रोजमर्रा की जिन्दगी में रसे-बसे गहरे आशयों को विन्यस्त्र करने के लिए हम प्रायः साहित्य के पास ही जाते है। सीधे जीवन के अलावा जीवन की असंख्य छवियाँ और प्रतीतियाँ हमें साहित्य और कलाओं में ही मिलती है।"[2]

साहित्य मनुष्य, उसकी स्थिति और नियति के बारें में जो चरम प्रश्न पूछता और उनके जो समाधान खोजता है वह उन्हें दूसरे क्षेत्रों की समकक्ष प्रश्नानुकूलता और उत्तरों से जोडती-मिलाती है। आधुनिक चरम सीमा में रहने के कारण भारतीय साहित्य विश्वदृष्टियों के आपसी संबंधों और द्वन्द्व को सुस्पष्ट करने के अलावा उन्हें व्यापक वैचारिक परिप्रेक्ष्य में देखती-परखती है। साहित्य में जितने भी विधाएँ है, वे सब इस शताब्दी में चरम उत्त्कर्ष स्थान पर पहुँचे हैं और अनिवार्य रूप से संत्रासग्रस्त बन पडे हैं। 1950 से 2000 तक के समय में अन्य विधाओं में नाटक और भी मनुष्य की पक्षधरता लेकर परिवर्तन का शिकार हुआ है। उसके द्वारा आंतरिक वैचारिकता और उसके दबावों से भी ओत प्रोत हैं।

6. स्वतंत्र्योत्तर जीवन का सही साक्षात्कार : हिन्दी नाटक

नाटक, निस्संदेह, एक उत्तेजक और चुनौती भरी विषय-वस्तु को लेकर चलता है। प्रत्येक विषय या घटना को, जिस रूप में नाटककार पकडता है उसमें बडी गहरी और महत्वपूर्ण संभावनाएँ होती है; और उसमें निहित प्रश्नों इस देश के लिए बुनियादी सामूहिक और आधुनिक वैयक्तिक आचारण की नैतिकता से जुडे हुए हैं। पर आधुनिक नाटककार ने इन प्रश्नों का मूलतः बौद्धिक समाधान देना चाहा और समूहगत जीवनानुभव को सही विस्फोटक चिनौतियों को स्वीकार कर परिष्कार विशेषताओं का उल्लेख करते हुए कहते हैं कि - ***"....... playwright must ever be bound by the fact that his play is designed to be produced in a material theatre, interpreted actory who are, after all, only human and before an audience which is exceedingly human"***[3]

साहित्य की अन्य विधाओं के परिप्रेक्ष्य में जब हम नाट्यविधा को अधिक उत्कृष्ट या विशिष्ट होने का समर्थन करते हैं तो इसी आधार पर कि उसकी सम्प्रेषणीयता मानव मन की गहराइयों तक अधिक है। साहित्य की अन्य विधाएँ केवल श्रवणेन्द्रियों द्वारा पाठक के मन में रसोद्रेक को मूर्त देता है लेकिन नाटक पात्रों की वेश-भूषा, उनका अंग-विक्षेप, अभिनय आदि संपूर्ण भावों, मानसिक स्थितियों के विविध रूपों को नेत्रों के सम्मुख घटित होते देखकर दर्शक अपना अस्तित्व भूलकर तादाम्य स्थापित कर लेते है। यही अवस्था नाटक की अनन्यता का सृजन करता है।

एक जाग्रत नाटककार समय और समाज से समीपी साक्षात्कार करता है और उसे एक बडा अनुभव संसार निर्मित करने की प्रक्रिया में सम्मिलित कर चलता है। आधुनिक नाटककार के कृतियों में यह विषय स्पष्ट लगता है कि कई बार आधुनिक नाटकों में लेखक के बिलकुल निजी अनुभव जोडा गया है। वे अपने जीवन को बृहत्तर संसार का विषय बनाये है। वस्तुतः कहना है तो आधुनिक नाटककार ने अपने अनुभवों को सामाजीकरण किए है। उस प्रक्रिया में लेखक का सर्जनात्मक व्यक्तित्व सबसे महत्वपूर्ण भूमिका का निर्वाह करता है। धर्मवीर भारती को लेकर माता प्रसाद तक सबके अनुभवों का निजी साक्षात्कार आधुनिक नाटक है।

"परिवेश से लेखक का निर्माण होता है, यह एक प्रकार से अधूरा सत्य है और इस ओट में यदि लेखन चतुराई करना चाहे तो वह अपनी समाजिक सांस्कृतिक भूमिका से भी मुक्ति पा सकता है। पर सार्थक परिवेश को नया विन्यास देने का सक्रिय प्रयत्न भी करता है और 'शब्द ब्रम्ह' को चरितार्थ करना चाहता है। स्वीकृति और निषेध, ग्रहण और अस्वीकार की द्वन्द्वात्मकता से सही रचना का निर्माण होता

है। माना कि परिवेश से लेखक प्रभावित होता है, प्रेरणा भी ग्रहण करता है, पर वह इसी बिंदु पर रुक ठहर नहीं जाता। सार्थक लेखक अपने समय-समाज को चुनौती भी देता है, उसे ललकारता है।"[4] वह ललकार धर्मवीर भारती अपने नाटक अंधायुग में दिखाते है। परिवेश के बिंदु पर नहीं रुककर उन्होंने सार्थक बिंब को प्रतिष्ठित करते हुए नव्य मानव की स्पंदनो को निर्मित करने में सफल हुए हैं। द्वन्द्वात्मकता का सही नक्शे को उस नाटक में नाटककार ने परिलक्षित

कर मुक्ति का प्रयत्न भी किये हैं। सामाजिक सांस्कृतिक स्थिति से देखने से अंधायुग के हर पात्र मानवीय जीवन के निकटवर्ती स्वभाव जन्य दीख पड़ते हैं। जिंदगी का सही साक्षात्कार इल नाटक में हमें मिलता है।

नाटक एक ऐसी गतिशील प्रक्रिया है, जिसमें प्रयोगधर्मिता की संभावनाएँ निरंतर मौजूद रहती हैं। अपने प्रारंभिक चरण से लेकर आजतक नाटक किसी न किसी रूप में सतत प्रवाहमान है। उसका अस्थित्व भी मानव की अस्थित्व से जुड़ा हुआ है। कहीं वह दैवीय सानिध्य पाकर मनोरंजन का साधन बना है तो कहीं वैदिक कालीन दौर से गुजरता हुआ संस्कृत परंपरा का अनुगामी रहा है। एक समय में वह केवल एक वर्ग के हित के लिए ही रचाया गया है तो दूसरी दौर में लोक संस्कृति की विरासत के रूप में। कहने का आशय यह है कि नाटक किसी काल को अपने से ग्रस्त नहीं रहने दिया है। युगीन आग्रहों, आवश्यकताओं के तहत अनेकों बार नाटक अपने रूप -रचना-कथ्य वैविध्य का शिकार होता रहा है।

नाटक की अपनी सीमाएँ होती हैं लेकिन उसके नियम-उपनियम चिरस्थायी न होकर युगीन अपेक्षाओं,आग्रहों के तहत खुद-ब खुद बदलते रहते हैं। नाटक समसामयिक परिवेश और परिवर्तनशील मानवीय अभिरुचियों के अनुसार अपना रूप, शैली-शिल्प और अंतर्वस्तु स्वयं ग्रहण कर लेती है। मध्यवर्गीय जीवन के नंगा साक्षातकार आधे अधूरे में जिस तरह प्राप्त हुआ है उस तरह के कोई अन्य विधा में नहीं मिलता है। इसकाल में मानवीय मूल्यांकन समग्र रूप से मिला है वह नव्यतम नाटक को विकसित करने में सहयोग देता है। कमनीय जीवनानुभवों को चित्रीकरण करने में, उसे परिवेशगत बनाने में नाटककार ने अनेक प्रयोग किये हैं। उनके हर प्रयोग आज हमें स्पष्ट नजरियें से दृष्टिगोचर होता है।

स्वतंत्रता के पश्चात भारतीय नाटककारों पर न केवल तद्युगीन परिस्थितियों का प्रभाव पड़ा अपितु पाश्चात्य चिंतकों से भी प्रभावित हुए बिना न रह सके। मार्कस के वर्ग संघर्ष, जोला के प्रकृतिवाद, फ्रायड के मनोविज्ञान तथा डार्विन के विकासवाद आदि

सिद्धांतों का प्रभाव भारतीय समाज पर ज्यादा पड़ा। आधुनिक समाज व्यक्ति स्वातंत्र्य के नारों से उथल

पुथल हुआ। हिंदी नाटककार भी सम-सामयिक संदर्भों में उन समस्याओं के प्रति सजग हुए हैं। सुरेंद्र वर्मा, मोहन राकेश अपने नाटकों द्वारा स्वातंत्र्य के पश्चात्य ऐतिहासिक एवं सामाजिक नाटकों का स्वर बदला है। ऐतिहासिक नाटक केवल इतिहास संबंधी आख्यायन न करके जन जीवन का सम-सामयिक अर्थों में मूल्यांकन करता हुआ अग्रसर हुआ है।

रंगमंच की दृष्टि से आधुनिक काल में नाटक और भी जन सामान्य तक पहुँच गया है। नाटक का सही जान रंगमंच से ही मिलता है। नाटक का तात्पर्य ही उस रचना विशेष से है जिसका अभिनय रंगमंच पर किया जा सके। नाटक एक दृश्य काव्य है और इसका दृश्य-काव्यत्व तभी सार्थक हो सकता है, जबकि वह रंगमंच पर अभिनीत हो। धर्मवीर भारती काव्य नाटक **'अंधायुग'** नाटक में व्यक्ति के युद्ध से संत्रस्त एवं संतप्त जीवन को आधुनिकता के परिवेश में नवीन भावाभिव्यक्ति प्रदान की है। नेमिचन्द्र जैन के शब्दों में -- ***"......अंधायुग के कारण भारतीय रंग जगत में हिंदी रंगमंच का दर्जा एकाएक बहुत ऊँचा उठ गया।"***[5]

'आषाढ़ का एक दिन', 'लहरों का राजहंस' के नाटकों के पात्र समय के साथ टूट गये हैं और अंतर्द्वन्द्व से झूजते हैं। आधे अधूरे के द्वारा मध्यवर्गीय संबंधों के बिखराव का स्पष्ट अभिव्यक्तिकरण हुआ है। बकरी, सिंहासन खाली है आदि नाटकों द्वारा निश्चय ही रंगमंचीय संभावनाओं के और भी विकसित हुआ है। स्वच्छ परिवार की परिकल्पना आधुनिक नाटकों का एक सार्थक कथ्य बनकर सामने आता है।माताप्रसाद और नाग वोड्स के द्वारा लिखा हुआ दलित साहित्य में अनेक नूतन प्रयास एवं प्रयोग देखने में आये हैं। नाटकीय रंगमंच आज संसार को एक नयी दृष्टि से समझने के लिए उत्सुक कराती हैं। मनुष्य को एक नयी दृष्टि से समझने के लिए रंगमंच एक सशक्त माध्यम का पात्र निर्वाह करता है। एनसाइक्लोपीडिया अमेरिकन के अनुसार --

"By modern standards, theatre is one of the service of man's attempt to understand the world and himself.It is not merely a reflection of life, but an active search for the truth's of existence"[6]

नाटक का सर्वप्रमुख तत्व उसकी नाटकीयता है। उसमें लेखनीय अनुभूति की गहराई के साथ रंगमंचीय तत्वों - विशेष तथा गत्यात्मक अथवा द्वन्द्वात्मक स्थितियों

के साथ नाटकीय भाषा का प्रयोग होना चाहिए। इस बात को ध्यान में रखते हिए समकालीन नाट्य लेखन का विकास उनके दिशाओं में हुआ। डॉ. लक्ष्मीनारायण लाल, सुरेन्द्र वर्मा आदि ने नाट्यानुभूति युक्त अच्छे नाटकों का सृजन किया। प्रगतिशील आन्दोलन के प्रबाव से आम आदमी को मद्धेनजर रखते हुए सामाजिक परिवर्तन की दृष्टि से सर्वेस्वर, भीष्म साहनी, कुसुम कुमार आदि ने नाटक लिखे, तो दूसरी ओर स्त्री पुरुष संबंधों और उनसे उत्पन्न मानसिक स्थितियों को उजागर करने के लिए मुद्राराक्षस, मोहन राकेश आदि ने सक्रियता दिखायी। माता प्रसाद आदि ने दलित चेतना भरी जीवनानुभवों को सर्वव्यापी बनाये। इस प्रकार आज हिन्दी नाटक बहुविधा प्रयोगधर्मिता को अपनाते हुए पूरी तरह रंगमंचीय आवश्यकताओं से जुड गया है।

इस प्रकार आधुनिक नाटक मानवीय संभवनाओं का समन्वय करके, अनेक मुश्किलों को सामना करना करते हुए आगे बढा है। आदि रूप से आज तक नाटक का मूल मकसद मानवीय अभिव्यक्ती ही है लेकिन वह अभिव्यक्तीकरण 1950 के बाद और बढ गया है। अनेक साहित्य महत्व के नाटक लिखे गये है। नाटकीय आलेख को जितनी श्रेष्ठता मिली है रंगमंच को भी उतनी महत्व मिली है। सच कहना है तो आधुनिक नाटक मानवीय जीवन का सही साक्षात्कार है।

6.1.1 कथ्य परक उपलब्धियाँ

साहित्य का विकास एक अनवरत प्रवाह जैसा होता है। इसमें आनेवाले परिवर्तनों को विभाजक रेखा से अलग करना संभव नहीं है. लेकिन पचास के बाद हिन्दी नाटकों के कथ्य में अनेकता का सारोकार मिलता है। केवल हिन्दी में ही नहीं मराठी, कन्नडा, बंगला के रंगजगत को इस काल को निर्णायक और विशेष काल कह सकते हैं। अपने वर्ग को परिलक्षित करने के लिए प्रसाद द्वारा प्रयत्न किया गया है लेकिन ऐतिहासिक दृष्टि से हम कह सकते हैं कि वास्तव में मानव संबंधों को गहराई से विश्लेषित करने वाले तथा जीवन के गंभीर तथा बुनियादी प्रश्नों से सीधा साक्षात्कार करानेवाने नए हिन्दी नाटक की व्यापक रचना और प्रतिष्ठा सन् 1950 के आसपास ही शुरु होती है।

आधुनिक युग की समस्याओं तथा स्थितियों का संबंध एक ओर समग्र मानवाली से है तो दूसरी ओर व्यक्तिगत जीवननानुभवों से है। द्वितीय विश्व युद्ध मनुष्य को अनिश्चित और भयभीत करवाकर उससे उसका नैतिक बोध छीन लिया गया है। मर्यादा, दायित्व आदर्श मानवमूल्य केवल शब्द ही रह गये है। इस युद्ध ने अनेक नये कथ्य जन्म लेने के लिए प्रेरित किया है. वास्तव में विश्वयुद्ध से भारत समाज को

कोई रिस्ता नहीं है लेकिन यूरोपीय समाज और ऐशिया समाज के बीच अच्छा संबंध है। इस लिए द्वितीय विश्वयुद्ध के प्रति धर्मवीर भारती के द्वारा सही उत्तर मिला है।

व्यक्ति को नये दृष्टि से देखने के लिए एक नया कथ्य अंधायुग नाटक के द्वारा आधुनिक काल को मिला है। आधुनिक काल और अंधाकाल में कोई साफ अंतर दिखाई नहीं देता है। इस संदर्भ में सुप्रसिद्ध नाट्य निर्देशक अमरल अल्काजी के शब्दों में - " ***Bharati Assumes that darkness is blindness..... In Andhayug the darkness streems from the breakdown of moral Values due to the folly of man, war and distruchion invitable lead to a faith less age whare nothing can be relied on. There fore it is an Andhayug - A yug when Lord Krishna in destroyed He who had before assumed responsiblility for our actions is now no longer with us. He was the light, but man himself has cursed and distroyed him."*** [7]

महाभारत के आठ्ठारहवें दिन की संध्या से लेकर प्रभात तीर्थ में श्री कृष्ण की मृत्यु के क्षण तक की घटनाओं पर आधारित अंधायुग में जो कुछ कहा गया है, जो संप्रेषणीय कथ्य है, वह आज का है। इस लिए अंधायुग की मूल कथावस्तु यद्यपि पौराणिक है, पर उसका कथ्य आधुनिक युग की समस्याओं तथा स्थितियों से बना है। इस नाटक में प्रहरी सामान्य मनुष्य की प्रतीक के रूप में हमें दिखाई पडते है। तटस्थ जीवन का सही चित्र हमें इस नाटक में साफ नजर आती है।

किसी भी श्रेष्ठ नाटक को अपनी संपूर्णता एवं सार्थकता पाने के लिए सतत परिवर्तनशील समय के साथ एक लगातार द्वन्द्व की प्रक्रिया से होकर गुजरते रहना पडता है। पहली बार आधुनिक नाटकों में बाहरी किर्याओं और संघर्षों के बजाय अधिकतर भीतरी प्रतिक्रियाओं और द्वन्द्व के द्वारा तनाव की सृष्टि किया गया है। मोहन राकेश के नाटक आधुनिक हिन्दी कथ्य को वास्तविक नये प्रयोगों की दिशी में ले जा सकती है। इस संदर्भ में जयदेव तनेजा का वक्तव्य सही लगता है कि - " ***हिन्दी रंगान्दोलन में मोहन राकेश के नाटकों की भूमिका के संदर्भ में समग्रतः यह कहा जा सकता है कि आषाढ का एक दिन, से हिन्दी के नये रंगान्दोलन की शुरुआत हुई लहरों के राज हंस के दौर में वह परिपक्व हुआ और आधे अधूरे ने उसे व्यापक एवं लोकप्रियता प्रदान करके शौकिया हिन्दी रंगकर्म को अर्द्ध-व्यावसायिक रंगमंच की सीमा रेखा तक पहुँचा दिया।"*** [8]

राकेश के नाटकों के बाद ही हिन्दी रंगमंच को संभावनाओं का पता चला है। अपने नाटकों से उन्होंने हिन्दी नाटक को गंभीर से लेने की कला के रूप में

परिवर्तित किया गया है। राकेश हिन्दी नाटक में परिवर्तन का प्रतिनिधित्व करते हैं। 'आषाढ का एक दिन' और वर्षों बाद के इस आषाढ के दिन की विडम्बना को तीव्रता से रेखांकित करके नामकरण की सार्थकता को सिद्ध किया। जीवन सौन्द्रर्य और आनंद की पर्याय आषाढ की वर्षा कालांतर में कैसे रहती है, अपने पात्रों के जीवन की त्रासदी से जोडकर राकेश ने आषाढ का एक दिन के रूप में एक करूणा सर्जनात्मक काव्य की रचना की है। एक क्रियाशील कलाकार की अनुभूतिमय जीवन की सही कथ्यगत दस्तावेज यह नाटक है। - ***"निस्संदेह हिन्दी नाटक के परिप्रेक्ष्य में और भाववस्तु और रूपबंध दोनों के स्तर पर, आषाढ का एक दिन ऐसा पर्याप्त सघन तीव्र और दृष्टि ज्यादा आधुनिक और सूक्ष्म है जिसके कारण वह सही अर्थ में आधुनिक हिन्दी नाटक की शुरुआत का सूचक है।"***[9]

मोहन राकेश का और एक प्रयोग 'लहरों के राजहंस' नाटक में अश्वघोस के 'सौदरनद' से संशयग्रस्त व्यक्ति के विशिष्ट स्थिति को ग्रहण करके आधुनिक व्यक्ति की उद्विग्न द्वन्द्व मानसिकता के नाटकीय चित्रण मिलता है। यह आस्थापूर्ण स्त्री, संशयग्रस्त पुरुष की तनाव और द्विविधा की नाटक है। उद्धाम प्रेम को तनावपूर्ण अधिकार से ठकराहट होने से किस तरह का परिणाम स्थापित होते हैं, इस नाटक में अच्छी तरह दिखाया गया है। नंद और सुंदरी की टकराहट ने नाटक को जीवांतता तथा इसकी परिणति हीन परिणति ने आधुनिकता प्रदान की है। इस नाटक के उपलब्धियों को दृष्टि में रखकर रमेश अवस्थी इस प्रकार लिखते है कि - ***"यह नाटक एक विशेष रचना पद्धति और शिल्पविधान के अनुसार एक सुगठित और तर्क संगत रूप बंधन से अधिकांश आधुनिक नाटककारों ने अब मुक्ति पाली है।"***[10]

मोहन राकेश के पहले दो नाटकों के पुरुष पात्र अंत में घर छोडकर चले जाते हैं। लेकिन तीसरा नाटक 'आधे अधूरे' में स्त्री पुरुष पात्र अनेक नीयत के बीच में फँसकर घर में रहने के लिए बाध्य हो जाते है। इस नाटक की कथ्य बाद में अनेक नाटकों को प्रेरणा भी दी है। मोहन राकेश अपने कथ्य में जो आत्म परिधान और प्रकृति के स्वरूप को रचाये है उसमें स्त्री पुरुष संबंध और नारी स्वातंत्र्य के स्वर गौण बन जाते हैं। परवर्ती नाटकों में इसी को मूल कथ्य बनाया है। स्वातंत्र्योत्तर हिन्दी नाटक को कथ्यगत दिशा देने में आधे अधूरे नाटक सफल हुई है। दिल्ली के निर्देशक प्रसन्ना मोहंती के अनुसार - ***"Aadhe Adhure is a situation of our society which is modern middle class family with tripical critcism and study."***[11]

उपलब्धि की दृष्टी से देखने से मोहन राकेश के नाटक के कथ्य बहुत छोटा होता है लेकिन उसके भीतर उनकी गहरी सूक्ष्म और विशाल दृष्टि से बहुत गंभीर

विषय चर्चित होते हैं। कालिदास. नंद, महेन्द्रनाद और मल्लिका, सुन्दरी, सावित्री हमारे आँखों के सामने बसी हुई जिंदगी से लिये गये पात्र हैं। आधुनिक कथ्य का प्रमुख विषय असंत्रुप्त है। कहीं भी कोई भी पात्र आधुनिक नाटक में संपूर्ण आनंद का आस्वादन नहीं करती हैं। राकेश अपने नाटकों में महान घटनाएँ रखकर उसे विशिष्ट नहीं बनाया है केवल संवेदनाओं के टकराहट के कारण उस कथ्य को और विशिष्ट बनाया है।

आधुनिक काल में मध्यवर्गीय परिवार एक सशक्त कथ्य बनाकर बाहर आता है। असंतुष्ट, कुण्ठित, अतृप्त जीवन नाटक का विषय बन गया है। स्त्री, पुरुष बच्चों के बीच जो अंतर्द्वन्द्व अब तक छुपाया गया है लेकिन मोहन राकेश उन जीवन रहस्यों को खोलकर समाज के सामने रख दिया है। कथ्य की दृष्टि से हिन्दी नाटकीय जगत को सोचने के लिए एक नया विषय, परिवार की प्रस्तावना, संबंधों की सही संकेत, समस्याओं को हल ढूँढने के लिए निरंतर संघर्ष की भिन्न धरातलों की तलाश का एक नया पहलू हमें दिखाई देता है।

राकेश द्वारा विश्लेषित किया गया स्त्री पुरुष संबंधों के यथार्थ परक प्रमाणिक चित्रण को और भी तीव्र, उत्तेजक और सौन्द्रर्य बोध बनाकर सुरेन्द्र वर्मा ने 'सूर्य की अंतिम किरण से सूर्य की पहली किरण तक', 'द्रौपदी', 'आठवाँ सर्ग' नाटक लिखे। मूल्यों के बदलाव और दाम्पत्य संबंधों की गहरी तादम्यता की कथ्य 'सूर्य की अंतिम किरण से सूर्य की पहली किरण तक' नाटक में स्पष्ट रूप से रेखांकित करता है। इस नाटक के बारे में रामगोपाल बजाज के शब्दों में - ***"काल विशेष से बढकर नाटक विषय की दृष्टि से ही हमसे संबंध जोडता है। विशेषकर उसमें नाटककार ने एक काल खण्ड में कथा का आधार डालकर पात्रों को गरिमा देने का प्रायास किया है जो आज के जीवन में व्यक्तित्व के स्तर पर कम पड गया है क्योंकि रोजी की समस्या ने आदमी को बहुत ओच्छे स्तर पर जीने को मजबूर किया है। फिर भी स्त्री पुरुष की परस्पर अपूर्णता और पूरकता की ग्रन्थि जितना ही जठिल, शास्वत प्रश्न है उतना ही सरल भी।"***[12]

स्वतंत्रता के पश्चात् नाटक विषय वस्तु और चरित्र की दृष्टि से वैचारिक स्तर से जुड गया है। आज का नाटक ऐतिहासिक, पौराणिक अथवा सामाजिक वर्गीकरण के बंधनों को स्वीकार नहीं करता। सामाजिक विषय को लेकर ऐतिहासिक परिवेश में रखकर यथार्थवादी शैली के द्वारा सुरेन्द्र वर्मा ने अपने कथ्य बनाये हैं। स्त्री पुरुष के बीच काम संबंधों में जो कोमलता होती है उसको आक्रामक कथ्य बनाकर अनुभव का क्षेत्र विस्तृत करके जीवन के रहस्यों को स्पर्श करना वर्मा की विशेषता है। इस कथ्य की प्रयोगधर्मिता को बताते हुए देवेन्द्र कुमार गुप्ता के शब्दों में - ***"आधुनिक***

दृष्टिकोण को लेकर लिखे गये इस नाटक में काम संबंधों के अद्वितीय चित्रण मिलता है। ओक्काक करुणा, आक्रोश और तमाम विसंगतियों के बावजूद महत्तरिका और उसके यौन प्रसंगों को दिलचस्पी से सुनता है। काम संबंधों के चित्रण के साथ साथ शासक और शासक तंत्र के पारस्परिक संबंध और नपुंसकता के नाटकीय अभिशाप को भी चित्रित किया है।"[13]

प्रसाद के बाद के नाटकों के स्त्री पात्र अतृप्त आकांक्षाओं की प्रतीक हो उठी है। 'आषाढ़ का एक दिन' की मल्लिका, 'लहरों की राजहंस' की सुंदरी, 'आधे अधूरे' की सावित्री, 'द्रौपदी' की सुरेका, 'सूर्य की अंतिम किरण से सूर्य की पहली किरण तक' की शीलवती, 'आठवाँ सर्ग' की प्रियंमंजरी, 'करफ्यू' में मनीषा सभी के सभी इसी मानसिकता से परिचालित है। मनोवैज्ञनिक धरातल पर पहली बार आधुनिक हिंदी नाटकों में मानसिक द्वन्द्व के साथ-साथ स्त्री पुरुष संबंधों की मर्यादित व्याख्या करने के कारण और एक कथ्य हिंदी नाटकीय परंपरा को मिली।

डॉ.लक्ष्मीनारायण लाल ने करफ्यू का सांकेतिक उपयोग किया। शहर में ही नहीं हमारे रोजमर्रा जीवन में भी करफ्यू लगाया गया है। विवाहित जीवन के बाद के सहज और विशवसनीय दाम्पत्य के बारे में अनेक प्रश्न चिह्न लगाते हुए नव्य कथ्य का परिचय आधुनिक नाटकों में मिलता है। कुल मिलाकर यह तलाश मात्र चमत्कार एवं युवावर्ग की भोगवादी उच्छृंखलता बनकर रह जाता है। कला के लिए कोई सीमा नहीं आधुनिक संबंध और स्थिति यहाँ सीधे और सरल न हो कर जटिल और संशलिष्ट है। आज कोई भी व्यक्ति को सही या गलत कहना मुशकिल है। हिंदी नाटक के उपलब्धियों में मानवीय संबंधो के अलग कोणीय दृष्टि की प्रयोग निश्चय ही अन्यतम स्थान को प्राप्त करती है।

रचनाकार को परिवेश और युग से सदा प्रभावित रहता है उसे उपेक्षित कर वह कुछ भी सृजित नहीं कर सकता। आधुनिक हिंदी नाटककारों को सब से ज्यादा परिवेश ने ही प्रभावित किया है। नाट्यानुभूति को पहली बार शब्दों के द्वारा भीष्म सहानी के नाटकों में अभिव्यक्त किया गया है। 'हानुश' और 'कबिरा खड़ा बाजार में' नाटकों द्वारा भीष्म साहनी कलाकार की संवेदनशीलता का परिचय दिये हैं। हानुश का व्यक्तिगत सत्य और उसकी व्यक्तिगत त्रासदी एक वर्ग का सत्य था, कलाकार वर्ग की त्रासदी थी। शासन द्वारा प्रताड़ित उस कलाकार का समूहिक सत्य, जो हर युग में होता आया है। इसलिए इन दो नाटकों में कलाकार की यह अनुभूति देश और कला की सीमा को लांघकर व्यापक अनुभूति बन जाती है।

कबीर और हानुश नाटकों के बारे में लवकुमार लवलीन के वक्तव्य सही लगता है कि --***"भीष्म साहनी का नाटक 'कबीरा खड़ा बाजार में' मूलतः संवेदना को लेकर आगे बढ़ता है जिस संवेदना का नाटक हानुश है। दोनों का संबंध मध्यकालीन अंधनगरीत्व, शासकीय तानाशाही,अत्याचार, शोषण, कष्टपूर्ण जीवन स्थितियों, व्यापक धार्मिक असहिष्णुताओं,कट्टरता, विडम्बित परिस्थितियों और इन सबके विरुद्ध अभिव्यक्ति के जन स्वातंत्र्य और मानव मूल्यों के लिए लड़ाई करनेवाले दो सृजक कलाकारों से है, जो अपने जीवन मूल्यों को भूलकर अपनी सामाजिक, आर्थिक परिस्थिति को परे रखकर और अंततः अपने जीवन का बलिदान देकर परिवर्तन की प्रक्रिया आरंभ करते हैं।"***[14] राकेश के कालिदास में जो पलायनवादिता दिखाई पड़ी है वह भाव कबीर और हानुश में नहीं दिखाई पडती है। समस्याओं से दोनो नहीं भागते हैं उनका ठीक तरह से सामना करते हैं यह नव्य कथ्य की विशेषता है। भारतेंदु हरिश्चन्द्र ने अपने नाटक 'अंधेरी नगरी' में जो नीति बतायी है - शासक बदल रहे हैं लेकिन शासकीय नीति नहीं बदल रही है उसी तरह कलाकर का अनुभव मध्ययुग में कबीर और हानुश के ही नहीं पहले भी था और आज भी है। मानवीय मूल्य संवेदनाओं को सही रूप देना आधुनिक नाटकों का मूलभूत विषय बन गया है। आधुनिक नाटकों में नाट्यानुभूति की सम्प्रेषनीयता भी नाटक की मूल चेतना से जुड़ी जाती है।

आधुनिक नाटकों में राजनीतिक व्यंग्य भरे नाटक अमूल्य निधि के रूप में बाहर आये हैं। राजनीतिक और आर्थिक भ्रष्टाचार का चित्रण बकरी, सिंहासन खाली है, रागदरबारी नाटको में परिवेश की तमाम समस्याओं का चित्रण मिलता है। सर्वेश्वर दयाल सक्सेना का नाटक बकरी हिंदी नाट्य जगत को ऐसे व्यंग्य भरे प्रतीकात्मक कथ्य प्रदान की है जैसे पशु प्रतीक के विधान द्वारा देश की राजनीति का नंगा चित्र लोगों के सामने प्रस्तुत किया। ***"बकरी नाटक के माध्यम से नाटककार ने राजनीतिक मूल्यों को एक नयी दृष्टि से देखा है। पशु प्रतीक के माध्यम से राजनीतिक मूल्य की स्थापना और उसकी दिशाहीनता एवं मूल्यहीनता को निरूपित करने का यह नाटककार का अपना मौलिक प्रयास है। मुख्य रूप से राजनीतिक मूल्य पर दृष्टिपात करना ही नाटककार का लक्ष्य जान पडता है। और नाटक का प्रतिपाद्य विषय भी राजनीतिक संदर्भों से बाहर नहीं।"***[15]

अपने परिवेश को यथा रूप प्रतिबिंबंत करना आधुनिक नाटककारों का और एक कथ्यगत विषय है। 'सिंहासन खाली है' नाटक मूलतः राजनीति परिप्रेक्ष्य का व्यंगात्मक नाटक है और राजनीति की यथार्थ विसंगति को उभारनेवाला भी है। सिंहासन सत्ता का एक ऐसा प्रतीक है जिस पर बैठकर हमारे नेता असत्य, हिंसा और

अन्याय की प्रतिष्ठा कर रहे हैं। जनता निरीह और बेबस अपमान भरा जीवन जीती है। यह सब आधुनिक नाटककारों को सोचने के लिए और जनता तो जागृत करने के लिए नये कथ्य दिये। हमारे देश का संपूर्ण इतिहास राजनीति के कुचक्र, छल और विश्वासघात का साक्षी रहा है और स्वतंत्रता के बाद भी यह क्रम चलता ही रहा है। सबसे बड़ी त्रासदी तो यह है कि जो उस अन्याय और हिंसा के विरुद्ध आवाज उठाते हैं,राजा और सत्ता के विरोध के नारे लगाते हैं, उसे बागी बताकर समाप्त कर दिया जाता है। सिंहासन की लोलुपता एवं सत्ता पर बैठकर जनता को परेशान करने का यह क्रम लंबे समय से चला आ रहा है। इस लिए इसकी कोई अंत नजर नहीं आता। राजनीति के समकक्ष आधुनिक हिंदी नाटककार आर्थिक विषय भी अपने कथ्य में समेट लिया है। बकरी के राजनीति भ्रष्टाचार के पीछे, आधे अधूरे में संक्लिष्ट जीवन के पीछे आर्थिक गतिविधियाँ ही निक्षिप्त रही। मध्यवर्गीय मानसिकता को आधुनिक नाटककार अपने कथ्य बनायें हैं। मध्यवर्गीय जीवन का हरेक कार्य के पीछे निहित अंत:चेतनाएँ बहुत सहानुभूति पैदा करने की कोशिश की है।

स्वातंत्र्योत्तर हिंदी नाट्य के परिवेश के अनंतर हिंदी - बंगला - मराठी - कन्नड भाषाओं में आधुनिक दृष्टि संपन्न रचना धर्मिता की सामान्य समानताएँ दिखाई देती हैं। और यह आधुनिता की समानता मंच को एक विशेष स्थान प्रदान करने के प्रयास में भी दिखाई देती है। गिरीश कर्नाड के तुगलक, हयवदन, विजयतेंदूलकर के घासीराम कोतवाल, बादल सरकार के बाकी इतिहास आदि अनेक नाटक हिंदी में अनुवाद होकर हिंदी कथ्य जगत को सुसंपन्न किये थे। बहुभाषी नाटक के कारण हिंदी नाटक का सीधा संबंध संपूर्ण मानवीय और प्रकृतिगत व्यवहार की सोद्धेश्य से भी हो सकता है और भविष्य की घनात्मक प्रेरणा भी मिली।

आधुनिक परिवेश ने नाटककार को सक्ष्म और गहरी विषयों पर सोचने के लिए मजबूर करती है। स्त्रीवादी समस्याओं पर साम्प्रदायिक और दलित जीवन की त्रासदीपूर्ण जीवन पर भी आधुनिक नाटककार अपनी दृष्टि लगाये हैं। अपने नाटकों द्वारा इन्होंने हिंदी साहित्य की मुख्यधारा को प्रभावित किया। मुख्यधारा में आए इन मोडों, परिवर्तनों, प्रभावों ने समय-समय पर कुछ ऐसी रचनाएँ प्रस्तुत की, जिन्हें केवल वही अनुभव कर सकते थे, जो वास्तव में रचना के सामजिक,राजनीतिक और सांस्कृतिक संदर्भ से गुजरे हो। नाग बोडस के दलित, माता प्रसाद के अन्तहीन बेडियाँ, धर्म परिवर्तन, तडप मुक्ति की, झलकारी बाई आदि नाटकों में दलित जीवन के बारे में अनेक स्पष्ट सत्य को हमारे सामने रखते हैं।

इस प्रकार आजादी के बाद अनेक विशिष्ट कथ्य दर्शकों के सामने आये हैं। जो कथ्यगत विशेषता को लेकर नाटककार ने नाटक लिखे हैं उसको रंगमंच के

निर्देशक ने और भी विशेष्य बनाये है। देश भर में ऐसा कोई समस्या नहीं जो समकालीन नाटककारों ने ना चुना हो। अंधायुग से लेकर अन्तहीन बेडियाँ तक हर कथ्य में कोई न कोई उपलब्धि हिंदी नाट्य जगत को प्राप्त हुई है। परिवेश, प्रतीकात्मकता, आधुनिक व्यक्ति की परिकल्पना आदि अनेक विशिष्ट गुण हिंदी साहित्य को आधुनिक उपलब्धी के रूप में प्राप्त हुई है। इस संदर्भ में गिरीश रस्तोगी लिखते हैं कि - ***"नाटककार या तो मनोरंजन प्रधान नाटक लिखते रहें या सामजिक, राष्ट्रीय जागरण संबंधी या नैतिक और सांस्कृतिक दृष्टि से सम्पन्न,लेखन इस दौर का लगभग सारा नाट्य साहित्य संख्या में बृहद होते हुए भी मात्र पाठ्यक्रमीय नाट्य साहित्य है जिसमें रंगमंच की कोई स्पष्ट कल्पना या धारणा ही नहीं है - यहाँ तक कि इनमें रंगनिर्देश भी पाठ्य है।"***[16]

6.1.2.विधा परक उपलब्धियाँ

नाटक की विधा प्राचीन काल से आज तक अनवरत गतिशील है। किसी काल में उसका विकास अधिक हुआ है, किसी काल में कम। लेकिन यह विधा लुप्त नहीं हुई। सम्प्रेषण की दृष्टि से नाटक बडी सशक्त विधा है। इस नाट्य विधा पचास के बाद अनेक रूपों में अपनी संप्रेषनीयता को व्यक्त करने की चेष्टा करता है। अपने मूल को मजबूत करने केलिए और दर्शकीय चेतना को बढ़त्व देने के लिए पचासोत्तर नाटक अनेक नए विधाओं का सृजन करता है। उसमें गीति नाट्य, लोक नाट्य, नुक्कड नाटक, नाट्य रूपांतरण और अनुवाद प्रक्रिया मुख्य रूप से लिया जाता है। इन प्रक्रियाओं के अवतरण से हिंदी रंगजगत को अनेक उपलब्धियाँ मिली हैं।

संस्कृत में शूद्रक के बाद आधुनिक युग में भारती का 'अंधायुग' उस क्लासिक नाट्य परंपरा का पहला महत्वपूर्ण भारतीय नाटक है'। गिरीश कर्नाड का यह वक्तव्य सही लगता है क्योंकि गीति नाट्य को ठीक - ठीक परिभाषित करने, उसकी शक्ति और सीमा उपलब्धि और संभावना को रेखांकित करने तथा इस विधा की नाट्यात्मक क्षमता एवं काव्यात्मक सामर्थ्य को प्रदर्शित करके श्रेष्ठ नाटक का प्रतिमान स्थापित करने में जो योगदान अंधायुग ने दिया है, वह इस केवल हिंदी नाटक ही नहीं बल्कि संपूर्ण आधुनिक हिंदी साहित्य की अत्यन्त महत्वपूर्ण कृति सिद्ध करने के लिए पर्याप्त है। आंतरिक द्वन्द्व पर दृष्टि लगाना इस गीति नाट्य से ही मिली है। 'अंधायुग' और 'सूखा सरोवर' इत्यादि गीति नाट्य हमें अपनी नैजिक रंगदृष्टि की खोज करने, उसकी अपरिमित सम्भावनाओं को तलाशने और उपलब्धि के विविध सोपानों को रेखांकित करने में बहुमूल्य योगदान दिये हैं।

लोक नाटक मानव के मूल अस्थित्व से जुड़ा हुआ है। इस विधा पचासोत्तर नाटकीय प्रक्रिया को आगे ले जाने में सक्षम हुई है। लेकिन वैचारिक स्तर पर भावना से मुक्त होकर विचार के धरातल पर नाटकीय क्रियाकलाप से अलगाव का अनुभव करता है। नट-नटी संवाद तथा प्रयोक्ता इत्यादि लोक नाट्य से ही प्राप्त हुआ सफल उपलब्धियाँ है। 'बकरी' नाटक से 'प्रतिरोध की चेतना' हिंदी नाटक को प्राप्त हुआ है। हबीब तन्वीर अपने रंगयात्रा में लोकनाट्य रूप 'नाचा' से हिंदी नाटक को सुशोभित किया है। मात्र मनोरंजन ही नहीं, वरन सामाजिक परिवर्तन के लिए आवश्यक एक सांस्कृतिक भूमिका का भी लोक नाटक के माध्यम से हो रहा है।

लोक नाटक से हिंदी नाटक किस हद तक प्रभावित हुआ है। नीचे दिये गये वक्तव्य से हमें स्पष्ट होता है--***"हिंदी के समकालीन नाटकों में साम्प्रदायिकता के विरोध के तथा राष्ट्रीय एकता - स्वातंत्र्य और समता के जो स्वर प्राप्त होते हैं, उनमें एक सीमा तक लोक नाट्यों का योगदान माना जा सकता है। इसलिए कथ्य के स्तर पर समकालीन हिंदी नाटको में लोक नाट्यों का ही प्रभाव नहीं पड़ा है, वरन् आधुनिक दृष्टिकोण का भी उन पर पर्याप्त प्रभाव पड़ा है।"***[17]

पचासोत्तर हिंदी नाटक का परिवर्तित रूप नुक्कड नाटक समकालीन जीवन की रोजमर्रा की समस्याओं के उत्पन्न संघर्ष की प्रेरणा के परिणाम - स्वरूप उभरा एक नाट्य -रूप, नाट्य प्रयोग है जिसके जरिये कुरीतियों, अंधविश्वासों, आडंबरों, रूढ़ियों में जकड़ी समाजिक व्यवस्था का उद्‌घाटन और प्रवर्तमान पूँजीवादी - सामंति ढांचे की आर्थिक - सामाजिक, राजनैतिक विषमताओं के दुष्चक्र में फँसे जन जीवन की विडंबनाओं, तथा आज की दूषित अवसरवादी, राजनीति और प्रशासन के साथ पूँजिवादी-सामंत गठबंधन को ज्यों का त्यों प्रस्तुत किया जाताहै। 'मात्र मनोरंजन के लिए कला' के पक्ष को नकारकर उसे जन पक्षधर भी सिद्ध करना नुक्कड नाटक की अपनी खास विशेषता है। जन पक्षधरता ही नुक्कड नाटक की सशक्त उपलब्धि माना जाता है।

नाट्य रूपांतरण प्रक्रिया ही पचासोत्तर नाटकीय सशक्त उपलब्धि है। उपन्यास और कहानी जैसे कठिन विधा को मंच के लिए परिवर्तित करना बडा ही चुनौतीपूर्ण विषय है। गोदान, मैलाआँचल, रागदरबारी जैसे सशक्त उपन्यास, परमात्मा का कुत्ता, कसाई बाडा, नंगी आवजें, जैसे कहानियों को रूपन्तर करके दर्शकों को इन महत्वपूर्ण रचनाओं की आत्म और जीवन स्पन्धनों, दृश्यात्मक माध्यम की लय से संप्रेषण करने की चेष्टा की गई है। नये ढंग से, नये सिरे से सोचने और कल्पना शक्ति को विस्तार करने की सुविधा इस नाट्यरूपांतरण से मिलता है। इस प्रक्रिया से पचासोत्तर नाटकीय प्रक्रिया को नयी दृष्टि मिली है।

पिछले पन्द्रह बीस वर्ष में भारतीय भाषाओं में, विशेषकर हिन्दी में नाटकों के अनुवाद की प्रक्रिया बडी व्यापक और तेज हो गयी है। इस अनुवाद प्रक्रिया के कारण मराठी, बंगला, कन्नड इत्यादि भाषाओं से हिन्दी में ज्यादातर नाटक अनुवाद होकर मंचित हुए है। जूलूस, बाकी इतिहास आदि बादल सरकार के नाटकों हिन्दी मंच को सुशोभित करने में सफल हुए हैं। गिरीश करनाड के 'हयवदन', 'तुगलक' और मराठी से विजय तेंदुलकर के 'खामोश अदालत जारी है', 'घासीराम कोतवाल' आदि अनुवाद होकर 1975 के बाद रंगमंच को जीवंत करने में सफल हुए है। अन्य प्रयोग के कारण भाषागत संस्कृति से हिन्दी दर्शक अच्छी तरह परिचित होते हैं।

इस प्रकार 1950 से 2000 तक के हिन्दी नाटक को सृजनात्मक बनाने में उक्त विधाएँ निर्णयात्मक भूमिका निभई है। महत्वपूर्ण बात यह है कि इन सभी प्रयोगों में विधागतपरिवर्तन किसी चालू फैशन के कारण नहीं; बल्कि एक रचनात्मक भावबोध, और कलात्मक विवेक पर आधारित है। इन उपलब्धियों के कारण पचासोत्तर हिन्दी नाटक अपने क्षेत्र को व्यापक बनाने में सफल हुआ है।

6.2.3 मंच परक उपलब्धियाँ

रंगमंच एक सजीव कला रूप है। मानवीय अभिव्यक्ति के लिए सफल माध्यम के रूप में रंगमंच मशहूर है। पचासोत्तर नाटक रंगमंचीय चेतना से परिपूर्ण है। पचास के बाद नाटक और रंगमंच के संबंध का भी नवारंभ हुआ है। रंगमंच के विकास की गति इतनी तीव्र हो गई है कि नाट्य रचना की दृष्टि से क्रांतिकारी परिवर्तन देखने में आये हैं। पचासोत्तर प्रमुख नाटककार धर्मवीर भारती, मोहन राकेश, सुरेन्द्र वर्मा, लक्ष्मीनारायण लाल आदि सभी ने न केवल नाटक और रंगमंच के पारस्परिक संबंधों को स्वीकार किया है अपितु स्वयं रंगमंच के अनुकूल नाट्यकृतियों का सर्जन किया है। इनकी रंगमंचीय चेतना का प्रसार इस सीमा तक कर दिया है कि दर्शकों में नाटक देखने की अभिरुचि को सघन करने में भी अपूर्व योगदान दिया है।

पचासोत्तर रंगमंच में दृश्यात्मक परिकल्पना एक महत्वपूर्ण तत्व के रूप में स्वीकारा गया है।अंधायुग से लेकर सभी नाटकों में उस प्रत्येक परिवेश के अनुसार दृश्यबंध का निर्माण किया गया है। हिंदी रंगमंच को उत्कृष्ट बनाने में इस 'सैटिंग' आधुनिक नाटक के महत्वपूर्ण और आत्यन्तरिक अंग है। अंधायुग, करफ्यू, आधे अधूरे नाटक के दृश्यबंध हिंदी नाटक में महत्वपूर्ण उपलब्धि के रूप में ले सकते हैं।

मंच पर प्रस्तुत पूर्व नाटककार और निर्देशक के हाथों में ही नाटक रहता है अन्तत:नाटक दोनों के हाथों से छूटकर अभिनेताओं के हाथ में आ जाता है। पात्र की

परिकल्पना करने में पचासोत्तर नाटककार सफल सिद्ध होते हैं। धर्मवीर भारती, मोहन राकेश, सुरेंद्र वर्मा,भीष्म सहानी के पात्र अपने हर तरह के भावों को प्रकट करने में हिचकते नहीं। मोहम राकेश के पात्रों की चेष्टाओं को दृष्टि में रखकर राकेश वत्स इस प्रकार लिखते हैं कि -- ***"थकान निकालने के स्वर में, कुछ हताशा भाव से, अपराधी स्वर में, छिले हुए स्वरों में, तीखी नजर उस पर डालकर ओछा पडकर, तिरस्कार पूर्ण स्वर में, धीमा पडकर, परापति स्वर में, गहरी वितृष्णा के साथ, रुलाई लिए स्वर में, लगभग डांटती, उतावली पडकर, आँखे फाडकर देखते हुए, कमजोर पडकर ढ़ीठपन के साथ, ऊँचे स्वर में इसी तरह हर भाव, हर मुद्रा, हर अंग की हरकत को राकेश ने रंग संकेतों से निर्देशित किया है।"*** [18]

पचासोत्तर नाटककारों ने वेशभूषा का प्रतीकात्मक प्रयोग ही अधिक किया है। अंधायुग नाटक को निर्दिशित करने वाले सभी निर्देशक महाभारत संबंधी रूप सज्जा एवं वेशभूषा में प्रस्तुत किया है। आधे अधूरे नाटक में काले सूटवाले आदमी, द्रौपदी नाटक में पाँचों नकाबवाले आदमी को अपने पात्र परिचय के लिए इस रूप सज्जा ही ज्यादा सहायता देती है। रूप सजेजा के साथ पचासोत्तर नाटकों के उपलब्धि के रूप में प्रकाश व्यवस्था को भी हम गिन सकते हैं।पात्रों की मन:स्थिति को उभारने में प्रकाश योजना को इस्तेमाल किया गया है। लेकिन नुक्कड नाटकों में इस व्यवस्था को गौण स्थान दिया गया है।

पचासोत्तर नाटक को सजाने के लिए संगीत का प्रयोग होता है। संतोष या दुख भरे पूर्ण स्थितियों को तीव्र बनाने के लिए इस संगीत और ध्वनि का उपयोगीकरण किया गया है। 'अंधायुग' नाटक में अनेक ध्वनियाँ सफलतापूर्वक प्रयुक्त किया गया है। 'सूर्य की अंतिम किरण से सूर्य की पहली किरण तक' नाटक में भी रात और प्रात:काल के अनेक ध्वनियों का सुनिश्चित रूप से प्रयोग किया गया है। ध्वनि और संगीत लोक और नुक्कड नाटकों का प्राण तत्व है। आधुनिक मंच को आकर्षक माध्यम बनाने में ये सभी तत्व साक्षी है।

पचासोत्तर रंगमंच के विकास के साथ निर्देशक का महत्व भी बढ़ा है। पचास के बाद अलग-अलग निर्देशक, अपनी पसंद, रुची के अनुसार एक ही नाटक की भिन्न-भिन्न व्याख्याएँ, भिन्न-भिन्न शैलियों में प्रस्तुत करते हैं, इससे नाटक की संभावनाएँ उजागर होने लगती हैं। प्रदर्शन की पहचान निर्देशक की प्रतिभा से निर्धारित होने लगी है। राम गोपाल बजाज, ओम शिवपुरि, हबीब तन्वीर, बी.वी. कारंत आदि ने सफल निर्देशक के रूप में विख्यात हुए हैं। इस निर्देशन की योगदान पर दृष्टि रखकर नेमिचन्द्र जैन इस प्रकार लिखते हैं कि - ***"पचासोत्तर प्रदर्शनों और प्रयोगों की एक अन्य महत्वपूर्ण विशेषता है दर्शकों के साथ अधिक तादम्य लगाव। अक्सर निर्देशक***

ऐसी युक्तियों का सहारा लेते हैं जिससे नाटक की कार्य व्यापार दर्शकों के बीच में से होता है। प्रेक्षागृह में अभिनेताओं की उपस्थिति, उनके प्रवेश - प्रस्थान उनके जुलूस आदि के द्वारा निर्देशक दर्शकों को तटस्थ नहीं बना रहने देता, कार्य व्यापार में घसीट लेता है, साझीदार बना लेता है। पिछले दिनों अनेक प्रदर्शनों में यह प्रवृत्ति दिखाई पडी है।"[19]

पचासोत्तर नाटक की विशेष उपलब्धि उनके दर्शक ही है। अंधायुग, आधे अधूरे, हानुश इत्यादि नाटकों को हजारों दर्शकों ने देखे हैं। पचासोत्तर रंगमंच की महत्वपूर्णता इसी वर्ग पर आधारित है। हिन्दी नाटक के दर्शक सचेत और आधुनिक हैं। इस काल के नाटक की प्रस्तुति में दर्शकों की सहभागिता बढ़ाने के लिए अनेक मंचीय प्रयोग मिलते हैं। अस्सी के बाद यह दर्शक वर्ग सचमुच बहुत सीमित और अल्प हो गया है। यह बडी चिन्ताजनक स्थिति है।दर्शक को इस विधा के प्रति आकर्षित करना समकालीन नाटककार पर ही निर्भर है।

इस प्रकार पचासोत्तर रंगमंचीय उपलब्धियों से हिन्दी नाटक अनेक सफल मोडों को पार कर प्रसिद्धी पाई है। समकालीन हिन्दी नाटक और रंगमंच का विकास देश और विशेषतः हिन्दी क्षेत्र की समाजिक स्थिति से संबंधित रहा है। उक्त उपलब्धियों से समाजिक स्थितियाँ रंगकर्म तथा रंगचेतना भी प्रभावित होती हैं। आगामी पीढ़ियों को मनोरंजन के लिए विभिन्न रंग युक्तियों, परिकल्पनाओं आदि से परिचय उक्त उपलब्धियों से ही प्राप्त होती हैं।

6.1.4 शिल्प परक उपलब्धियाँ

कथ्य के साथ - साथ युग में पारंपरिक शिल्प को भी नकार कर अनेक नए प्रयोगात्मक उपलब्धियों की खोज की गया। पारंपरिक नाट्य रचना को छोडकर सम-सामयिक जीवन-स्थितियों के अनुरूप नये-नये नाट्य शिल्प के प्रयोग शुरू किया गया है। इस युग में सदियों के बाद रंगमंच के लिए नाटक लिखे गए। प्रथम चरण में नृत्य, गीत आदि के रूप में द्वितीय चरण में कथा और चरित्र का रंग डालकर नाटक एवं रंगमंच की निर्मिती सामाजिक और सांस्कृतिक अभिव्यक्ति के लिए ही हुई। ज्यों-ज्यों मनुष्य का जीवन सरल से संश्लिष्ट होता गया, उसके रंगमंच में स्वभावतः पूर्ण रचित नाट्यकृति की अपेक्षा होती गई और यह अपेक्षा इतनी बढी कि रंगमंच का पूरा रूप उसका सारा स्थापत्य नाट्यकृति में अंतर्निहित हो गया।

आधुनिक नाटकों में विस्तृत रंग संकेतों का प्रयोग अति आवश्यक माना गया। प्रत्येक अंक तथा प्रत्येक दृश्य के आरंभ में दृश्यविधान, स्थान, उद्यान वातावरण आदि

का विशद संकेत तो होता ही है साथ ही पात्रों की स्थिति, रंग, आयु, वेशभूषा, उनकी मुद्रा तथा अन्य रंगमंच संबंधी विशिष्ट बातों का विस्तृत चित्र दे दिया गया है। यह हिन्दी नाट्य शिल्प को एक उपलब्धि के रूप में स्वीकारा गया है। आधुनिक नाटककारों की भूमिका और भी विस्तृत बन गयी है। लक्ष्मीनारायण लाल लिखते हैं कि -***"नाटककार केवल लेखक ही नहीं है, वह प्रस्तुतकर्ता, निर्देशक की प्रतिभा,अभिनेता और रंगशिल्प पहले की कला से परिचित होने की अपेक्षा रखता है।"***[20]

आधुनिक नाटकों की विशेष उपलब्धि भाषा ही है। एक व्यक्ति से दूसरे व्यक्ति तक अपने निजी उपलब्धी पहुँचाने के लिए एक सरल, सुव्यवस्थित और सशक्त भाषा की आवशयकता है। भाषा परक अनेक नए प्रयोग करने के लिए हिन्दी नाटक निरंतर सक्रिय रहा है। रूढियों, परंपराओं, अस्वाभाविकताओं का त्यागकर, नवीन प्रभाओं, विचारों, प्रवृत्तियों और नवीन प्रयोगों को ग्रहन करने की उदारता उसमें सदैव रही है। आधुनिक हिन्दी नाटकों में भाषा एक अनवरत रूप लेकर सम्प्रेषण को और भी विशिष्ट बना दिया है।

आधुनिक नाटककारों ने भाषा शैली का विशेष ध्यान रखा है। अपने नाटकों में अवसर के अनुकूल, प्रांतीय भाषाओं और बोलियों का प्रयोग किया है। आधे आधूरे में पात्र पंजाबी मिश्रित हिन्दी में बोलते हैं। 'लहरों के राजहंस', 'आषाढ का एक दिन' के पात्र संस्कृत गर्भित हिन्दी बोलते है। मोहन राकेश के नाटकों में प्रयुक्त होनेवाली भाषा सचमुच हिन्दी भाषा की अन्यतम उपलब्धी है। सुरेंद्र वर्मा के नाटकों में प्रयोग होनेवाली भाषा जीवन से जुड़ी हुई है।हबीब तन्वीर अपने नाटकों में छत्तीसगढ़ी कलाकारों से छत्तीसगढ भाषा में अनेक उपलब्धियाँ प्राप्त करवाये हैं। भीष्म साहनी के नाटकों में मध्यवर्गीय जीवनानुभों से जुड़ी हुई भाषा का उपयोग किया गया है।

जब हिन्दी नाट्य जगत में नुक्कड नाटक का दौर शुरू हुआ तब जन मानस की भाषा का उपयोगीकरण बढ़ गया है। सफदर हाशमी, असगर वजाहत, डॉ. चन्देश, रमेश उपाध्याय, गुरु चरण सिंह के नुक्कड नाटकों में कस्बाती बोलियों का ज्यादातर उपयोग किया गया है। शब्दों से मुक्ति की परिकल्पना करने लगे। इस संदर्भ में देवेन्द्र राज अंकुर लिखते हैं - ***"बीसवी शताब्दी के रंग इतिहास में पूरे विश्व में नाटक के इसी प्राण तत्व शब्द से ही मुक्ति पाने की कोशिशें होती रही है, और सब से दिलचस्प तथ्य यह है कि जहाँ- जहाँ शब्दों को पीछे छोडते हुए मात्र अभिनेता की वाणी और शरीर के माध्यम से एक नई रंग भाषा तैय्यार करने की दिशा में लगातार काम हुआ, वहाँ भी अंततः शब्द ही नाट्य प्रस्तुति के केन्द्र में रहा।"***[21]

साठोत्तर के बाद लिखे गये ज्यातर नाटकों में अंग्रेरी शब्दों का प्रयोग बढ़ गयी है। आधे अधूरे में,करफ्यू और दौपदी नाटकों में ज्यातर अंग्रेजी शब्दों का प्रयोग मिलता है। यह बात तो सच है कि पचासोत्तर नाटककार ने अपने नाटकों में भाषा का चुनाव बहुत सोच समझकर करते हैं। दलित नाटकों में तो एक-एक शब्द मनुष्य के आहत से जन्में हुए लगते हैं। असगर वजाहत के पाँच नाटक और नाग बोडस के 'तीन नाटक' में इस्तेमाल करनेवाली भाषा विशिष्ट छाया की सृष्टि करती है।

आधुनिक हिन्दी नाटकों में संवादो पर अत्यधिक ध्यान दिया गया है। अत: नाटक में, संवादो को संक्षिप्त, सरल बनाया गया है। करफ्यू नाटक में संवाद छोटे होते हैं। 'सूर्य की अंतिम किरण से सूर्य की पहली किरण तक' नाटक में संवाद बडे-बडे होते हैं। साधारणतया आधुनिक नाटकों में सरल, चुस्त,प्रभावशील संवाद मिलते हैं। संवादों की दृष्टि से देखने से आधुनिक नाटकों में सुरुचिपूर्ण संवाद और बडे प्रभावशाली पूर्ण संवाद मिलते हैं। पचास के बाद आधुनिक हिन्दी नाटकों के संवादों में प्राश्निक मुद्राएँ और भंगिमाएँ सब एक तरह की नहीं है। उनमें से प्रश्न को टालना या उससे बच निकलना भी एक है। सूर्य की अंतिम किरण से सूर्य की पहली किरण तक नाटक में नीचे दिए गए संवाद निश्चय ही हिन्दी नाटकों में अन्यतम उपलब्धि ही है। जैसे -

"शीलवती : सुखी हो?

प्रतोश : तुम सुखी हो?

शीलवती : मैं ने तुम से पूछा है।

प्रतोश : तो दुखी भी नहीं हूँ।....वैभव बहुत कुछ दे देता है, और जो नहीं दे पाता, वह उतना महत्वपूर्ण नहीं लगता।

शीलवती : ब्याह क्यों नहीं किया ?

प्रतोश : (कृत्रिम आश्चर्य से) यह क्या होता है ?"[22]

वस्तुत: भाषा का जगत ही मनुष्य की भावना का जगत भी होता है। हम जो भाषा प्रयोग में लाते हैं वह जीवन और जगत के प्रति हमारी धारणा का प्रतीक भी होती है। एक पात्र की अवधारणा दूसरे के लिए भ्रामक और विवेकशील प्रेक्षक के लिए हास्यास्पद भी हो सकती है। पर आधुनिक नाटक रूढ़ियों और सामान्य के विरुद्ध है। इस लिए उसमें अप्रत्यक्षित, उलझे हुए, असाधारण किस्म के संवाद अधिक मिलते हैं। आज का जीवन असामान्य घटनाओं और जटिल अनुभवों के बीच उलजता जा रहा है। इसके साथ ही जीवन और जगत को देखने की दृष्टि भी बदली है। अत:

आज की बदली हुई स्थितियों के साथ संबंधों का जो अलगाव आया है उसमें संवाद या तो रह नहीं गया है या उसकी मुद्राएँ बदल गयी हैं। वस्तुतः हिन्दी नाटकीय जगत को उपलब्धि के रूप में नकारात्मक, प्रश्न गर्भित, तीखी, तल्ख, कुटिल और यांत्रिक संवाद मिले हैं।

केवल भाषा, संवाद योजना ही नहीं हिन्दी नाटककारों ने अपने सफल संप्रेषण के लिए प्रतीकों और बिंबों को चुना लिए हैं, वहाँ अपेक्षित प्रभाव पैदा करने की कोशिश की गयी है। 'लहरों के राज हंस', 'बकरी', 'योर्स फेथफुली' आदि नाटको में प्रतीकों की भरमार प्रयोग मिलती है। आधुनिक नाटकों में नवीन प्रवृत्तियों के द्वारा संवाद रचना में प्रतीक और बिबं योजना की भी किसी प्रकार उपेक्ष नहीं की जा सकती है। लेकिन शिल्प की उपलब्धि के रूप में भारती, राकेश, सुरेंद्र वर्मा ने इसका काव्यात्मक प्रभाव के लिए विशेष प्रयोग किया है।

आज नाटककार इस सत्य से पूरी तरह अवगत दिखाई देता है कि शब्दो की अलग से कोई विशेषता नहीं, उनके अर्थवत्ता वाक्य में उनके विन्यास और रंगीय संभावनाओं पर निर्भर करती है। वस्तुतः संवाद की बोले जाने की प्रक्रिया अभिनय की आधार भूमि है। कई अन्य प्रकार्यों के साथ नाटकीय संवेदना को रूपायत करने, बिंबों को उभारने, प्रेक्षक की कल्पना जगाने आदि में संवाद मुख्य भूमिका निभाते है। हिन्दी नाटक साहित्यक प्रवृत्ति से रंगमंच की ओर उन्मुख हुआ है। यह अपने में एक घटना है जिसके दूरगामी परिणाम भाषिक और संवाद रचना के वैविध्य,साम्य-वैषम्य, गति, लय, दृश्यत्व,क्रिया तथा भाषेतर माध्यमों के समाहार में दिखाई देते हैं। आधुनिक युग में रूप विधान को लेकर जहाँ कई नए प्रयोग हुए हैं, वहाँ संवाद के क्षेत्र में कोरस, संगीत, नृत्य प्रेक्षक का सामीप्य संबोधन और अलगाव जैसी प्रवृत्तियों को भी अपनाया गया है।

शिल्पगत उपलब्धि में भाषा के आंगन में मौन भी आता है। अंधायुग में विधुर गांधारी के समक्ष युयुत्सु को प्रस्तुत करते हुए उसे आशीर्वाद देने को कहते हैं, किन्तु गांधारी मौन रह जाती है। यहाँ एक वास्तविक मौन की स्थिति है और दूसरी वह शाब्दिक स्थिति भी, जिसमें शब्द स्वयं मौन के प्रतिरूप हो जाते हैं। आधे -अधूरे में पात्रों के बीच का तनाव,तल्की, उपेक्षा, घृणा आदि जहाँ शब्दों से व्यक्त हुए हैं वहाँ मौन से भी। सूर्य की अंतिम किरण से सूर्य की पहली किरण तक नाटक में प्रतोष और शीलवती के शारीरिक संबंध में आनंद की चरम परिणति को व्यक्त करने के लिए इसका अच्छा प्रयोग हुआ है। लक्ष्मीनारायण लाल के नाटकों में एक पात्र की अपेक्षा दोंनों पात्रों के मौन का प्रयोग करना बदलाव के अधिक निकट हुआ है। सामान्यतः

इसे विराम के नाम दिया गया है। यह प्रक्रिया भी हिन्दी नाट्य जगत को उपलब्धि के रूप में भी मिला है।

पहले नाटक की भाषा सर्जन की भाषा थी, अब वह सही अर्थों में सर्जनात्मक भाषा है। इसविए आज यदि इस बात का उत्तर देने की बाध्यता आना पड़े की हम पूर्व पीढ़ी से किस बिन्दु पर भिन्न है तो इसके लिए किसी अन्य रास्ते पर न जाकर सर्जनात्मक लेखन की भाषा की सूक्षमताओं को पलटना होगा। वस्तुतः यही भाषा अपने सूक्षम विषयों में एक नई नाट्य दृष्टि की वाहिका भी बनी। आधुनिक काल के परवर्ति विकास में नाटककारों ने भाषा का अन्वेषण ही नहीं किया, उसके साथ एक नई दृष्टि बनाई। उसने इस अहसास को भी आर्जित किया कि भाषा मनुष्य की अस्मिता, अनुभव और चेतना से दूर जा पडी है। फलतःनाटकों में भाषा अब सीधी सपाट वस्तु नहीं रही, वह मानवीय व्यवहार का अंग बन गयी है।

आधुनिक हिन्दी नाटक ज्यादा अतीतोन्मुखी है। अतीत को हमारे सामने पेश करते हुए वर्तमान को जवाब देने केलिए तत्पर है। इस संदर्भ में सुरेन्द्र वर्मा कहते हैं - ***"व्यक्तिगत रूप से मेरा मन अतीत की स्वर्णिम छवियों में बहुत रमता है। अतीत के वे चरित्र, उनका परिवेश, साज-सज्जा, रहन-सहन, वस्त्राभूषण, चाल-डाल में मुझे एक अद्भुत आकर्षण लगता है। अतीत के झरोके से अपने वर्तमान को देखना एक सुखद अनुभव है। यूँ सामान्यतः मिथ से चूँकि अधिकांश लोग पहले से परिचित होते हैं, इस लिए चरित्रों और स्थितियों के निर्माण पर अधिक परिश्रम नहीं करना पड़ता- सिर्फ उन्हें एक नयी व्याख्या भर देनी होती है। प्रकारांतर से ये भी अपनी परंपरा को पहचानने और उससे जुड़ने की ही प्रक्रिया है। अपने संमृद्ध मिथक साहित्य का प्रयोग हमे करना ही चाहिए"***[23] जब अतीत कथ्य बन जाता है तो उसके साथ शिल्प अतीत न बनकर आधुनिक गरिमा से तैय्यार किया जा रहा है। इस विषय में आधुनिक नाटककार सफल भी हुए हैं। यह भी एक नयी उपलब्धि के रूप में हिन्दी नाट्य जगत को महत्वपूर्ण योगदान दिये हैं।

एक छोटे विषय को लेकर आज नाटक लिखने लगे हैं। गहरी और चिंताजनक विषय छोटा ही हो लिकिन उसमें सम्प्रेषनीयता अधिक मात्रा में मिलती है तो उस कथ्य को लेकर भाषा,संवाद आदि प्रवृत्तियों पर दृष्टि लगाकर उसे महत्वपूर्ण कृति बना दिया गया है। आधे-अधूरे से लेकर धर्म परिवर्तन तक हर नाटक में कथ्य छोटी ही रहती है लेकिन उसे कहने का ढ़ंग विशिष्ट स्थान प्राप्त कर रही है। इस संदर्भ में गोविंद चातक के शब्द सही लगते हैं- ***"उनमें व्यंग्य, प्रहार, तीखापन, अप्रत्याशितता, अंतर्विरोध, गोपन, नकार, उलझलूलपन, अश्लीलत्व आदि कई प्रवृत्तियाँ समाहित हो गयी हैं। संवाद अब सीधी प्रशनोत्तर शैली से बाहर***

निकलकर मानव व्यवहारों की जटिलताओं को व्यक्त करने लगे हैं। एक और पात्रों की स्थितियाँ और जीवन संदर्भ संवाद रचना में अपनी भूमिका निभाने लगते हैं, दूसरी ओर नाटककारों की अपनी दृष्टि भी कम महत्वपूर्ण नहीं कही जा सकती है।"[24]

आधुनिक नाटकों में आये हुए गीतों का वह काव्यात्मक स्वरूप नहीं मिलता, जो प्रसाद आदि नाटकों में पाया जाता है। धर्मवीर भीरती, लक्ष्मीनारायण लाल, सर्नेश्वरदयाल सक्सेना,मणि मधुकर, हबीब तन्वीर ने अपने नाटकों में ज्यादातर गीतों का प्रयोग किये हैं। इनकी भाषा,टोन, शब्द विधान आंचलिक है। सैंकडों शब्दों से कहनेवाले विषय एक गीत के माध्यम से कह सकते हैं। 'बकरी' नाटक में गीत बहुत मशहूर हुए हैं। हबीब तन्वीर नाटकों में छत्तीसगढ के लोक गीतों का भी बड़ी चर्चा हुई है। इस प्रकार नाटकीय तत्वों में भी गीतों का प्रयोग एक बड़ी उपलब्धि के रूप में उभरकर बाहर आती है।

बौद्धिक वर्ग के साहित्यिक रंगमंच के साथ आम आदमी के समान्तर रंगमंच की बात बार - बार उठ रही है। इसके अनेक प्रयोग वर्तमान समय में हुए हैं। इप्टा ने नुक्कड नाटकों के संदर्भ में मंचीय प्रवृत्तियों और शिल्प उपकरणों से प्रभावी अभिनय के अनेक प्रयोग किये है। सफदर हाशमी के 'जनम' ने भी नुक्कड नाटयान्दोलन को आगे बढाई है। हबीब तन्वीर ने नया 'थियेटर' में लोक नाटकों का मंचन किया है। यह बात स्पष्ट है कि समकालीन रंगमंच मात्र मनोरंजन का साधन नहीं रह गया। वह सोद्धेश्य के रूप में दर्शोकों तक अपनी बात पहुँचाना चाहता है। यह बात सीधे न कह कर यथार्थ संवेदनाओं को मूर्त रूप में उपस्थिति करके दर्शकों के हृदय तक पहुँचायी जाती है। इस प्रकार आधुनिक नाटकों में अनेक युक्तियाँ प्रयोग किये गये है जिससे नाटकों का संदेश बडी तीष्णता से दर्शकों तक पहुँच सके।

वर्तमान जीवन की विसंगतियों को व्यक्त करने के लिए हमारे हिन्दी नाट्य जगत में भी रंगमंच की दृष्टि से एब्सर्ड नाटक की परंपरा विकसित हुई है। ऐसे नाटकों में तमाम रंगमंचीय प्रयोग हुए हैं। नैपथ्य का हठना, दर्शकों में से ही नाटक शुरू किया जाना, घटना, चरित्र न होकर दृश्यों एवं संवादों के माध्यम से विसंगत स्थितियों का बोध कराया जाना, मुखौटों और नकाबों का प्रयोग, एक ही पात्र द्वारा अनेक पात्रों का अभिनय, प्रकाश योजना द्वारा दृश्य परिवर्तन, ध्वनियों के विभिन्न सार्थक प्रयोग, संगीत, आदि समकालीन रंगमंच में ऐसे अनेक प्रयोग किये जा रहे हैं, यह सब हिन्दी नाट्य शिल्प के उपलब्धियों में गिने जाते हैं।

इस प्रकार नाटक संस्कृत में जन्म लेकर अनेक अविभाज्य कालों में से गुजर कर सन् 2000 तक आने पर अपने लिए एक स्वतंत्र भाषा को निर्मित कर उसमें

अनेक प्रयोग किये गये है। अंक योजना, शब्द प्रयोग, प्रतीक, व्यंग्य सभी स्तरों में एक जीवन दर्शन और नई भावभूमि को स्वायत्त कर लिखे जा रहे नाटकों ने अभिव्यक्ति के लिए नये प्रकार के शिल्पगत प्रयोग की हैं। परंपरा से अलग हठना इस काल में सराहना किया जाता है। अनेक पंरपराएँ घनीभूत हो गई है। मिट्टी में अनेक परंपराएँ मिल गई है। प्रयोग, प्रयोग केवल प्रयोग ही समकालीन नाटक की प्रवृत्ति बन गयी है।

इस प्रकार आधुनिक हिन्दी नाटक को कथ्य और शिल्प के स्तर में अनेक उपलब्धियाँ मिली हैं। भारतेन्दु अपने नाटकों द्वारा समाज का सही चित्रण करने का प्रयत्न करते है। बाद में प्रसाद ने अपने वर्ग अभिजात्य की रक्षा के लिए प्रयोग धर्मिता के नाटक लिखते हैं। अपने अभिजात्य वर्ग की दिशानिर्देश देने के लिए और उनके मन में अभिजात्य छाप छोडने के लिए प्रयत्न प्रसाद के नाटकों में मिलता है। लेकिन जिस प्रकार प्रसाद इतिहास संबंधी, पौराणिक कथाओं को लेकर हिन्दी नाटक लिखे हैं उसी तरह

आधुनिक नाटककार भी लिखे हैं लेकिन - ***"साठोत्तरी नाटक में जो कथावस्तु है वह समकालीन जीवन से ली गयी है और जिन नाटकों में ऐतिहासिक, पौराणिक कथावस्तु है, वह समकालीन जीवन से ली गयी है, वह भी समकालीन जीवन का अभिव्यक्ति के माध्यम के रूप में ली गयी है। अर्थात ऐतिहासिक, पौराणिक कथावस्तुवाले नाटकों का उद्धेश्य इतिहास, पुराण के माध्यम से सामाजिक जीवन की अभिव्यक्ति है।"***[25]

6.2 परिवर्तन की संभावनाएँ

परिवर्तन प्रकृति का शाश्वत नियम ही नहीं बल्कि वह सामाजिक संदर्भ में ध्रुव सत्य है। हर क्षण हरेक चीज परिवर्तित होती है। समाज के विरुद्ध जाकर ही अनेक सिद्धात पनपते हैं। समाज के साथ सहजीवन करने से कमजोर हो जाते है। परिवर्तन से ही मानव की मुक्ति होती है। बचपन से यौवन तक यौवन से वृद्धाप्य तक परिवर्तन से ही परिपूर्णता मिलती है। सामाजक मूल्यों, उद्धेश्यों में भी परिवर्तन पाया जाता है। जो व्यक्ति या समाज परिवर्तन को छोड देने से बहुत ही थोडे समय में अंतिम छोर तक पहुँचने की संभावना है।

यह सभी जानते है कि बाह्य जगत का सबकुछ निरंतर बदलता रहता है, राजनीतिक स्तर पर उथल पुथल होती है, आर्थिक स्तर पर नयी योजनाएँ बनती हैं, वैधायिक स्तर पर नये अध्यादेश सामने आते हैं और ये सब मिलकर हमारे जीवन को

अन जाने ही बदल देते हैं। कुछ सूक्ष्म परिवर्तन को हम पहचान नहीं पाते उसके प्रति सजग नहीं हो पाते और महज प्रतिक्रिया स्वरूप धीरे-धीरे बदलते रहते हैं। बाहरी परिस्थितियाँ आदमी को बदलती हैं, लेकिन बदलाव के दशा में पुराने मूल्य छूटते है और नये मूल्य अपनाये जाते हैं। पुरानी दृष्टि से स्थान पर नयी दृष्टि सामने आती है। संबंधों के स्वरूप बदलते है। मान्यताओं में जो परिवर्तन आता है उसके तहत मनुष्य का जीवन निर्भर रहता है।

एक विशेष नजर से देखा जाये तो शायद मोटे रूप में संस्कृति को दो मुख्य धारओं में बांटा जा सकता है। एक शासक वर्ग का संस्कृति होता है और एक शासिक वर्ग का। आदिकाल से ही वेदों को ब्राह्मण ही पढने लायक बना दिया है तब से हमारा साहित्य दो भागों में बंट गया था। इन दो धाराओं में साहित्य प्रचीन काल से आज तक पनप कर चल रहा है। जो प्राचीन रूप है वह अब नहीं रहा क्योंकि परिवर्तन सहज प्रक्रिया है। और बार-बार शासित वर्ग की साहित्य को हडप लेने के लिए अनेक प्रयत्न हुए हैं लेकिन कभी सफलता नहीं मिली। क्योंकि शासित वर्ग का साहित्य निरंतर परिवर्तनगामी है। अपने को समय समय पर बदलते हुए शासित वर्ग आगे बढ रहा है।

मार्क्स के अनुसार - ***"मनुष्यों की चेतना उनके अस्तित्व को निर्धारित नहीं करती, बल्कि उसके परिवर्तन, उनका सामाजिक अस्तित्व ही उनकी चेतना को निर्धारित करता है।"***[26] समाज हरेक स्थिति में अग्रसर होता है। लेखक अपने बदलते हुए प्राकृतिक और सामाजिक वातावरण में कुछ न कुछ अपना योगदान जरूर करता है लेकिन यह काम वह अपनी मर्जी से ही नहीं कर सकता। लेखक के हर प्रतिक्रिया के पीछे सामाजिक वातावरण में परिवर्तन की झलक अनायास मिलती है। रूपांतर या परिवर्तन लेखक को अपने पिंजरे में बन्ध नहीं करवाती है हर परिवर्तन लेखक को ज्यादा प्रतिकूल बनाने लगती है।

परिवर्तन एक निरंतर गतिशील प्रक्रिया से गुजरता है और वह प्रवाहित जल की तरह दिखाई देता है। परिवर्तन प्रगति का चिह्न है। परिवर्तन के बिना प्रगति को हम सोच भी नहीं सकते हैं। परिवर्तन में आधुनिकता छिपी हुई है। हर परिवर्तन एक न एक नयी मोड को ही वैज्ञानिक विकास से जोडते हैं। आधुनिक प्रक्रिया में परिवर्तन अनिवार्य है। उस अनिवार्यता के पीछे मनुष्य का चाल और समाजगत पक्ष, समाज की गतिविधियाँ आदि अनेक कारण हैं।

बीसवी शती परिवर्तन के लिए एक मैदान जैसी भूमिका निभाती है। इस शती में अनेक नये विषयों, वस्तुओं की सृजन किया गया है। वैज्ञानिक क्षेत्र में मानव के

विकास के साथ स्थान पानेवाले हर वस्तु इसी शती में तैय्यार हुआ है। चिरित्र से राजनीति शास्त्र तक भौतिक शास्त्र से लेकर कम्प्यूटर्स का तक हरेक क्षेत्र परिवर्तनगामी बन गयी है। परिवर्तन चाहे प्राकृतिक कारणों से हो या मानव कृत्यों से, वह एक स्वाभिविक तथा अवश्यंभावी प्रक्रिया है। हर पुराने पीढी के स्थान में नये पीढी आना अनिवार्य है। उस अनिवार्य सत्य के पीछे परिवर्तन समी हुई है।

परिवर्तन के पीछे वर्ग संघर्ष छिपा हुआ है। कम्यूनिष्ट मानिफेस्टो में कार्ल मार्क्स लिखते है कि - ***"अब तक के सारे समाज का इतिहास वर्ग संघर्ष का इतिहास रहा है। स्वामी और दास, अभिजात वर्ग और जन मानस, भूस्वामी और भूदास, गिल्डों के मालिक और अनेक नौकर यानी दो शब्दों में कहे तो शोषक और शोषित एक दूसरे के विरोध में आमने सामने खडे रहें हैं औ उनके बीच सतत संघर्ष जो कभी प्रच्छन्न रूप में तो कभी खुले रूप में हुआ, चलता चला आया है और जिसका अंत हर युग में व्यापक समाज के क्रातिकारी पुनर्गठन में या फिर दोनों ही युद्धरत वर्गों के विनाश में हुआ है...... मगर हमारा युग जो पूँजीपती वर्ग का युग है, एक विशेषता रखता है, वह यह है कि इसने वर्ग शत्रुता को सरलीकृत कर दिया है। समूचा समाज धीरे धीरे दो परस्पर शत्रु खेमों में बंटता जा रहा है; वह उन दो वर्गों यानी पूँजीपति वर्ग और सर्वहारा वर्ग के बीच विभाजित हो रहा है जो एक दूसरे के आमने सामने हैं।"***[27]

ऊपर लिखे गये वक्तव्य से हमे पता चलता है कि वर्ग संघर्ष का प्रभाव विश्व व्यापी है। वह मानव जीवन की प्रत्येक पहलू को यानी व्यक्तिगत और सामूहिक स्तर को प्रभावित करता है। इस वर्ग संघर्ष से जो परिवर्तन आता है वही नव समाज की निर्मण करती है। परिवर्तन जोर से होना है तो इन वर्गों के बीच वैरुध्य तेजी से बढना चाहिए। परस्पर शत्रुता, युद्ध के कारण एक वर्ग और एक नये वर्ग के रूप में रूपांतरित होगी। व्यक्ति से भूस्वामी, भूस्वामी से पूँजीपती बनना हमारे सामने प्रत्यक्ष सत्य है। सो, हम निश्चय रूप से यह कह सकते हैं कि वर्ग संघर्ष से ही परिवर्तन अनिवार्य है। सामाजिक बदलाव में साहित्य की भी महत्वपूर्ण भूमिका होती है। कहा जाता है कि किसी भी युग का साहित्य उस समय के समाज की आइना होता है। साधारण रूप से ही समाज की प्रवृत्तियाँ तत्कालीन एवं समकालीन साहित्य के माध्यम से अभिव्यक्त होती है।

साहित्य सतत परिवर्तनीय विषय है। अन्य क्षेत्रों से ज्यादा साहित्य में परिवर्तन तेजी से पाया जाता है। क्योंकि साहित्यकार की निगाह बहुत तेजी और दूरी तक फैली जाती है। इसलिए 1950 से 2000 तक के हिन्दी नाटकों में परिवर्तन की संभावनाओं को देखना है तो इस आधुनिक समाज, जनता के प्रवृत्तियों, परिवेशगत

साहित्यिक मान्यताओं को स्पष्टरूप से देखना पडता है। अन्य विधाओं से ज्यादा नाटक जनता से संबंध रखता है। आधुनिक काल में नाटक अपने क्षमता को और बढाकर अपने में समाज का सारोकार स्पष्ट दिखाई देता है। इसको समझने के लिए आधुनिकता और परिवर्तन के बीच के संबंध को देखना पडता है।

6.2.1 आधुनिकता : हिन्दी नाटक

आज कला की गति इतनी तीव्र है और स्थितियाँ इतनी तेजी से बदल रहीं है कि अगले सौ वर्षों में क्या होगा? मनुष्य की अस्थित्व कैसे होगी, मनुष्य के आस्था के केन्द्र और प्रकृति के साथ उनके संबंधों में किस तरह के परिवर्तन पाया जाता है। मनुष्य के स्वरूप में क्या बदलाव आयेगी उनके साहित्य कला चेतना की सीमाएँ कहाँ तक पहुँचेगी, सक्रिय साम्राज्यवाद कहाँ तक पहुँचेगी? इस का ठीक- ठीत पूर्वानुमान लगाया नहीं जा सकता। आज नयी शती के प्रथम चरण में जो संभाव्यताएँ, जो चुनौतियाँ हमारे सामने हैं, उन्ही के संदर्भ में थोडा बहुत विचार कर सकते है।

आज मनुष्य बडा विषम परिवेश में खडा होकर अपने अपको पहचान रहा है। भूमण्डल सिमट का एक इकाई बन गयी है। देश और काल की सीमाएँ मिट रयी हैं। जीवन के हर क्षेत्र में यंत्रों का प्रयोग बढ गया है। आज स्थिति ऐसी है कि मनुष्य धीरे-धीरे यन्त्र बनता जा रहा है। हम कल्याना कर सकते है कि अगले कुछ वर्षों में प्रत्येक क्रियाशील व्यक्ति को सिरहाने एक कम्प्यूटर होगी और उसके जीवन की गतिविधि उसके द्वारा चलित होगी। आज मनुष्य के लिए कीमती लगा रहा है। मनुष्य का मूल्य उसकी क्रयशक्ति के आधार पर आंका जा रहा है। इन सब के साथ अनिवार्य रूप से आधुनिकता जुडा है।

मनुष्य की स्थिति को मुख्यतः अंतर्मुखी और मुख्यतः वस्तुवादी दोनों ही दृष्टियों से देखा-समझा जा सकता है। दोनों को लेकर द्वन्द्वात्मक भी रहा जा सकता है और समन्वयात्मक भी। भारतवासी आज भी भारतीय तथा विदेशी दोनों प्रकार के चिंतनों में, रचनात्मक संदर्भ में ज्यादा आत्मिक संदर्भ में बेहतर समझ पाते हैं। आज रचनात्मकता का क्षय होना शुरू हुआ है। आज साहित्य इंटरनेट के केबुलों में फँसी हुई है। आधुनिक साहित्य एक माने में नए सार्थक और कल्पनापूर्ण रिस्तों की तलाश में स्थित है। आधुनिकता का महत्वपूर्ण लक्षण 'प्रश्नचिह्न की निरंतरता' आज नहीं रहा है केवल स्वीकार करना आज आधुनिकता बन गयी है।

आधुनिकता की अवधारणा काल मुक्त भी हो सकती है और कालबद्ध भी। सामान्यतः आधुनिकता काल बद्ध ही है। अपने काल वाचक अर्थ में आधुनिकता का

अर्थ होगा वर्तमान का बोध, प्राचीन मान्यताओं से छुटकारा पाकर समकालीन परिवेश से सम्पृक्त होना है। युग का यह कहना ठीक ही है - " ***The mere fact of living in the present is not make a man modern far in that case every one at present alive would be so, He alone is modern who is fully consious of the present.***"[28] इस प्रकार आधुनिकता का संबंध आज से होता है। जो आज है वह कल का रूप है और कल केलिए परपंरा है। इस लिए परंपरा से जनित आधुनिकता परिवर्तन का आनुगामी है। डॉ. नगेन्द्र के शब्दों में - "***आधुनिक दृष्टि परंपरा को प्रवाह के रूप में स्वीकार करती है जो निरन्तर अग्रसर रहता है और जिसमें परिवर्तन अनिवार्य है। जीर्ण पुरातन के त्याग, संशोधन तथा पुनर्मूल्यंकन की पद्धति से नव-नव रूपों के विकास की आकांक्षा, वैचित्य और नवीनता के प्रति आकार्षण आधुनिकता के सहज अंग है। अतः रूढियों के विरुद्ध विद्रोह और नवजीवन के विकास के लिए प्रयोग के प्रति आग्रह यहाँ अनिवार्य है।***"[29]

मार्क्स, फ्राइड, आइनस्टीन अपने अपने संदर्भों में आधुनिकता को परिभाषित किये हैं। तीनों में 'क्वेचनिंग एट्टियूड' बहुत तीक्षण स्थिति में है। अपने सिद्धातों पर संशयात्मकता नहीं है। कालानुगुण परिवर्तन उनके सिद्धांतो का श्रेष्ठ लक्षण है। ये तीन सिद्धांत वैज्ञानिक, सामाजिक, शारीरिक, क्षेत्रों में क्रांति लाने में सक्षम रहे हैं। समूचे पुरातन विषयों को परिवर्तित कर नये आलोक को प्रदान करने में अपने भूमिका ठीक तरह निभाई है। इन सिंद्धातों के कारण बीसवी सदी के जनता के परिवर्तित जीवन केवल भौतिक रूप से नहीं उनके चेतना के विकास के साथ भी जोडाया गया है।

इस आधुनिक समाज के साथ परिवर्तन भी जोडाया है क्योंकि इन दिनों बडी उछल पुथल है। विचारधाराओं का और उनके द्वन्द्व का अंत हो चुका है। साधारण रूप से विचार अकसर बाहर से , जैसे दर्शन और राजनीति विज्ञान और धर्म की ओर से आते है, उसे साहित्य अपनी क्षमता के द्वारा काल्पनिक प्रक्रिया द्वारा रूपान्तरित कर देता है। कुछ विचार साहित्य में ही उपजते-विकसित होते है। ज्यादातर साहित्य के नये विकासों या परिवर्तनों को अन्यत्र राचनीति, विज्ञान, मनोवैज्ञानिक आदि में हुए विकासों और परिवर्तनों का प्रतिफल या प्रतिक्रिया मानते रहे हैं।

हमारे समय में प्रायह हरेक तथाकथित स्वतंत्र विचार ने अपनी तानाशाही स्थापित की है। राजनीति में तानाशाही, विचारों में तानाशाही, सिद्धातों मे तानाशाही आखिर साहित्य में भी तानाशाही अपनी प्रभाव दिखा रही है। हिन्दी साहित्य ही क्यों संसार के सारे साहित्य एक न एक क्षण इस तानाशाही के वैचारिकता में गये होंगें। विस्तार से कहना है तो कालगत विशेषता के अनुसार प्रत्येक साहित्य सीमा में एक

विषय राज करते समय कोई साहित्यकार यह साहस नहीं करता कि परिचय रहित विषय पर लिखे। इसका मतलब साहित्य को कुछ ही प्रवृत्तियाँ अपने कब्जों में लेकर चलाती है। भारतीय आधुनिक नाटक भी इसके अपवाद नहीं।

आज का बौद्धिक वर्ग संक्रमण काल से गुजर रहा है। स्वतंत्रता पूर्व की आशा, आकांक्षा और महत्वकांक्षा की अतीतगत अनुभूति, राजनीति जन्य विद्वेष की कुण्ठा से ग्रस्त मन, आज के परिवेश को समाज का शाश्वत स्वरूप समझकर भटकन, टूटन और उलझन में फँस गया है। हम भूल गये है कि हमारा दायित्व मात्र व्यक्ति या व्यक्तियों स्थिति अथवा परिस्थितियों, समाज अथवा सामाजिक पद्धतियों और प्राकृतिक अथवा कृत्रिम परिवेश का चित्रण मात्र करना नहीं है। बल्कि हमारा दायित्व सत्य की अवधारणा को समृद्ध करने, आबास को स्वीकार करते हुए यथार्थ को आदर्श तक पहुँचाने का भी है। इस शताब्दी में कुत्रिम परिवेश से हमारी समस्याओं का सामाधान देने में सहायता नहीं मिली है।

हमारे समाज में साहित्य जीवन और संस्कृति की शाश्वतता पर बहुत चर्चा होती है। लेकिन संसार के परिणामों को स्पष्ट रूप से देखने से हमें यह लगता है कि कोई चीज शाश्वत नहीं हैं। सबकुछ एक विकासशील प्रक्रिया है, यहाँ कुछ भी शाश्वत नहीं। लेकिन संबंधों में निरन्तर स्वरूप परिवर्तन मिल रहा है। प्रेमभावना छायावादी काव्य में जिस तरह है उस तरह आज नहीं है। मूलभूत वैचारिकता रहती है लेकिन बाहरी सबकुछ बदलता रहता है। उस बदलाव के कडी को पकडना ही आधुनिता है। आधुनिकता को हम न छोड सकते है और न आधुनिकता की आंधी रूक सकती है, किन्तु उसे अपनी परंपरा के साथ जोडकर देखना आवश्यक है।

आधुनिक हिन्दी नाटककारों ने बाहरी स्थितियों की प्रतिक्रिया को कैसे स्वीकार किये है, और आम आदमी की स्थिति को वे किस प्रकार अभिव्यक्त किये है यह बडा ही महत्वपूर्ण प्रश्न है। निश्चय ही जो व्यक्ति व्यवस्था की अपेक्षा जीवन के साथ जुडा होता, वहीं सही रूप में जन-जीवन के असन्तोष और आक्रोश को समझेगा, उसे अभिव्यक्ति देगा। यह काम आधुनिक हिन्दी नाटककारों द्वारा ठीक तरह पूरा किया गया है। अपने परिवेश और आस पास की परिस्थितियों के बीच मूल्य विहीन तत्वों को पहचानकर उसे सही अभिव्यक्ति दी गयी है।

स्त्री को आधुनिक समाज में महत्वपूर्ण स्थान है। फ्रायिड ने लिंग-भेद के आधार पर नारी को हीन दिखाने की कोशिश की थी। उसका मानना था कि जो पौरुष पुरुष को प्राप्त है, वह स्त्री को प्राप्त नहीं है। इस कारण स्त्री के मन में सदैव हीन भावना बनी रहती है। किन्तु स्त्रीवादी-जीवन दर्शन ने फायड के सिद्धांतों का

जोरदार विरोध किया है। आज आधुनिक नाटककारों का मानना है कि पुरुष और स्त्री के बीच लिंग भेद होना स्वाभाविक है, किन्तु इस भेद को पुरुष वर्ग अधिकाधिक रूप से उभारकर अपने को श्रेष्ठ साबित करने की कोशिश करता रहा है, वह उसे मान्य नहीं है। स्त्री के लिए अपनी मन की बात कहने के लिए एक स्पष्ट जमीन आज मिल गई है। आधुनिक हिन्दी नाटकों में स्त्री की अतः चेतना का सही आविष्कार प्रतिबिंबित करने के लिए अनेक यत्न किये गये है, उसमें ज्यादातर सफल भी हुए हैं।

साहित्य को परिवेशगत और कालगत वैकल्पिक शक्तियाँ निरंतर अपने अनुगामी स्वभावों के साथ परिलक्षित करती है। कुछ जमानों में साहित्य को अपने साधन को संपूर्ण करने के लिए साध्य के रूप में बनाये गये है। आधुनिक नाटककार साहित्य को सही मात्रा में अपनी समसामिकता का अत्यंत तीव्र बोध कराती है। अमिलकर काब्रेल साहित्य के बारे में इस प्रकार व्यक्त करते है - ***" Cultural expression, culture is an essential element of the history of a people. Culture is perhaps, the product of this history just as the flower is the product of a plant. Like history, or because it is history, culture has its material base the level of the productive forcess and the mode of production. Culture plunges its root into the physical reality of the environmental human in which it delelops and it reflcts the organic native of the society."***[30]

आधुनिकता की वैचारिक भूमि पर व्यक्ति स्वातंत्र्य का आग्रह इतना प्रबल है कि व्यक्ति की गुह्य चेतना के अबाध वर्चस्व के आगे घर-परिवार, समाज, राष्ट्र आदि सब कुछ तिरस्कृत हो उठते हैं और अततः इस व्यक्ति चेतना का अवसर एक नितांत आत्मकेन्द्रित शोकांतिकी के रूप में होता है। इस आधुनिक जीवन की चरमसीमा के बारे में बताते हुए नीलिमा सिन्हा लिखती है कि - ***"आज पाश्चात्य जगत के ओल्ड-होम भारतीय नगरों में अवतरित हो रहे है। घर के भीतर के बूढे और बच्चे एकाकी-उपेक्षित हैं। पॉप कल्चर में बंधकर युवावर्ग मौज-मस्ती में गुम है, परिवार टूट रहें हैं, व्यक्ति प्रधान हो रहा है, समाज नष्ट हो रहा है, कहें तो कुल स्थिति कही उम्र होटलों में मरे अस्पतल जातकर की बन रही है। यह त्रासदी एकाकीपन इस आधुनिकता की नियति और व्यक्ति स्वातंत्र्य की चरम परिणति है।"***[31]

आधुनिकता की सबसे बडी पूँजी इसका खुलापन और स्वातंत्र्य भाव है। रूढियों की आपेक्षा खुलापन सदैव स्वागत योग्य होता है क्योंकि रूढियाँ सडांध पैदा करती हैं और खुलापन ताजी हवा के झोंके जैसा होता है। स्वातंत्र्य हमारे देश में केवल समूहगत न होकर व्यक्तिगत स्वातंत्र्य की ज्यादा योग देती है। यही प्रवृति

आधुनिक नाटकारों के नाटकों में प्रस्फुटित होती हैं। राष्ट्रीय पहचान, व्यक्ति की अस्मिता, सांस्कृतिक गौरव आदि भावनाएँ स्वातंत्र्य पाने के बाद साहित्य के लक्ष्य बन गये है। ये लक्ष्ण हिन्दी नाटक को भी प्रभावित किए हैं। आधुनिकता का बोध 'अंधायुग' से लेकर आज तक अप्रतिहत रूप में हिन्दी नाटकों में चलती आ रही है।

आधुनिक हिन्दी नाटकों में व्यक्तिवादी और अंतर्मुखी दृष्टि समकालीन व्यक्ति की आस्मिता की खोज, उसेक विघटित होने वाले व्यक्तित्व, स्त्री, पुरुष संबंधों के बदलते स्वरूप, यौन कुण्ठा, अंतसंघर्ष और व्यक्ति के निरंतर अकेले होते जाने की निर्वासित मनः स्थिति का चित्रण किया है। लेकिन आधुनिक बोध की आशावादी बहिर्मुखी दृष्टिकोण आधुनिक नाटकों में दिखाई नही देता है। सामाजिक समस्याओं का चित्रण तो अच्छी तरह मिलता है लेकिन उसके हल करने का प्रयत्न कहीं नहीं मिलता है। इस तरह के प्रयत्न नुक्कड नाटकों में कुछ हद तक मिलता है लेकिन मौलिक नाटकों में भी इस तरह के प्रयत्न करनी हैं।

मध्यवर्गीय जीवन को आधुनिक नाटककारों ने अच्छी तरह कथ्यदत बनाया है लेकिन खासकर मधय्वर्गीय स्त्री पुरुष संबंध के प्रति ज्यादा अस्पष्ट चेस्टाएँ देखने को मिलती है। नैतिक विषय संबंधी स्त्री चेतना कुछ हदतक व्यवस्था विरोधी लगता है। अन्य विधाओं में स्त्री की जो उच्च स्थिति दिखाई गई वह स्थिति आधुनिक हिन्दी नाटकीय विधा में नहीं दिखाई पडता है। सुरेखा, सावित्री, मानीषा, शीलवती सब के सब क्रांतिकार स्त्रीयों के रूप में दिखाई पडते हैं। भारतीयता का अबाव उनेक चरित्रों में दिखाई देता है। आधुनिक हिन्दी नाटकों में स्त्री की विच्छिन्नकारी रूप ज्यादा दिखाई गया किन्तु सही स्त्री की अस्मिता का पहचान नहीं मिलता है।

आधुनिकता विराट चिंतनधारा का प्रतिनिधित्व करने के लिए जो परंपंरा, इतिहास, अध्यात्म, स्थिरता, रूढि तथा बाह्य यथार्थ के समस्त परिनिश्चित आकारों का विरोध करता है। परंपरागत भारतीय समाज में बदलाव आवश्यक है किन्तु दूसरी ओर आधुनिकता के नाम पर जो कुछ हो रहा है वह सब स्वीकार्य नहीं है। समाज के नये नजर से निर्माण करना है तो आधुनिक दृष्टि की सख्त जरूरत है लेकिन जो दृष्टि को हम अपनाते है वह दृष्टि परंपरा सहित होना चाहिए. ताकि परंपंरा रहित नहीं। आधुनिक नाटकों में परिवर्तन के विविध आयाम स्पष्ट रूप में मिलते ही नहीं बल्कि आधुनिकता के विषम मानसिकता को भी स्पष्ट रूप से दिखाई गई है। इस मानसिकता आषाढ के एक दिन नाटक में कालिदास, लहरों के राज हंस में नंद हानुष कबीर, धर्म परिवर्तन में अंबेदकर सब के सब में स्पष्ट रूप में परिलक्षित होता है।

मनुष्य नित्य कर्मनिष्ट प्रतिनिधि है। उसने अपनी बौद्धिक क्षमताओं और शक्तियों का विकास विशेष रूप से समाज के एक सदस्य होने के वजह से ही किया है। इसी कारण से वह एक ओर समाज तथा भौतिक जगत से क्रिया प्रतिक्रिया करता है तो दूसरी ओर उस पर स्वयं क्रिया प्रतिक्रिया होती रहती है। हर वस्तु, हर भावना हर सिद्धांत तक संपूर्ण प्रकृति अस्तित्व में आने और अस्तित्व के समाप्त होने की गतिशील प्रक्रिया में रहती है, निरंतर प्रवाह गति और परिवर्तन की स्थिति में रहती है। स्तालिन इस संदर्भ में लिखते है कि - ***"प्रकृति की कोई भी घटना आसपास के घटना क्रम से अलग थलग करके समझी जा सकती, प्रकृति के किसी भी क्षेत्र की कोई भी घटना हमारे नई तब तक अर्थहीन है जब तक उसे आसपास की स्थितियों से जोडकर बडी देखा परखा जाता। इसके विपरीत कोई भी घटना तभी ठीक से समझी जा सकती है जब उसे आस पास की स्थितियों के साथ उसके अभिन्न संबंधों को ध्यान में रखकर समझा और व्याख्यायित किया जाता है क्योंकि आस पास की स्थितियाँ ही उसे अनुकूलित करती है।"***[32]

ठीक ऊपर कहा गया विषय के अनुसार आधुनिक हिन्दी नाटकों में बीसवीं प्रकृति के अनुसार चेतना और विचार दोंनों के बीच समन्वय दिखाकर वास्तविकता का सही चित्रण मिलता है। उपदेश की विधा में अब अंतर आना चाहिए। अनुभूति की तीव्रता बढनी है। हमारे विचारों और भावों की सीमा और भी विशिष्ट और परिलक्षित होनी चाहिए। वास्तविकता का चित्रण ठीक तरह किया जा रहा है लेकिन उसमें सौन्दर्य बोधिता का ज्यादा उपयोगीकरण हो रहा है। 1950 से लेकर 2000 तक के नाटक अपनी सहज सहानुभूति और सौन्दर्य प्रेम के कारण जीवन के उन सूक्ष्म स्थानों तक जा पहुँचा है लेकिन मनुष्य के अंतरंग जो मनुष्यता है वहाँ तक नहीं पहुँच पाई है।

विश्वसाहित्य में काव्य के बाद नाटक की परंपरा ही सबसे दीर्घ और समृद्ध है। हमारे हिन्दी भाषा में ही नहीं संसार की किसी भी भाषा में आज श्रेष्ठ नाटक अधिक संख्या में नहीं लिखे जा रहे हैं। इब्सन, ब्रेख्त, राकेश के काल में नाटक जिस प्रकार महत्वपूर्ण अनुभूति की अभिव्यक्ति का सर्वेत्कृष्ट माध्यम था, वैसा आज नहीं रहा। आज भी उपेक्षणीय स्थिति में नाटक नहीं लेकिन उसका प्रभावशाली रूप को बडा धक्का लगा है। कविता, उपन्यास, कहानी आदि पाठक तक सीधे पहुचाते हैं, लेकिन नाटक कठिन विधा है एक नाटक को लेखन के बाद रंगमंच पर पहुँछने से ही उसका मूलमकसद समाप्त होता है। तो नाटक को पाठक तक पहुँचाने के लिए एक नाटककार की ही नहीं अनेक अभिनेता, दर्शक, संगीत, निर्देशक, रंग सज्जा की जरूरत भी है। इस संदर्भ में नेमिचन्द्र जैन का वक्तव्य सही लगता है कि -

"स्वाधीनता के बाद बीस-पच्चीस वर्ष पहले चार छह अपवादों को छोडकर महत्वपूर्ण सार्थक अनुभूति को अभिव्यक्ति करनेवाली रचनाकारओं के रूप में नाटक बहुत कम लिखे गये। उस दौर के अधिक नाटक तो परीक्षोपयोगी थे, या किसी-न-किसी रूप में किसी शौकीय नाटक मंडल की तात्कालीन आवश्यकताओं की पूर्ति के लिए लिखे गये और उसीके उपयुक्त थे, फिर भले बुरे संवादात्मक उपन्यास अथवा सर्वथा अप्रामाणिक, और मिथ्या भावुकता से आक्रांत थी। साधारणतः हिन्दी के नाटक साहित्य का कालत्मक साहित्यिक स्तर सभी प्रकार से अनुभूति के गुण, उसकी सच्चाई और उसकी अभिव्यक्ति, शिल्प. आदि की दृष्टियों से उसके काव्य या कथा साहित्य से कहीं घटिया रहा है।"[33]

साहित्य अभिव्यक्ति के रूप में नाटक अन्यतम विधा है लेकिन व्यावसायिकता की कमी के कारण नाटक का विभिन्न अनुभूतियाँ सार्थक रूप में आस्वादित नहीं है। लोगों की प्राधान्यताओं में बहुत परिवर्तन पाये जाते है। पचास में लोगों की जो प्राधान्य है वह आज नहीं है। आधुनिकता का प्रारूप और भी बदल गया है। नाटकीयता आज मनुष्य के हर माइने में पहुँच गई हैं इस लिए कोई रंगशाला में जाकर नाटक देखने को आज उत्सुक नहीं हैं। आज की परिस्थिति ऐसी है न तो नाटक की माँग ही पर्याप्त मात्र में होती ही ना उसे लिखने की कोई प्रेरणा भी नहीं। केवल काल के अनुसार जाना आज का सिद्धांत बन गया है।

6.2.2 परिवेश - हिन्दी नाटक

प्रसिद्ध नाटककार इब्सन ने लिका है कि रचनाकार का कर्त्तव्य है कि वह जिस समय और समाज में रहता है, उसके सामाजिक एवं शाश्वत प्रश्नों समझे और दूसरों को समझाए। साधारणत रूप से साहित्यकार संवेदनशील और अधिक प्रबद्ध व्यक्ति होता है। नाटककार का प्रधान कर्त्तव्य अपने समय की समस्याओं को चित्रण करना और उनपर चिंतन मनन करने के लिए लोगों को विवश करना और उसका समाधान देना है। नाटक का प्रदर्शन ऐसा हो जिसमें दर्शक अपने बारे में कुछ जान सके। कहने की आवश्यकता नहीं कि नाटक दर्शकों के लिए आत्मज्ञान का, आत्म-साक्षात्कार का, अपने को पहचानने का एक शक्तिशाली माध्यम है। शार्थक नाटक एक ऐसा दर्पण है जिसमें दर्शक अपनी छवी देख पाते है। इस शक्तिशाली माध्यम को उजागर करने के लिए किसी काल और समाज के नाटक को देखा जाए, उसमें तत्कालीन समाज की स्थितियों, सामाजिक स्तर, रहन-सहन, मानवीय आचरण आदि सबका चित्रम होता है। इस प्रकार आधुनिक नाटक में परिवेश एक महत्त्वपूर्ण भूमिका निभाती है।

आज परिवेश इतने गहरे बन गई है कि उसका अतिक्रमण पूरी शक्ति के साथ कर सकने में सक्षम नहीं हो पा रहा है। परिवेश के निर्माण में भीतर रचना के एक नए लोक का निर्माण सरल कार्य नहीं है। परिवेश में समय-समाज की पुनर्सृष्टि होती है। परिवेश की परिकल्पना में रचनाकार के सर्जनात्मक व्यक्तित्व, उसकी रचनात्मक क्षमता और ऊर्जा की परीक्षा होती है। आधुनिक हिन्दी नाटकों में मध्यवर्गीय मानसिकता के दवाब के स्पष्ट रूप दिखाई देते है। इस संदर्भ में इमानंदन किशोर का वक्तव्य सही लगता है कि - ***"परिवेश साहित्यकार की अंतदृष्टि मार्जित करता है। वह अपने युग की प्रवृत्तियों का नियमन तो करता ही है, अतीत भविष्य की शताब्दियों की विचारधाराओं की गतिविधियों का अवलोकन भी करता है। परिवेश शिशु की कुशलता केलिए साहित्यकार पिता के समान होता है। वह उसका लालन-पालन कर उसमें सदगुणों का विकास करते हुए भविष्य के लिए संतुलित करता है।"*** [34]

मनुष्य अने परिवेश के साथ जीता है। उसी परिवेश में उसका निर्माण और विकास होता है। नाटककार सामान्य मनुष्य से अलग नहीं है। साधारण मनुष्य के ऊपर भी वे सब प्रभाव एक साथ पडते हैं। अंतर यही है कि सामान्य आदमी अपनी चेतना और चिंतन को अभिव्यक्त नहीं कर सकता है, वहाँ उसे लेखक वाणी देता है। अपनी और सामान्य की अनुभूतियाँ निस्संदेह परिवेश से प्रभावित होते रहते हैं। साधारण रूप से साहित्यकार आगे जाना चाहिता है लेकिन उसका समाज उसे पीछे खींचना चाहता है। लेकिन सृजनात्मक कलाकार अपने को समाज के हाथों में पराजित नहीं होने देते है। जो साहित्यकार कालकण्ड की अनंत सामाओं के बावजूद आज भी जीवित हैं वह परिवेश के साथ खडा हुआ माना जाता है।

प्रसिद्ध भाषा वैज्ञानिक नोम चौमस्की का कहना है कि सृजनकर्ता और रचनाकार को परिणाम की चिंता नहीं करनी चाहिए। यदि वह परिणामों को लेकर बैठ जाये तो निर्माण के सारे रास्ते अवरूद्ध हो जायेंगें। मानवता का विकास निर्माण में है। आदमी शायद बिना कुछ नया किये रह ही नहीं सकता। आज साहित्य का यह बढता हुआ सामाजिक पक्ष कई परेशानीयाँ और कठिनाइयाँ भी छोड दिया है। जीवन की वास्तविकता की उपलब्धि सहित्यकार को एक दिन में नहीं होता वह निरंतर अपनी समझ को बढाता घटाता और बदलता रहता है। - ***"इसलिए आज का लेखक अपने ही लिखे हुए साहित्य को कल नकारने लगता है। उससे पूछा जाय कि उसकी सर्वश्रेष्ठ रचना क्या है तो वह उत्तर देगा, वह जो अभी लिखी जानी है। लिखी जाने की तलाश, संभव है, उसकी दृष्टि में कभी पूरी नहीं हो, परन्तु यह अशान्ति और भटकाव है जो रचनाकार को नये आयाम देती है। उसका निजी***

परिलक्षित होता है। एक आदमी की अनुभूति बाद में सामूहिक चेतना की अनुभूति होती है।"[35]

अपने चारों ओर से जो घटित हो रहा है उसका यथावत् चित्रण करना परिवेश नहीं कहलाता है। क्योंकि आसपास जो घटित हो रहा है, उसे चित्रित करना साहित्यकार का नहीं, अखबार नवीस का काम होता है। हम इस विषय पर ध्यान देना है कि साहित्य का क्षेत्र क्रियाओं का नहीं प्रतिक्रियाओं का होता है। हमें यह भी देखना है कि आस पास होनेवाली घटनाओं निरंतर परिवर्तित होती रहनेवाली परिस्थितियों के कारण हमारे जीवन की संवेदना और दृष्टिकोण में तत्संबंधी प्रतिक्रिया क्या होती है? परिवेश में होनेवाले अनेक सूक्ष्म परिवर्तन को हम पहचान नहीं पाते, उसके प्रति सजग नहीं हो पाते और उसके प्रतिक्रिया स्वरूप धीरे-धीरे बदलते रहते है।

यदि हम यह मानकर चलें कि कुत्रिम परिवेश का पर्याय सांस्कृतिक परिवेश का पर्याय सांस्कृतिक परिवेश है तो हमारी समस्याओं का समाधान होने में सहायता मिलती है। संस्कृति मनुष्य में आचार-विचार ,आस्था-प्रेम और निष्ठा सदभावना की ज्योति जलाती है। संस्कृति के चलते ही मनुष्य अपनी पाशविक प्रवृत्ति से मुक्त हो पाता है। संस्कृति ही प्राकृतिक परिवेश पर हावी समाज में व्यवस्था, मर्यादा और नियन्त्रण का सूत्रपात करती है। हमारे जीवन जड नहीं है। वह तो क्रियाशील है, इस लिए परिवर्तनशील भी है। संस्कृति भी परिवर्तनशील है। उस परिवर्तनशीलता को पकडना परिवेश का प्रधान लक्ष्य है।

बीसवीं सदी में अपने देश में सास्कृतिक संकट आस्थाहीनता, मूल्यों की अस्वीकृति आदि पर जोर-शोर से चर्चा चल पडी है। इसके लिए सारा दोष परिवेश को दिया जा रहा है और कहा जा रहा है कि निष्क्रियता, दायित्वहीनता और अनास्था के इस युग में अस्वीकृति की अभिव्यक्ति के अतिरिक्त रचनाकार और कुछ नहीं कर सकता। और इस स्थिति के लिए जिम्मेदारी परिवेश को ठकराया जाता है जो निश्चित रूप से कृत्रिम परिवेश ही हो सकता है।

साहित्य वह सामाजिक दस्तावेज भी है, जो भविष्य के उत्तराधिकारियों के काम आता है। इस दस्तावेज की लिखावट को परिवेश ही रूपरंग देता है। जो कुछ परिवेश में रहता है उसका प्रतिबिंब साहित्य में यथा रूप रहता है। संपूर्ण रूसी साहित्य को देखने से उस साहित्य में समुंदर का वर्णन नहीं मिलता है। इसका कारण स्पष्ट है कि रूसी में देखने के लिए कोई समुंदर ही नहीं मिलता है। उस

प्रकार दक्षिण भारत के रचनाओं में कहीं भी युद्धों का वर्णन नहीं मिलता है क्योंकि वहाँ के लोग कभी भी युद्धों का सामना नहीं किए हैं।

परिवेश रचनाकार को बनाता भी है और तोडता भी है। परिवेश के अनुकूल न होने के कारण अनेक साहित्यकार समाज के लिए महत्वपूर्ण साहित्य का निर्णाण तो कर सके लेकिन अपने आप में टूट गयें जो साहित्यकार अपने लेखन के प्रति निष्ठावान होता है वह अपने परिवेश के प्रति भी ईमानदार होता है। परिवेश रचना को गति देता है और प्रेरणा भी देता है। परिवेश और रचनाकार का संबंध अनिवार्य है। चाहे वह सन्तुलन व तालमेल द्वारा आये, चाहे विद्रोह और प्रतिक्रिया द्वारा आये। परिवेश ही काव्य को बहु आयामिक विस्तार नवीनता और गति देता है।

जो गति वास्तविक रूप में परिवेश द्वारा रचनाकार को मिलता है उसे सचमुच रचनाकार सही रूप में व्यक्त करता है? आधुनिक हिन्दी नाटकों में परिवेश का सफल रूपेणा चित्रण किया गया है लेकिन संपूर्णता नहीं मिलता है। लोकजीवन का सारा व्यवहार परंपरा के रूप में आधुनिक नाटककार को मिला है। उसका सही उपयोगीकरण नहीं हुआ है। ज्यादातर नाटकार ने परिवेशगत अपने अनुभूतियों को चित्रण किया है ताकि वास्तविक परिवेश का। राजकीय परिवेश स्पष्ट रूप से दिखाया गया है, बाकी परिवेश स्पष्ट नही हुआ है।

पचास के बाद सभ्यता नये नये सोपानों चढती चली गयी है। व्यक्तिगत और सामाजिक सुरूचियों का परिमार्जन हुआ है। सामन्ती प्रथा की समाप्ति के बाद पूँजीवादी व्यवस्था की जडों पर कुठाराघात प्रारंभ हो चुका है। दास और देवदासी प्रथा कथाकहानियों की सामग्री बन गयी है। पद-दलित शोषित और उपेक्षित वर्ग अधिकार चेतना से सुगबुगा उठा है। विज्ञान के बदले चरण के नीचे, संसार ही नहीं ब्रह्मान्ड की दूरियाँ सिमटती जा रही है। मनुष्य को मनुष्योचित दर्जा देने के लिए राज्य को नये-नये नियमों-उपनियमों की संयोजन करने के लिए इस समय मजबूर किया जा रहा है। यह सब आधुनिक परिवेश का नग्न चित्र है लेकिन इसका रूप आधुनिक नटाकों में नहीं मिलता है। बहुत खेद की बात यह है कि आधुनिक नाटककार आज भी समस्या को 'तटस्थ तमाशाई' की तरह देख रहे है ताकि कोई पक्ष नहीं ले रहे हैं।

हमारे इस अर्थ शताब्दी ध्वंस की शताब्दी है हम जिस स्वराज की बात कर रहे हैं वह जीवन से अटूट है और उसकी स्वायत्तता किसी अन्य की स्वायत्तता का अतिक्रमण या दमन कर पायी गयी स्वायत्तता नहीं है। शाश्वत सत्य की धारणा कुछ आधुनिक नाटकों में मिलता है। आधुनिक हिन्दी नाटकों में अपने सच को बार-बार

जाँचना और उसे बार-बार संदेह के घेरे में खडा करना साफ दिखाई देता है। बार-बार आधुनिक नाटकों में उदासीनता और उससे पैदा हो रहे शून्य को भरने के लिए नये विचार मिलता है। इस तरह के नाटककारों की मानसिकता को दृष्टि में रखकर विजय तेंदूलकर इश प्रकार लिखते हैं कि -

"मुझे लगता है कि नाटक का तंत्र लेखक को खुद निश्चित करना पडता है। नाट्यतंत्र के नियमों से मार्ग दर्शन होगा, लेकिन ऐसा नहीं कि उनके पालन से ही अच्छा नाटक लिखा जा सकता है। विश्व के बहुत से अच्छे नाटक तो इन नियमों के अपवाद ही साबित होंगे। नाटक का माध्यम खून में उतर आना चाहिए, संज्ञा पर उसकी छाप उठनी चाहिए - तभी कोई लेखक अच्छा नाटक लिख सकता है।........ विविध माध्यमों से खुद को आविष्कृत कर देखने के बाद मैं इस नतीजे पर पहुँचता हूँ कि नाटक सबसे कठिन माध्यम है। बहुत बार लेखक जिसे अपना अच्छी तरह से लिखा गया नाटक समझाता है, वह सच में अच्छा साबित हुआ तो नाटक नहीं होता, और वह नाटक साबित हुआ, तो अच्छा नहीं होता।"[36]

अनेक प्रभावों से परिवेशगत क्षमताओं से आगे जानेवाले नाटक समकालीन हिन्दी रंगमंच से पिछड गया। इस पर विक्षुब्द होकर प्रमुख नाटककार असगर वाजाहत कहा था कि - ***"हमारी पीढी अंतिम है। उसके बाद लोग केवल एक दूसरे से सुनकर या किताबों में पढकर ही जानेगें कि हिन्दी में कभी नाटककार भी हुआ करते थे।"***[37] इसके लिए अनेक कारण है। मुख्य कारण यह है कि जो दर्शकों के मन में संलग्न है उसके नाटककार प्रतिबिंबित करने में असफल हैं।

साहित्य के मूल्य जीवन मूल्यों से बनते है और प्रतिबद्धता एक गहरी चीज है जो इस बात से तय होती है कि समाज में द्वन्द्व है उसमें लेखक किस तरफ खडा है। आज की परिस्थितियों में लेखक और परिवेश का प्रश्न और भी महत्वपूर्ण हो जाता है। रचना की सामाजिकता, उसकी प्रयोजनशीलता से सीधे ही संबद्ध हो जाता है। वर्तमान परिवेश में नाटक सीधे ही कारगर निर्णायक हस्तक्षेप करने में सक्षम नहीं प्रतीत होती क्योंकि जनजागरण का अभाव है। हर राजनीतिक दल और हर सिद्धांत आज जनजागरण की समस्या से ही भयभीत है। आधुनिक हिन्दी नाटककार आज भी द्वन्द्व में है। एक 'वियन' को लेकर उसको अपने रचनाओं में विकल्प रूप में प्रस्तुती नहीं मिलता है।

विकासशील देशों में अब विश्व पर हावी किया जा रहा है और अब सर्वाधिकारी पूँजीवाद का बोलबाला है। नव स्वतंत्रता प्राप्त देश अब विवश होकर पूँजीवादी वित्तपूँजी के प्रतिष्ठानों के आधीन हो रहे है। विश्वपूँजी प्रतिष्ठान विकासशील

देशों के महाजन बन गये हैं और अपनी शर्तों पर ऋण देते हैं। आर्थिक श्रेत्र में अब पब्लिक सेक्टार को समाप्त किया जा रहा है, पिछडे देशों के बाजार प्रतियोगिता में श्रेष्ठ और उन्नत तकनीक या टैकनालजी से सुसज्जित उत्तरी अमेरिका तथा पश्चिमी योरोप के देश अपने कर्जदार मुल्कों को अपनी पूँजीवादी नीतियों रीतियों पर चला रहा हैं और अपनी भोगवादी संग्रहशील विषय संस्कृति का प्रचार जारी है। हम इंच इंच पर जाँचने से भी ऊपर कहा गया परिवेश हमें हिन्दी नाटकों में नहीं मिलता है। अपने परिवेश अनेक अपरिष्कृत समस्याओं से भरी हुई है। लेकिन कोई भी नाटककार उन समस्याओं पर दृष्टि नहीं लगाये हैं। आधुनिक नाटककार जो प्रतिबद्धता मानसिक स्तर पर दिखाये हैं वह प्रतिबद्धता बाहरी जीवनानुभवों पर नहीं दिखाई देता है।

संभावना तो यह भी है कि विश्व पूँजवाद अपनी प्रतिद्वन्द्वता का शिकार हो जाए, वह अपने अंतर्विरोधों, संकटों द्वारा अपनी कब्र स्वयं खोदता है। अतएवं वह जनता के लिए हित की दृष्टि से समाधान नहीं है जैसाकि प्रचारित किया जा रहा है किन्तु साम्यवाद और समाजवाद की सफलता के लिए यह जरूरी है कि वैश्विक स्तर पर जनमुक्ति या क्रान्ति की चेतना का प्रसार हो और तद्वारा कला , साहित्य और दर्शन सबकुछ उपभोक्ता समाज का माध्यम बन गया। जो उपभोक्ता समाज का स्वरूप है उसको बदलने में आधुनिक नाटककार की कोई क्षमता नहीं है। वैश्वीकरण का प्रभाव अन्य विधाओं पर जितना ज्यादा है उतना नाटकों पर नहीं है। आज बहुराष्ट्रीय निगम भी हमेशा देशों पर आर्थिक आधिपत्य स्थापित कर रहे हैं और हमारे निगम को शोषित कर रहें हैं। ऐसे में दलितों, अल्प संख्याकों, जन जातियों सभी को अपने हितों के लिए आपस में न लडकर समूची विपन्न जनता के हितों के लिए लडना चाहिए। लेकिन इसका प्रस्तुतीकरण आधुनिक नाटकों में होना चाहिए। जब साहित्य में इस प्रवृत्ति की भावना मिलता है तब लोगों के मन में यह भावना और भी दृढ होगी।

परिवेश के साथ फैटसी मिलाकर सत्य की धारणा को निकालने की कोशिश की गयी है। आधुनिक हिन्दी नाटकों में नैतिक गिरावट एक लक्षण के रूप में दिखाया गया है। सुरेन्द्र वर्मा के नाटकों में यह विषय स्पष्ट हुआ है। यह रोग का लक्षण के रूप में दिखाना आधुनिकता के क्रम नहीं गिनाया जाता है। इस संदर्भ में गजानन माधव मुक्तिबोध के विचार सही लगते है कि - ***"इस मनोवैज्ञानिक केन्द्र से विकसित यह फैन्टसी समाज की जिन विशेषताओं को प्रकट करती है, वे विशेषताएँ महत्वपूर्ण होने के कारण पैन्टसी और भी महत्वपूर्ण हो उठी है। उसका भावनात्मक आघात अचूक हो गया है। उसका रसात्मक प्रभाव केवल भाव या रस तक ही सीमित न रहकर विचारोत्तेजक बन गया है। दूसरे शब्दों में भावना की राइफिल से विचारों के***

कारतूस कौंधकर निकल पडे हैं। इस फैन्टसी की यह सफलता द्रष्टव्य, विचारणीय और मूल्यवान है।"[38]

संसार की प्रायः सभी सभ्यताएँ प्रायः ऐसा दौर में पहूँच रही है कि जहाँ हमारे आसापास चीजों का अम्बार लग रहा है पर शब्द कम हो रहे हैं। मन की भावना को कहने के लिए सही शब्द नहीं मिल रहे हैं। आज सादगी से और थोडी सी तीजों के साथ रहना लगभग असम्भव हो गया है। यह बात आश्चर्य लगता है कि हमारे पास आज शब्द कम हो गये हैं। साधारण रूप से नाटककार अपने रचना के लिए विषय वस्तु और भाषा ही नहीं ; रूप भी अपने परिवेश से भी प्राप्त करता है। हम देखते हैं कि नाटककार नाटक में जिस वस्तु का चित्रण करता है, वह वस्तु हमारे लिए एक हदतक पूर्वपरिचित होती है। इसी तरह वह हम में जिस तरह का भाव जगाता है वह भाव भी हमारे लिए एक हद तक पूर्वानुभूत होता है। जो वास्तविक अनुभूति है उसको ठीक तरह से देने के बजाय आधुनिक नाटककार ने अपने परिवेश के प्रभाव में ही काल्पनिक चित्रों और इच्छित विश्व का निर्माण किया।

आज के लेखक की भाषा क्रमशः बोलचाल की भाषा के निकट आती गयी है। गद्य की व्यवहारिक भूमि पर खासकर नाटकों में यह विषय अनुभव हुआ है। बोलचाल की भाषा में जो प्रत्यक्षता दिखलाई देती है, उसके समावेश के कारण नाटक से इसकी दूरी बहुत घट गई है। आधुनिक नाटककार जीवन की सच्चाइयों को उनके सही रूप में प्रस्तुत करना चाहते है। वह परिवेश की असंगतियों को असंगतियों के रूप में ही अवगत नहीं कर चुका है, बल्कि वह इनके कारणों को भी निर्भान्त अवगति की सीमा तक पहुँचकर देख चुका है। पचास के बाद के नाटकों में जिस कुलापन के साथ अभिजाय भाषा को नाकारकर बोलचाल की भाषा से कहीं अधिक समीपता दिखलाई देती है। इस संदर्भ में मोहन राकेश की भाषा पर दृष्टि लगाना समीचीन प्रतीत होता है। राकेश की भाषा की विशिष्टता को स्पष्ट करते हुए गोविन्द चातक ने लिखा है - ***"राकेश को ऐसी रंगमंचीय भाषा की तलाश थी जो समसामयिक प्रेक्षक से संबंध स्थापित कर सके। ऐसी सिद्ध बोलचाल की भाषा के सर्जनात्मक स्वरूप को ही मिल सकती है।"***[39]

आधुनिक नाटककार की भाषा बहुत कुछ इस बात पर नर्भर है कि वह परिवेश के बिना किन पक्षों पर अपना ध्यान केन्द्रित करता है और उन्हें उजागर करना चाहता है। यह सत्य है कि परिवेश के विशेष-विशेष पक्षों पर ध्यान केन्द्रित करने का सब से बडा प्रेरक स्वयं परिवेश का दबाव है। यही दबाव जान अनजान में उनके प्रति अभिमुखता उत्पन्न करता और युग विशेष के रचनाकारों को एक साथ जोडता है। 'अधायुग', 'आषाढ का एक दिन', 'लहरों के राज हंस' में आधुनिक विभीषिका प्रकट

करने का प्रयास तो मिलता है लेकिन परिवेशगत मानसिकता की सक्रिया कुछ कम दिखाई देती है। भाषा परक प्रतीक, बिंब, संवाद सब के सब कारण परिवेश की विशिष्टता को व्यक्त करने के लिए लेखक को रचनात्मक संघर्ष और तनाव झेलना होता है। परिवेश से लेखन को जोडने का प्रयत्न और स्पष्ट होना है। रचनाकार स्तर पर भाषा को सम्पेषण की गरिमा से और प्रयोगात्मक बनाने की संभावना है।

जिस प्रकार लेखक का परिवेश रचना को प्रभावित करता है, उसी प्रकार रचना का संसार भी उसके परिवेश को प्रभावित करता है। तभी रचना द्वारा परिवेश को बदलने का लेखक का प्रयत्न सार्थक हो पाता है। जो विचारक रचना और लेखक के परिवेश के संबंध को अस्वीकार करते रहे हैं उन्होंने संभवतः यह कहते है कि रचना लेखक के परिवेश को बदलने में कभी कारागर नहीं होती। आधुनिक नाटक नये ढंग से लिखे गये हैं लेकिन 'बकरी' नाटक के सिवा कोई अन्य नाटक नहीं जो बदलाव की चेतना से ओत-प्रोत हो। आधुनिक हिन्दी नाटकों में आज भी क्रान्तिकारिता का अभाव है। क्रान्तिकारी दृष्टि से जब नाटक लिखी जाएगी, तब वह पाठक की भावनाओं को इस तरह संयोजित करेगी कि वे भावनाएँ खास दिशा में निर्दिष्ट हो।

कॉडवेल के अनुसार कला व्यक्ति की भावनाओं को इस तरह बदलती है कि वह इस संसार के प्रति अधिक सूक्ष्मता और गहराई के साथ प्रतिक्रिया कर सके। लेकिन यह भावना आधुनिक हिन्दी नाटकों में दिखाई नहीं देती। जो सामाजिक संदर्भ परिवेश को आधुनिक नाटककार व्यक्त किए हैं उसको परिवर्तित करने का और लोगों की समूहगत प्रतिक्रिया का प्रारूप कहीं नहीं मिलता है। आधुनिक लेखक 'पाजिटिव एटिट्यूड' को सही रूप में इस्तेमाल करना चाहिए। आज का परिवेश संकट ग्रस्त है। उसको केवल साहित्यकार ही बदल सकते हैं इस कार्य में नाटककार को अग्रस्थान पर रहने की संभावना है। क्योंकि नाटककार ही अपने परिवेश के प्रति विद्रोह और प्रतिक्रिया का भाव जगाता है। आधुनिक नाटकाकर सकारात्मक दृष्टिकोण को अनिवार्य लक्षण बनाने जिससे सकारात्मक साहित्य जरूर निर्मित हो सके।

संप्रेषण को सही रूप में अभिव्यक्ति देने के लिए अपने इच्छित परिवेश की नहीं जनता के मन के परिवेश को उपस्थित करना पडता है। इस नजरियें से आधुनिक नाटककार को सोचना चाहिए। जठिल परिवेश की नहीं सरल परिवेश को भी इमानदारी से व्यक्त करना चाहिए। मनुष्य की चेतना को पकडने के लिए कोई आधार तो नहीं है लेकिन उस चेतना को उद्धीप्त करने के लिए दार्शनिक चिंतन धारा को देकर सही मार्ग दिखाना आधुनिक नाटककार के प्रथम कर्तव्य है।

आजके इस संक्लिष्ट समाज में नाटककार को किस ओर जाना चाहिए? किस संभावना को आगामी पीढ़ी को देना चाहिए? क्या कोई मूल्य आगामी पीढ़ी को देने के लिए बचेगा? मनुष्य की सोच किस सीमा को छूना चाहती है? क्या नाटककार मूल समाज की ओर अपनी भावनाओं को ऊपर उठा सकता है? आदि प्रश्नों को जवाब देना बहुत कठिन कार्य है। यह स्थिति खास स्थिति है। ऐसी स्थिति में लेखकों, कवियों और नाटककारों का यह दाइत्व होता है कि वे मूल्यों को प्राप्त करने के लिए जन-जन में कर्म चेतना का संचार करें। नाटककारों का यह कर्तव्य हो जाता है कि इस क्लिष्ट समाज को परिवर्तित करने की ओर लोगों की ध्यान आकर्षित करें। हमारा यह दायित्व नहीं है कि परिवेश का चित्रण करके खामोश हो जायें। हम इस विषय पर सचेत रहना चाहिए समाज कैसे होना चाहिए, यह देखना और दिखाना भी हमारा ही काम है और यह काम अनास्था, निराशा, कुण्ठा, निष्क्रियता से संपन्न नहीं किया जा सकता। इसके लिए नाटककार प्रतिबद्ध रहना चाहिए समाज के प्रति, देश के प्रति और परिवेश के वास्तविक चित्रण के प्रति जो काल की परिधि में परिवर्तित समाज की कांक्षा से मार्गदर्शक ज्योति बन सके।

6.2.3 आधुनिक हिन्दी नाटक : सर्जनात्मक लेखन की प्रासंगिकता

अंत: कला में यदि कोई चीज शाश्वत है तो यह आकांक्षा प्रासंगिक नहीं लगती है। साधारण रूप से कलाकृति में एक संपूर्णता, एक अर्थ, निर्वैयक्तिक तटस्थता, एक समयहीनता प्राप्त कर लेती है। कोई भी कलाकृति अपने सत्य में संपूर्ण नहीं है, इसलिए हर युग का मनुष्य उसके भीतर अपने सत्य की प्रसंगिकता खोज निकलता है। अलग-अलग युगों की प्रतिकूल नैतिकताओं और विश्वासों के बावजूद और उनके बीच अपनी प्रासंगिता कायम रख पाती है। एक शब्द में कहे तो हमें कम से कम कला के क्षेत्र में स्वयं प्रासंगिकता के बारे में नये सिरे से सोचना होगा।

प्रसंगिक शब्द से ही समय की गंध आती है। समय माने जो आज है, आज जो हम है, हम जो आज है। प्रासंगिकता के मूल में यह प्रश्न रहता है कि क्या कोई कलाकृति या कलाकार अपने में इतनी शक्ति, इतनी सामर्थय, इतनी सर्वागीण संपन्नता रखती है कि अपने समय की विशिष्ट परिस्थितियों से उठकर 'छलांग लगाकर' हमरे समय तक पहुँचता है ? या समय की अवधि से बाहर प्रासंगिकता अपने आप में सक्षम होती है। इन प्रश्नों का समाधान देना बहुत कठिन कार्य है।

वाल्मीकी की काव्य, व्यास की महाभारत, एलोरा की मूर्तियाँ और नयागरा देखने से हम एक क्षण के लिए भूल जाते हैं, किन समाजिक परिस्थितियों किस ऐतिहासिक क्षण में उनका सृजन हुआ था; देश और कला की सीमाओं का उल्लंघन

करते हुए हम अपने को एक ऐसी दुनिया में पाते हैं जो पूर्ण रूप से स्वायत्त हैं। वे हमें उद्वेलित करती हैं। इन विशिष्ट कृतियाँ विशिष्ट सामाजिक स्थिति में जन्म लेने पर भी, मनुष्य द्वारा सृजित होने के बावजूद वह मानवीय स्थिति की बंदी या ऐतिहासिक सीमाओं के गुलाम बनकर नहीं रह जाती।

जिस युग में हम रहते हैं, वहाँ हमेशा यह कोशिश रहती है कि हर साहित्यकार की प्रासंगिकता पर जोर से चर्चा की जाती है। तोल्स्तोय, शेक्स्पियर, ब्रेख्त सब के सब को अपनी रचनाओं द्वारा इस समाज की चेतना को और भी उद्धीप्त करने में अपनी सहायता करनी पड़ी। रचनाकारों का यह कर्तव्य बन जाता है कि हमें एक बार फिर अपने समय के द्वन्द्वों, शंकाओं और पीढ़ाओं का नया अर्थ खोज सकें। परंपरा मर्यादा के हर मापदंड पर साहित्यकार को अपनी राय बताना पड़ता है । राजेन्द्र यादव इस साहित्य की महत्वपूर्णता पर दृष्टि लगाते हुए कहते हैं कि - ***"साहित्य कभी कोई दिशा नहीं देता, कभी कोई क्रांति और परिवर्तन नहीं करता - वह तो औरों द्वारा किये गये विचारों और कर्मों से खुद दिशा लेता है, अपने को पैना और प्रभावशाली बनाता है- और आगे जाकर अपने - आपको जीवित रखता है।"*** [40]

आज साहित्य का भविष्य सुखद नहीं है, चुनौतीपूर्ण जरूर है। आचार्य रामचन्द्र शुक्ल ने इस स्थिति को बहुत पहले ही महसूस किया था- ***"ज्यों-ज्यों सभ्यता बढ़ती जाती है त्यों-त्यों कवियों के लिए काम बढ़ता जाएगा। मनुष्य के हृदय की कृतियों से सीधा संबंध रखनेवाले रूपों और व्यापारों को प्रत्यक्ष करने के लिए उसे बहुत से पर्दों को हटाना पड़ेगा। इससे यह स्पष्ट है कि ज्यों - ज्यों हमारी वृत्तियों पर सभ्यता के नये-नये आवरण चढते जाएंगे, त्यों - त्यों एक ओर तो कविता की आवश्यकता बढती जाएगी, दूसरी और कवि - कर्म कठिन होता जाएगा।"*** [41] उक्त कथन को नाटक पर भी लागू कर सकते हैं।

आज की भाषा में कहे तो सत्ता संरक्षण से बाजार संरक्षण की पूरी प्रक्रिया में बदले हुए साहित्य और साहित्यकार की स्थिति में बहुत फर्क आया है। इस नये ढग की सामाजिकता ने अब एक खतरनाक दौर में प्रवेश किया है जहाँ तथाकथित विश्व संस्कृति, विश्व दृष्टि और खुले बाजार की अपसंस्कृति की वास्तविकता का भी निर्धारण कर रही है। इस संस्कृति में व्यक्तिवाद और कलावादि लेखक भी बच नहीं सकता।

साहित्य जब गहरे सत्ता पर चुनौती देना बंद कर देता है, तब स्वतंत्रता पर वास्तविक संकट होता है। सही रचना एक दायित्वपूर्ण प्रतिपक्ष है, जिसे प्रतिवाद करना आता है और उसे मालूम है कि समाज की चेतना की सुरक्षा, उसे सही दिशा

देने का कार्य लेखक को अपने ढग से करना है। इसलिए शायद हर कलाकार या लेखक अपने समय से असंतुष्ट रहता है, वह समाज की स्थिति गतियों को संकेत भी करता है। आज साहित्य चुनौती देने योग्य नहीं है। खासकर नाटक अपने समाज से चुनौती देना ही सही अपनी अस्मिता को भी ढूढ़ने लगी है।

आज हमारे देश में बहुत बडे- बडे पूँजीपति है। वे ही राष्ट्र की नीतियों का निर्धारण करते हैं। भ्रटाचार में हम पूर्ण लिप्त है। अधिकाधिक धनार्जन की चाह आज हमारी सबसे बडी दुर्बलता है। धनार्जन हेतु हम नीति और न्याय को तिलांजिली दे कर अपने वांचनीव मार्ग पर निकल पडे है। दया, दान, सहिष्णुता, भाईचारा , परोपरकार की भावना मृत हो गई है। धनार्जन के क्षेत्र में परिवर्तन की इस आंधी में हमारी जड नींव से हिल गई है। यह प्रभाव व्यक्तियों पर ही नहीं नाटककारों पर भी पडा है। इससे बचकर आगे निकलना बहुत कठिन है। इस अनिश्चित स्थिति से नये नये प्रयोग करने में और सत्य की सही अवधारणा देने में आधुनिक नाटककारों को बहुत ही भयावाह स्थिति है।

हमारे इस पराभाव के पीछे 'मीडिया' तथा अन्य प्रचार माध्यमों का योगदान भी कम महत्वपर्ण नहीं है। मिस यूनिवर्स और फिल्मी तरीकाओं का अंग प्रदर्शन, अश्लील गानों का कु प्रभाव आज की नव युवकों-नव युवतियों को दिग्भ्रमित करने में स्पष्ट उजागर है। फैशन की दुनिया में आज जहाँ हम पहुँच चुकें हैं वहाँ से अतीत की ओर हमारा लौटना संभव प्रतीत नहीं हो रहा है। भारतीय संस्कृति पर पाश्चात्य संस्कृति हावी हो चुकी है। इस पाश्चात्य धुन से बचाकर भारतीयता की स्थापना करना प्रत्येक नाटककार को बहुत खतरनाक स्थिति को सामना करना पडता है। इस स्थिति में अपनी प्रासंगिकता को कायम करते हुए नाटककार को आगे बढना चाहिए। जल में तूंबी के समान अपने को बचाते हुए समाज को साकार करने योग्य सपने को देना उनका प्रथान कर्त्तव्य है। समाज को ज्ञान की गुरुता, दृष्टि की प्रखरता और आचरता देना चाहिए।

कालिदास ने कहा था कि सब पुराने अच्छे नहीं होते, सब नए खराब ही नहीं होते। भले लोग दोनों की जाँच कर लेते हैं, जो होते है उसे ग्हाण करते हैं और मूढ लोग दूसरों के इशारे पर भटकते रहते हैं। आज का परिवर्तन भले ही उत्थन का सूचक न हो पतन की दिशा में तीव्रगति से तो अग्रसर है ही। लोगों की मानसिकता में पतन की दृष्टि कायम हुआ है। उग्रक्षेत्रवाद के कारण भाषा, सीमा तथा जल के बंटवारे के प्रश्न हल नहीं हो सके हैं। लेकिन इस समस्या पर कोई भी नाटककार प्रतिबद्ध होकर नहीं लिखता। आज नाटककार यथार्थ को पकडकर चलने के बजाय यथार्थ से दूर भाग रहा है।

वास्तव में नाटककार समाज में प्रवर्तक की भूमिका आदा करें। उनकी चिंता बेहतर दुनिया की निर्माण की होनी चाहिए। लेखक को अपने पक्ष का समर्थन हेतु जनमत जुटाना होता है। इसके लिए नाटककार को अपनी नाटक को सामान्य तक पहुँचाना है। नाटककार को अपने 'विजन' को सामान्य की भाषा में ही प्रस्तुत करना चाहिए नहीं तो वह सफल नहीं होता है। आधुनिक नाटककार को जन सामान्य की समस्याओं से तादात्म्य होना चाहिए, समाज को बदलने संघर्ष मे पूरी निष्ठा और प्रतिबद्धता के साथ शामिल होना चाहिए। आधुनिक नाटककार को यह प्रतिबद्धता सहित रहना है कि जहाँ न कोई शोषक होगें, न कोई शोषित, जहाँ सब के कद और हक बराबर होगें, मनुष्य मनुष्य का दर्जा बराबर होगा, न कोई मालिक होगें न कोई गुलाम।

आज नाटककार को सचेत रहना है अपने से और अपने समाज से। इस बहु स्तरीय, बहु आयामी जीवन को सही नजरिये से देखना पडता है। जनमानस की स्थिति को नजर रखते हुए इस प्रकार रमेश रावत लिखते है कि - " ***जो जाति, जो राष्ट्र जितना ही स्वाधीन है, यानी जहाँ की जनता शोषण और अज्ञान से जितने अंशों तक मुक्ति प्राप्त कर चुकी होती है, उतने ही अंशों तक वह शक्ति और सौन्द्रय तथा मानवदर्श के समीप पहुँचती हुई होती है। आज की दुनिया में जिस हद तक शोषण बढा हुआ है, जिस हद तक भूख और प्यास बढी हुई है, उसी हद तक मुक्ति संघर्ष भी बढा हुआ है, और उसी हद तक बुद्धि तथा ह्रदय की भूख-प्यास भी बढी हुई है।"*** [42]

मनुष्य को एक अधिक युक्ति संगत और बेहतर जिंदीगी मिलना है तो इसके लिए हर स्वीकृत या शाश्वत मूल्य विचार, व्यवस्था में उसकी स्थिति को नये सिर से जाँचना पडता है। जो भी तथ्य बनाया गया है उन सब पर प्रश्न चिन्ह लगाना होता है। इस काम को जनता के पहले साहित्यकार को करना पडता है। जो कुछ समाज के अंतर्गत आता है उसे साहित्यकार सबसे पहले पकडता है और उसे समाज के निकटतम तक ले जाने की क्षमता भी रखता है। गैर महत्वपूर्ण विषयों से लोगों की दृष्टि को निकालकर जिंदगी की नियामक शक्तियों को उजागर कर देना है। बडी ईमानदारी के साथ नाटककार को अपने नाटकों में आदमी के हारने-जीतने, टूटने बदलने, थकने-जीने को रेखांकित करना है।

इस बीसवी सदी का समय में मनुष्य बडा नहीं लघु बनता जा रहा है। आज जो विशालता की बढत्व के बारे में बता रहे हैं उसे विशाल भूगोल का दर्शन संभव ही नहीं है। जहाँ देखो वहाँ छोटी इकाइयों का महत्व बढ गया है। हम आज भी हमारे जीवन अस्तित्व, नियति, नश्वरता, प्रेम, जिजिविषा आदि को समझने-बूझने के लिए

प्रायः साहित्य के पास ही जाते हैं। सीधे जीवन के आलावा जीवन की असंख्य छवियाँ और प्रतीतियाँ हमें साहित्य और कलाओं में ही मिलती हैं। मनुष्य को सही नियति देने का कार्य नाटककारों को ही करना पडता है। राजनीति साहित्य को भ्रष्ट करती है इस लिए उससे दूर रहना ही चाहिए। स्वतंत्रता की नींव को औ भी दृढ और सुदृढ बनाना चाहिए।

नुक्कड नाटकों में जिस तरह सामान्य की आवाज को बढत्व दिया गया उसी तरह आधुनिक नाटक में भी दर्शक को मद्धे नजर रखकर उन्हें शक्तिशाली बढाने में यहायक देनी है। मनुष्य की उम्मीद को स्थापत्य बनाना चाहिए। साधारणतः नुक्कड नाटक शोषण मुक्त समाज के लिए प्रतिबद्ध है। इस प्रकार की प्रतिबद्धता अन्य नाट्य रूपों में देखने को नहीं मिलती। मिलती भी है तो बहुत कम। देश के कोने कोने में खेल जानेवाल नुक्कड नाटक भले ही भाषा के स्तर पर अलग हो लेकिन प्रतिपाध्य विषय को लेकर कोई मूलभुत फर्क देखने को नहीं मिलता है। इस नुक्कड नाटक की लोकप्रियता के कारण इसमें दर्शक की भागीदारी है। इस लोक प्रियता के कारण से ही आधुनिक नाटकों में इस नुक्कड नाटक की प्रक्रिया को बढत्व देने से आधुनिक नाटक की लोक प्रियता क्रमशः बढने की संभाना रहती है।

यह एक सरल और निर्विवाद सत्य है कि हर कलाकृति किसी न किसी रूप में हमें मनोरंजन प्रदान करती है हममें से अधिकांश पाठक मनोरंजन के लिए ही किसी नाटक या उपन्यास को पढना शुरू करते हैं ताकि जीवन का बडा गंभीर सत्य पाने के लिए ही नहीं। कोई भी कृति या नाटक मनोरंजन तो देता है और साथ ही साथ निर्माणपरक विषयों को भी देना चाहिए। उस नाटक को देखने से आत्मीय संबंध और भी दृढ बनाना चाहिए। हमें कलात्मक मनोरंजन की परिभाषा को कुछ व्यापक बनाना होगा। हर युग का पाठक अपने साहित्य से अपना सत्य खोजता रहेगा। जो सत्य पाठक खोज रहा है उसको उन्हें देना ही आधुनिक नाटककारों का काम हैं।

इस नयी सदी में पाठकों की रुचियों, आकांक्षाओं और संस्कारों में बडा ही बदलाव दिखाई देता है। बाहर समाज में अनेक समस्याएँ है लेकिन समस्याओं के प्रति उन नाटक में कोई स्पंधन नहीं रही। पचास के आगे एक समस्या के प्रति जो प्रतिक्तिया हम देख चुके है आज हम उस तरह की प्रतिक्रिया को पा नहीं सकते हैं। आज 'सत्यहीन सत्य' का जमाना है। इस जमाने में लोगों की रुचियों में बदलाव के कारण, समस्याओं के प्रति उनका परिष्कार भी अलग दीखता है। इस संदर्भ में निर्मल वर्मा हम से पूछते है कि - ***"असली प्रश्न यह नहीं है कि रचनात्मक साहित्य को कितने लोग पढते हैं, अथवा समाज में उसकी भूमिका कितनी महत्वपूर्ण है, बल्कि यह कि एक रचना क्या अपनी भाषा में उस संवाद में दखल दे सकती है, जो एक***

समाज अपनी भाषा में आज तक अपने सदस्यों के बीच करता आया है? अगर यह संवाद किसी मिथ्या अथवा भ्रामक मान्यताओं द्वारा अनुशासित होता है - और उनके आधार पर मनुष्य को अपने में छदम् छवि गढने में विवश करता है - तो क्या एक कलाकृति अपने होने मात्र से उस छवि का असली सत्य और यथार्थ उघाड पाने में समर्थ होती है, जिसके परिणाम स्वरूप संवाद की समूची प्रकृति और दिशा अचानक एक नया मोड ले लोती है? जहाँ कही समाज इस 'मोड' के लिए तैय्यार नहीं, अथवा उसे संपूर्णतया ठुकरा देता है- तो भी इससे कलाकृति का सत्य अप्रासंगिक नहीं हो पाता।"[43]

प्रासंगिक दृष्टि से देखने से हमें हमारे नाटक को बचाना है। इस उत्तर आधुनिकता के प्रवाह से हमें अपने को और अपनी संस्कृति को बचाना चाहिए। पिछले वर्षों में अनेक धर्म, अनेक संस्कृतियाँ नष्ट हुई हैं। आज के सकट के समय में हम सब को साहस के साथ कदम उठाना पडेगा। इस संदर्भ में राजेन्द्र अवस्थी लिखते है - ***"भारत जैसे देश के लेखक को एक बात समझना जरूरी है - यहाँ जितनी प्रतिबन्ध, जितना प्रतिरोध स्ता से नहीं है, उससे कहीं ज्यादा समाज से है। समाज यानी हमारे पडोसी, हमारे दोस्त, हमारे हित चिंतक, हमारे जाने अन जाने दुश्मन ये सब हमारे सुख के साथ दुखी है तो हमारे दुख में सुखी है। हमारे प्रत्येक क्रिया कलाप पर दृष्टि रखनेवाले ये व्यक्ति - जो हमारे हैं, हममें से है, मैं कहूँ हम ही हैं -सबसे खतरनाक हैं।"***[44]

आस पास होनेवाले घटनाओं, निरंतर परिवर्तित होती रहनेवासी परिस्थितियों को आधुनिक नाटककार परखना चाहिए। परिवेश को बदलते हुए इस परिवेश को आँकना ही साहित्यकार का दायित्व है। इस संदर्भ में ग्रामस्की का कथन समीचीन लगता है कि - ***"The need to engage with theoretical questions is greater today than even before. Dark times are upon us. The enemies of the people strut about triumphantly. The war against them will be won in the economic and political sphere, of course, but it cannot be won unless the forces of progress win the struggle over the minds of men"***[45]

स्वातंत्र्योत्तर हिन्दी नाटकों में प्रयोग की स्थिति विशेष रूप से देखी जा सकती है। किसी भी रचना में जब तक नवीनता नहीं तब तक उसे प्रयोग नहीं कहा जा सकता। अनेक प्रयोग तो हिन्दी नाटकों में हुए हैं लेकिन आधुनिक नाटककार को एक प्रधान कर्त्तव्य बचा हुआ है, वह यह है कि 'लोगों की सामाजिक सोच' को एक दिशा देना चाहिए। अन्ततः उस दिशा में अग्रसर होने की सक्रियता तो सामाजिक

दायित्व है। उस दायित्व को आगामी वर्षों में पूरा करना है।

6.2.4 हिन्दी नाटककार का स्वप्न और जिम्मेदारी

बीसवीं शती क्रान्ति और प्रतिक्राति की शती रही है। इसी शती में साम्यवाद का जन्म हुआ है और रूसी की विच्छिनता के रूप में उनके भविष्य को लेकर प्रश्न चिन्ह खडा है। और एक ओर पूँजीवाद दुगुणी शक्ति प्राप्त करके दुनिया की शांति को चुनौती दे रही है। विकासशील देशों को अब विश्व पर हावी वित्तपूँजी के चौखटे के अंतर्गत संग्रहित किया जा रहा है और अब सर्वाधिकारी पूँजीवाद का बोलबाला है। नव स्वतंत्रता प्राप्त देश अब विविश होकर पूँजीवादी वित्तपूँजी के प्रतिष्ठानों के अधीन हो रहे हैं। आज उग्रवाद के साथ अग्रवाद भी बढ गया है। अग्रवाद के इशारे पर ही हम आज जी रहे हैं।

हमारे देश में वर्तमान स्थिति एक भारतीय संस्कृति नवीनीकरण, अर्थात नए विचार और संस्कृति के विकास के लिए प्रेरक है। जो प्रेरणा हमें प्राप्त है उसकी जडें वास्तव में भारत की अपनी प्राचीन परंपराओं में निहित है। कोई भी व्यक्ति स्थिति या सिद्धांत जब उच्च्य स्थान तक पहुँचती है तब उसमें कुछ हद तक क्षय होने की संभावना रहती है। हर सिद्धांत, विषय, समाज के लिए अंत की परिकल्पना रहती ही है। कोई भी इजम हो, उसके लिए भी अंत होती है, अंत नहीं तो कम से कम कहीं न कहीं परिवर्तनगामी बन जाती है।

आज की अनेक अवधारणाएँ बदल गई हैं। कर्त्तव्य ही नहीं जिम्मेदारियाँ भी बदल गई है। अगर कोई बदलना नहीं चाहता है तो उसके लिए प्रेमचंद की एक वक्तव्य नीचे सही लगता है - ***"हमें सुन्दरता की कसौटी बदलनी होगी। अभी तक यह कसौटी अमीरी और विलासिता के ढंग की थी। हमारा कलाकार अमीरों का पल्ला पकडे रहना चाहता था, उन्ही की कद्रदानी पर उसकी अस्तित्व अवलंबित था और उन्हीं के सुख-दुख, आशा-निराशा, प्रतिभोगिता औ प्रतिद्वन्द्विता की व्याख्या कला का उद्धेश्य था।"***[46] अपनी दृष्टि इस नयी शती में और भी बदली है।

स्वप्न आज की मानसिकता बन गई है। हरेक को स्वप्न के बारे में सोचने के लिए तैय्यार किया जा रहा है। स्वप्न अनेक प्रकार के हैं। साधारणतः स्वप्न शारीरिक और मानसिक स्थिति से जनित एक सामान्य क्रिया है। लेकिन उस शब्द को आज भ्रष्ट किया गया हैं। मनोवैज्ञानिक हमें अपने अनुभव को पहचानने के लिए उत्सुक कराते है, राजनेता झूठे सत्यों की अंदाज देने के लिए प्रेरित करते हैं। दार्शनिक हमारे विचारों को विस्तृत करने के लिए स्वप्न गढने को चेतना भरे सोच देते है।

हमारे राष्ट्रपति भी स्वप्न बात अपने हर भाषण में जिक्र करते हैं। असल में यह स्वप्न क्या है?

मार्क्सवादी एक कदम आगे बढाकर 'दूसरी दुनिया की स्वप्न' पर जोर देते हैं। और एक नई दुनिया के लिए योजनाएँ बनाते हैं। असल में एक और दुनिया का हम निर्माण कर सकते है? क्या यह परिकल्पना सही है? क्या मानव और एक और दुनिया की परिकल्पना कर सकता है। अपने निर्मित समाज को ठीक तरह अवलोकित न करनेवाले मनुष्य और एक दुनिया की सृष्टि कर सकता है। कुछ समय तक यह दार्शनिकता अनेक समाजों को और व्यक्तियों को विचार विनिमय करने में अपनी उपलब्धि प्राप्त की होगी। लेकिन आज के नव्य समाज में कोई भी व्यक्ति किसी अव्यवहारिक विचार के साथ रहने के लिए उत्सुक नहीं है। आज की मनुष्य की अवधारणा विजय पाना है। केवल विजय ही आज की मनुष्य की नीति है। झूठे आसवासनाओं, झूठे स्त्य के पीछे आज मनुष्य जाना नहीं चाहता है।

स्वप्न की अवधारणा ही आज मार्कसवाद की सांस है। आनेवाले कल पर झूठे आशावासन दिलाकर सिद्धांत को मृतपाय बनाया जा रहा है। प्रश्न पूछना धिक्कात माना जा रहा है। और एक दुनिया संभव है, यही नारा लेकर गतिमान है। अपनी जीवन दिशा के निर्धारण में मानव की भूमिका को अस्वीकार करता है। समस्या के लिए जो समाधान मार्क्सवादी देते है, उसी को ही उत्तम मानते है और हमें उसे स्वीकारने के लिए जोर देते हैं।

ऐसा क्यों है कि भारतीय बुद्धिजीवी भारतीय परिवेश के लिए उपयुक्त उत्कृष्ट मार्क्सवादी सिद्धांतों और विचारों का निर्माण करने में असफल रहें हैं? ऐसे क्यों है भारतीय मार्क्सवाद मौलिक होने की अपेक्षा व्युत्पादित वैज्ञानिक की अपेक्षा पण्डिताऊ, ग्रहणशील की अपेक्षा स्वाग्रही और सकारात्मक की अपेक्षा निषेधात्मक अधिक रहा है? इन प्रश्नों को उठाना मार्क्सावाद को नकारना नहीं है? क्यों हमारे देश के मार्क्सवादी कट्टर बन गये हैं। भारतीय मार्क्सवादी एकांगी दृष्टिकोण के शिकार हो गये है? आदि अनेक प्रश्नों को समाधान ढूँढने की आवश्यकता है। क्योंकि जो अवधारणा की नींव ही सही नहीं है तो उस पर बनाया जानेवाला भवन सुदृढ कैसे होगा।

आनेवाले समाज मार्क्सवाद का ही है लेकिन आरोपित मार्स्सवाद (Tranplanted Marxism) का आन्तरिक भारतीय रूपांतरण सफल होने में कुछ संदेह लगाया जा रहा है। और इसके साथ ***"सौवियट रूस के पतन और चीनी साम्यवाद पूँजीवादीकरण से अब साम्यवाद और मार्क्सवाद के आगे प्रश्न चिन्ह लग गया है।"***[47]

समकालीन नाटककार भी अपने नाटकों में इन स्वप्नों को लेकर चल रहें हैं। अधायुग नाटक द्वारा भारती एक कुंठाग्रस्त समाज की स्वप्न देखते हैं। बकरी नाटक में आने वाले समाज के स्वप्न दिखाने में सर्वेस्वर दयाल सक्सेना सफल होते है। सफदर हाशमी के सारे नुक्कड नाटक परिवर्तित समाज की स्वप्न देखते हैं। तडप मुक्ति की नाटक में माता प्रसाद दलित मुक्ति का स्वप्न देखते है।

नयी पीढी को स्वप्न या कल्पना देने नाटककार की कर्त्तव्य है। लेकिन किस समाज को निर्मित करने के स्वप्न दिखा रहे हैं यह बहुत बडा प्रभावपूर्ण विषय है। अनेक नयी तकनीकी सुविधाओं के आने के कारण नाटक को और भी सर्जनात्मक रूप में बना सकते हैं। कथ्य ही नहीं मंच सामग्री में भी बढोत्तरी आने के कारण विभिन्न प्रकार की अभिनय पैदा करने की संभानवा है। दर्शकों को अपनी ओर खींचने की शक्ति को हिन्दी नाटक बढाना है। इसके लिए दर्शक को संतुष्ट करने के प्रयास जरूर करना है।

निष्कर्ष

आज मनोरंजन के अनेक सर्वोत्तम साधन उपलब्ध है। समय के साथ-साथ मानव की रुचि में जैसे परिवर्तन होता गया, वैसे ही मनोरंजन के साधन बदलते गये। भूमण्डल सिमटकर एक इकाई बनने के बाद मनुष्य अपने मनोरंजन के लिए बाकी साधनों पर आधारित हो रहा है। टी. वी. ने सहित्य को तत्कालिक दृश्य और भूमण्डलीय बना दिया है। टी. वी. और सिनेमा संपूर्ण रूप से साहित्य का स्थान को आक्रमण करके 'एलक्ट्रानिक मीडिया' साहित्य की गति को बदल दिया है।

विश्व व्यवस्था की अवधारणा बडी आकर्षक लगती है। 'ग्लोबल विलेज' का नारा हमारे अनेक लेखकों और बुद्धिजीवियों को बडा आकर्षक लग रहा है। इसमें भारतीय संस्कृति की झलक नहीं मिलती है। अपने लोक रूपों की क्षय हो रही है। हर चीज खरीदी जा सकती है। यहाँ तक कि धर्म और व्यक्तित्व भी। तलाश 'इंटरनेट' और 'सेल फोनों' के सहायता से हो रहा है। सब कुछ मनुष्य के पास ही आसानी से पहुँच रहे हैं। दुर्भाग्य से इस मीडिया ने रंगमंच और कलाओं को महत्वहीन मानकर अपना सारा ध्यान सिर्फ टी.वी., और फिल्मों पर केन्द्रित कर दिया है।

इस एक ध्रुव विश्व में संघर्ष का स्वर उठाना नहीं अपने को बचाने का समय आ गया है। 'कमर्शियलाइज' साहित्य की प्रवाह में स्वच्छतम साहित्य की कमी पड गयी है। 'उत्तर आधुनिकता' से बचना मुश्किल है। इससे बचने के लिए साहित्य

कर्मियों का बडा योगदान अपेक्षित है। अपनी प्रयोगधर्मी चेतनाओं से एक नयी पृष्ठभूमि को तैय्यार करना जरूरी है।

दरअसल नाटक एक गतिशील प्रक्रिया है। अपने प्रारंभिक दौर से लेकर आज तक किसी न किसी रूप में सतत प्रवाहमान नाट्य भी इसका अपवाद नहीं है। उसका अस्तित्व मानव के अस्तित्व से जुडा रहने के कारण इस संधिकाल में नाटक और जनता के बीच दूरी आने पर भी अपने वैशिष्ठ्य से लोगों को बांधे रखने की अदभुत क्षमता होती है। लेकिन नाटककारों अपनी ही संवेदना और नाटकीय क्षमता को बचाने के लिए तैय्यार रहना है।

अब मनुष्य के हर तरफ समस्या घेरे हुए हैं। जहाँ देखो, वहाँ जब देखो, तब एक नई समस्या का उदय हो रहा है। इस समय में अधिक वास्तविकता के साथ नाटक लिखकर मानवीय गुणों को विपरीत दिशा में बदलने की प्रयत्न होना चाहिए। हिन्दी नाटककार को तथा भारत की अन्य भाषाओं के नाटककारों को भी अपने समय के साथ रूबरू होना ही पडेगा। वर्तमान में हबीब तन्वीर, बादल सरकार, गिरीश कर्नाड आदि नाटककारों ने दिशा प्रवर्तन किया है। यह जनवादी मूल्यों की दिशा है।

विसंगत शैली का भी फैशन के रूप में प्रयोग कर सकते हैं और राजनीतिक भ्रष्टाचार आदि पर बहुत कुछ लिखने का माहोल है। प्रकाश, वेशभूषा और मंच सज्जा पर ध्यान देकर सादगी पर विश्वास करके भारतीय रंगमंच को फिर से पैदा करने की जरूरत है। ग्रमीण प्रदेशों में भारतीय नाट्य परंपरा अपने आदिम वैभव और सार्थकता के साथ जिंदा है। इन्ही ग्रामीण मण्डलियों को सही माइने में बढ़ावा देने की जरूरत है।

अपने जमीन को पहचानना है और फिर से अपने जमीन की और लौटना है। इसलिए नुक्कड नाटक जैसे विधाओं को, लोक नाट्य परंपरा को प्रयोग में लाकर, अपने रंगमंच को वर्तमान कठिनाइयों से निकालना है। अब हिन्दी नाटक के साथ जो स्तब्धता छायी हुई है यह तूफान के आने से पहले सन्नाटा जैसा है निश्चय ही तूफान आनेवाला है। इससे हिन्दी नाटक को फिर से अपनी शुरुआत करने की शक्ति मिलने की संभावना है।

संदर्भ सूची

1.मुक्ति बोध रचनावली -पृ-76

2.सीढ़ियाँ शुरू हो गयी हैं -निर्मल वर्मा -पृ-100-101

3.the theory of drama :allardyce nicoll -pg-31

4.रचना और राजनीति - .... पृ-12

5.आधुनिक हिन्दी नाटक और रंगमंच -नेमिचन्द्रजैन-पृ-121

6.Eccyclopedia of america, volume -26-pg-461

7.Theatre Impact : (Editor E.Eikazi) no-2, July-Dec67,pg-43

8.मोहन राकेश : रंगशिल्प-प्रदर्शन - जयदेव तनेजा - पृ-31

9.नेमिचन्द्र जैन (लेख) नटरंग -21 अक्तूबर -दिसंबर-1972(मो. रा.के नाटक) पृ-35

10. लहरों के राजहंस -डॉ. सुरेश अवस्थी (नौवा संस्करण-1973)की भूमिका -पृ-12

11.1975 में राष्ट्रीय नाट्य विद्यालय, नई दिल्ली में प्रदर्शित प्रस्तुत के -
- परिचय पत्र से - प्रसन्न मोहंति

12.नयी रंग चेतना और हिन्दी नाटककार -जयदेव तनेजा -पृ-149

13.सुरेन्द्र वर्मा के नाटकों में रंगमंचीयता - देवेन्द्रकुमार गुप्ता -पृ-41

14.भीष्म साहनी का रंग नाटक - लवकुमार लवलीन मधुमति-अक्तूबर-2000 पृ-34

15.साठोत्तर हिन्दी नाटककार -लवकुमार लवलीन - पृ-73

16.समकालीन हिन्दी नाटककार - गिरीश रस्तोगी- पृ-11

17.मसकालीन हिन्दी नाटक और रंगमंच- सनत कुमार -पृ-24

18.साठोत्तर हिन्दी नाटकों का रंगमंचीय अध्ययन-राकेश वत्स-पृ157

19.रंग दर्शन-नेमिचन्द्र जैन -पृ-64

20.हिन्दी नाटक : रंग शिल्प दर्शन -डॉ.विकल गौतम -पृ-27

21.रंग कोलाज - देवेन्द्र राज अंकुर - पृ-63

22.सूर्य की अंतिम किरण से सूर्य की पहली किरण तक पृ-38

23.नयी रंग चेतना और हिन्दी नाटककार -जयदेव तनेजा -पृ-149

24.आधुनिक हिन्दी नाटक :भाषिक और संवादीय संरचना -गोविन्द चातक - पृ-307

25.साठोत्तरी हिन्दी नाटक का रंगमंचीय अध्ययन -राकेश वत्स -पृ-214

26.Carl Marx Selected Works-I -Stallin -pg-300

27.कम्यूनिष्ट मैनिफैस्टो -मासको -1952 -पृ-40-41

28.आधुनिक बोध और विद्रोह -डॉ.हरदयाल पृ-18

29.आधुनिक बोध और विद्रोह -डॉ.हरदयाल -पृ-18-19
30.Peoples Art in the Twentieth Century -Janam -pg-286
31.आज कल -पृ-11
32.History of Societ Union Comunist Party -Stallin -pg-167-68
33.रंग दर्शन -नेमिचन्द्र जैन -पृ-33
34.लेखक और परिवेश -राजेन्द्र अवस्थी -पृ-73
35.लेखक और परिवेश -राजेन्द्र अवस्थी -पृ-41
36.नई रंग चेतना और हिन्दी नाटककार -जयदेव तनेजा -पृ-23
37.नई रंग चेतना और हिन्दी नाटककार -जयदेव तनेजा -22-23
38.Peoples art in the Twentieth Century -Janam, Delhi-pg-276
39.आधुनिक नाटक का मसीहा:मोहन राकेश -डॉ.गोविंद चातक -पृ-146
40.लेखक और परिवेश -राजेन्द्र अवस्थी -पृ-20
41.कविता क्या है -आचार्य रामचन्द्र शुक्ल - पृ- 26
42.सामाजिक परिवर्तन के संदर्भ में साहित्य की भूमिका -रामेश रावत(लेख) पृ-49
43. शताब्दी के ढ़लते वर्षों में -निर्मल वर्मा -पृ-41
44.लेखक और परिवेश -राजेन्द्र अवस्थी -पृ-48
45.People's art in the Twentieth Century -Sahmat-pg-126
46.प्रेमचन्द कुछ विचार -नई दिल्ली -डाइमंड पॉकेहबुवरा
47. अब, 24-26 - डॉ. विश्वंभरनाथ उपाध्याय - पृ -43

उपसंहार

उपसंहार

परिवर्तन संसार का शाश्वत नियम है। परिवर्तन के कारण से ही नयी मान्यताएँ प्रतिष्ठित होती हैं। साहित्य की हर विधा, परिवर्तन की प्रक्रिया को अपनी सामर्थ्य के अनुसार ग्रहण करती है, और परिवर्तन की प्रक्रिया की प्रतिक्रिया द्वारा अपनी भूमिका निभाती है। परिवर्तन की प्रतिक्रिया की अभिव्यक्ति, समाज को सोचने के लिए उत्प्रेरित करती है और समाज को उससे दिशा दृष्टि मिलती है। यह दिशा-दृष्टि दोनों ही आनेवाले कल के लिए योजनाएँ रचकर सफल कराते हैं और साथ-साथ मनुष्य की आवश्यकताओं को पूरा करने में सक्षम होते है।

प्रयोग की परीक्षा लेने के लिए परिवर्तित समाज की आवश्यकता है। 1950 के बाद के समाज निरंतर परिवर्तित होता है। सामाजिक परिवर्तन की प्रक्रिया ही साहित्य के विविध रूपों में और विचारधाराओं को हमारे सामने लाती है, और इसीसे साहित्य की प्रासंगिकता निर्मित होती है। मनुष्य अपने समय की सामाजिक, राजनीतिक और धार्मिक प्रवृत्तियों से बहुत कुछ बंधा होता है। इन बंधनों को तोड़ने के लिए ही प्रयोग आवश्यक है। इन प्रयोगों के लक्षण हिन्दी साहित्य के हर विधा में हमें देखने को मिलते है लेकिन पचासोत्तर नाटकों में यह प्रवृत्ति ज्यादा मिलती है।

वर्तमान समय में नाटक को साहित्य की सबसे सशक्त विधा माना जा रहा है। नाटक रूप युक्त होने के कारण अधिक प्रभावोत्पादक होता है। इससे पाठकों और दर्शकों का अनुरंजन भी होता है और प्रेरणा भी मिलती है। समकालीन नाटक जीवन की पुनर्रचना करता है जिसमें जीवन के विविध पक्षों एवं समस्याओं के साथ सामाजिक, दार्शनिक मानवीय अस्तित्व की वास्तविकता निहित है। नाटक जीवन का दर्पण है, उसमें जीवन -व्यापन के मूलभूत तथ्यों का समाहार मिलता है। नाटकीय प्रयोगों को समझने में युगीन परिवेश पर दृष्टिपात करना समीचीन लगता है।

वर्तमान युग प्रयोगों का युग है। यह एक क्रांती का युग है। इस युग में जनता के धार्मिक, सामाजिक, राजनैतिक आदि के परिवर्तित रूप मिलते है। यह युग क्रांति और प्रतिक्रांति का युग रहा है। इस युग में व्यक्तिवाद के स्थान पर एक सामूहिक चिंतन और जन संस्कृति का विकास हुआ। 'ग्लोबल विलेज' का नारा हमारे युग में अवतरित हुआ है। उपभोक्तावाद की अंधी दौड में व्यक्ति इतना आत्मकेन्द्रित हो रहा है कि अपने परिवार में भी अकेला और अजनबी हो रहा है। जन समस्याओं के प्रति

सामूहिक संघर्ष कम देखने को मिल रहे हैं। राजनीति अपना चेहरा खो चुकी है। जन संगठनों में भी जातिवादी और साम्प्रदायिक तत्व प्रवेश कर गये हैं। इन परिस्थितियों से भारत जैसे विकासशील देश की अखण्डता, एकता और सार्वभौमिकता के सामने गंभीर चुनौतियाँ और खतरे हैं।

जो चुनौतियाँ समाज के सामने हैं उनको हल करने में पचासोत्तर नाटक प्रतिबद्ध है। 1950 से लेकर 2000 तक हिन्दी नाटक अनेक पहलुओं से गुजरकर गतिमान है। जन संबंधी हर कथ्य पर हिन्दी नाटक अपनी व्याख्यान करने में सक्षम हुआ है। धर्मवीर भारती का नाटक 'अन्धायुग' में युद्ध को महाविनाश का कारण बताया गया है। युद्ध में नैतिकता, मूल्य,आदर्श, विकास, प्रेम स्वाह हो जाते हैं और युद्ध द्वारा उत्पन्न विभीषिका का फल आम जनता और आनेवाली पीढ़ियाँ भोगती हैं। इस नाटक के कथ्य में वर्तमान के साथ भविष्य की संभावनाएँ अभिव्यक्त हो जाते हैं।

मोहन राकेश के नाटक एक बद्ध दृष्टि में बाँधनेवाले नाटक नहीं है। हर अन्वेशी दृष्टि से आगे यह अर्थ के नए स्तर खोलता है और बहुधा एक से अधिक संकेत देता है।सामाजिक जीवन में उत्पन्न होनेवाली निराशा, असफलता, मानवीय संबंधों में बिखराव से उत्पन्न होनेवाली विभिन्न धार्मिक जीवन स्थितियों का कटु साक्षात्कार इन पचासेत्तर नाटककारों का लक्षय रहा है। प्रतीकात्मक विषयों को लेकर व्यक्ति मन की निराशा, उलझनें, समस्याएँ ही साहित्य के विषय बनने लगीं।

पचासोत्तर नाटकों में स्त्री पुरुष संबंध साहित्य का एक प्रमुख विषय रहा है जिसकी तीक्षण अभिव्यक्ति मोहन राकेश के 'आधे-अधूरे', सुरेन्द्र वर्मा के 'सूर्य की अंतिम किरण से सूर्य की पहली किरण तक' में हुई है। स्त्री-पुरुष संबंधों के बीच के सहज संबंधों में अनेक मूल्य बदले। इन बदलते मूल्यों के साथ साथ बेकारी, भ्रष्टाचार, गरीबी, अव्यवस्था, शोषण, अत्याचार, मूल्यहीनता और जीवन दर्शन की अनुपस्थिति अर्थात् लक्ष्यहीन जीवन की विवशताएँ आदि विभिन्न समकालीन जीवन स्थितियों से जुडकर नाट्य वस्तु के क्षेत्र में वैविद्य, विस्तार और लचीलापन उत्पन्न किया गया है।

सामान्य जन जीवन की पीडाओं की अनुभूति कराने एवं आम आदमी से जुडने के कारण पचासोत्तर नाटक लोक जीवन की सार्थक नाट्य रचना कहलाने के अधिकारी हो जाते हैं। आम आदमी के दुख-दर्द और राजनीतिक भ्रष्टता के चित्रण

करने में सर्वेश्वर दयाल सक्सेना के 'बकरी', सुशीलकुमार सिंह के 'सिहासन खाली है' नाटक सफल होते हैं। इन नाटकों को पढ़कर और उनकी प्रवृत्तियों को देखकर लोगों ने इसे खूब सहारा और ऐसी नाट्य रचना की नींव क्रमशः गहरी होती गई।

व्यक्तिगत संवेदनशीलता को रूप देने में समकालीन नाटककार सफल प्रयोग करते हैं। भीष्म साहनी के नाटक 'हानुश' और 'कबीरा खडा बाजार में', असगर वजाहत के 'वीरगति' हबीब तन्वीर के 'चरणदास चोर' नाटक में इस संवेदनशीलता का परिचय हमें मिलता है। संघर्षशील व्यक्ति की मानसिकता से सीधा साक्षात्कार उक्त नाटकों में हमें मिलता है। पचासोत्तर संवेदनशील नाटक का कथ्य विभिन्न दृश्य माध्यमों और मंचीय साक्ष्य द्वारा दृश्यत्व ग्रहन करता है। हालांकि दर्शक इस सूक्ष्म प्रतिक्रिया को तो नहीं देख पाता। किन्तु उसका अनुभव कर नाट्य वस्तु से नाट्यानुभूति का आस्वादन करता जाता है।

समसामयिक यथार्थ एवं आधुनिक व्यक्तित्व का जीवन मूल्य पचासोत्तर नाटकों में व्यापक प्रयोग देखा जा सकता है। संपूर्ण जीवन मूल्य को स्पर्श करने की क्षमता रखनेवाले नाटककार भी इस समय सामने आये जिन्होंने मूल्यों के प्रति व्यक्ति की आस्था, व्यक्ति की द्वन्द्वात्मकता, जीवन के प्रति नयी दृष्टिकोण का अपने नाटकों में व्यापक चित्रण किया। 'अंधायुग' नाटक में अश्वत्थामा, 'आषाढ़ का एक दिन' में कालिदास, 'लहरों के राजहंस' में नंद, 'सूर्य की अंतिम किरण से सूर्य की पहली किरण तक' में ओक्काक, 'हानुश' में हानुश, 'बकरी' में युवक, 'तडप मुक्ति की' नाटक में मनोज कुमार, 'आधे-अधूरे' में सावित्री, 'द्रौपदी' में द्रौपदी पात्रों के माध्यम से द्वन्द्वात्मक मूल्यों को देखने की एक नयी कोशिश हमें मिलती है।

पचासोत्तर उपलब्धियों में दलित नाटक यथार्थ के दग्ध अनुभवों का अपने भीतर समेटकर बाहर आता है। अब तक उपेक्षित किया गया वर्ग अपनी अभिव्यक्ति को व्यक्त करने के लिए आज आतुर है। डॉ. माता प्रसाद एवं नागबोडस अपने 'तडप मुक्ति की', 'धर्म परिवर्तन', 'दलित' नामक नाटकों में चेतना भरी आवाज को सुनाते हैं। मुक्ति के लिए तडपते हुए एक वर्ग का पक्ष लेकर उनकी पीडा को सबकी पीडा के रूप में परिवर्तन करने में सफल होते हैं।

पचासोत्तर परिवेश और नाटक ने अनेक नयी विधाओं को रूप देने में सफल हुआ है। इस परिवेश से जो नाटककार सामने आते हैं उनके व्यक्तिव और संभावनाएँ उजागर होती हैं और नाट्य लेखन की सीमाएँ, उनका संघर्ष और उपलब्धियाँ भी

सामने आती हैं। 'अन्धायुग' नाटक को लेकर गीति नाट्य बडी सशक्त प्रारूप को निर्मित करता है। और उसी प्रकार लोक नाट्य परंपरा भी हिन्दी नाटक को और भी सुसंपन्न करने में सक्षम हुई है। खासकर शिल्प पक्ष पर लोक नाट्य का अधिक प्रभाव पड़ा। सर्वेश्वरदयाल सक्सेना के नाटक 'बकरी', मुद्राराक्षस के 'आला अफसर', हबीब तन्वीर के 'आगरा बाजार', 'चरणदास चोर', डॉ. लक्ष्मीनारायण लाल के 'एक सत्य हरिश्चन्द्र' में लोक नाट्य शैली स्पष्ट रूप से झलक पडते हैं और हिन्दी नाटक को उन लोक तत्वों से प्रेरित भी करते हैं।

पचासोत्तर परिवेश में नुक्कड नाटक एक सशक्त विधा के रूप में उभरकर बाहर आया है। नुक्कड नाटक आंदोलन के उद्‌भव का कारण समकालीन भारत की आर्थिक, सामाजिक, राजनीतिक और सांस्कृतिक परिस्थितियाँ थी। आर्थिक विषमता, श्रमजीवी वर्ग के शोषण, स्त्रीयों पर किए जा रहे अत्याचार, बेरोजगारी की व्यापक समस्या, मूल्यों का विघटन तथा लाचारी अन्धविशवास और पाखण्डी शक्तियों के विरुद्ध एक प्रतिरोधी कला के रूप में नुक्कड नाटक का जन्म हुआ। आधुनिक राजनीतिक नुक्कड रंगकर्म एक सामाजिक जरूरत की पैदाइश है। जनवादी आन्दोलन से जो जन संस्कृति पैदा होती है, नुक्कड नाटक उसी का एक अंग है। उस अंग को परिपुष्ट करने में सफदर, रमेश उपाध्याय, सर्वसाची, गुरुशरण सिंह आदि रंगकर्मी तत्पर है।

आज का समय विधाओं और कलाओं के अतः संबंधों के बीच घुल मिलने का है। सातवें-आठवें दशक में जब हिन्दी रंगमंच संघर्ष और रचनात्मकता के उत्कर्ष पर था और रंगकर्मियों के सामने रचनात्मक जिज्ञासा के साथ एक अलग विधा, नाट्य रूपांतरण नाम से उभरकर बाहर आता है। कहानी और उपन्यास के नाट्यांतरों के प्रति दर्शकीय भागीदारी बढ़ने लगी। 'गोदान', 'मैलाआँचल', 'महाभोज', 'रागदरबारी' जैसे प्रसिद्ध उपन्यासों को नाटकों के रूप में परिवर्तितकर मंच पर प्रस्तुत किया गया है और उनके साथ 'परमात्मा का कुत्ता', 'कसाई बाड़ा', 'सत्याग्रह' आदि कहानियों को भी नाटकों के रूप में परिवर्तित कर एक नयी विधा को हिन्दी रंगकर्मियों ने गढ़ा है।

सातवें दशक में हिन्दी नाट्य लेखन के साथ-साथ भारत की अन्य भाषाओं के बेहतरीन नाटकों का हिन्दी में अनुवाद एवं मंचन की प्रक्रिया भी आरंभ हो गयी। हिन्दी रंगमंच को दशा-दिशा दिलाने के लिए किया गया यह प्रयत्न पचासोत्तर नाटकीय उपलब्धियों में विशिष्ट माना जाता है। हिन्दी में जो उल्लेखनीय अनुवाद हुए हैं - विजय तेंदूलकर के 'घासीराम कोतवाल', गिरीश करनाड के 'हयवदन',

'तुगलक', बादल सरकार के 'बाकी इतिहास', 'जुलूस' इत्यादि। इतर प्रदेशों के संस्कृति और साहित्य का सही प्रयोगभरित कृतियों के अनुवाद के कारण समकालीन नाटक बहुत सुशोभित हुआ है।

नाटक और रंगमंच की परस्पर निर्भरता तो नाट्य रचना के जन्म के साथ ही परिलक्षित होती है। नाटककार जो कुछ भी रचता है वह निर्देशक, अभिकर्ताओं द्वारा रंगमंच पर प्रस्तुत होकर प्रेक्षकों की आशंसा का कारण बनता है। नाटककार के हाथों से जब नाट्यकृति निर्देशक के हाथों में पहुँचती है तब वह अपने भीतर संपूर्ण नाट्यकला को समाहित किए रहती है। नाटक के सफल प्रस्तुतीकरण में दृश्य योजना, अभिनय, ध्वनि प्रभाव,संगीत, निर्देशक और दर्शक की आवश्यकता होती है।

दरअसल, आजादी के बाद दो दशकों के दौरान लिखे गये नाटकों में रंगमंच धारणा इस रूप में अपना प्रभाव डालती प्रतीत होती है कि नाटक चौखटेवाले रंगमंच पर प्रस्तुत होगा। इसलिए पचासोत्तर नाटकों का कार्यस्थल कोई कमरा, ड्राइंगरूम, बरामदा या आंगन है, जिसका विवरण नाटककार नाटक के प्रारंभ में ही दे देता है। 'आषाढ़ का एक दिन' नाटक में दृश्यबंध के बारे में तीनों अंकों के प्रारंभ होने के पूर्व अर्थगर्भित विस्तृत रंग संकेत दिये गये हैं। 'अन्धायुग' के लिए लगा गया खुला मंच, 'आधे-अधूरे' नाटक में राजमंदिर, 'सिंहासन खाली है' में सिंहासन, 'कबिरा खडा बाजार में' जुलाहों की बस्ती आदि दृश्यों को अच्छी तरह रंगमंच पर प्रतिष्ठित किया गया है। पचास के बाद दृश्य बंध संपूर्ण नाटक के अविभाज्य अंग बनकर आते हैं।

पचासोत्तर नाटकों में अभिनय संबंधी रंग संकेतों के प्रति नाटककार और निर्देशक अत्यधिक जागरूक है। 'अन्धायुग' नाटक में अश्वत्थामा, गांधारी, 'आषाढ़ का एक दिन' में मल्लिमा, अम्बिका, 'आधे-अधूरे' में काले सूटवाले, सावित्री, 'दौपदी' नाटक में पाचों नकाबवाले मन मोहन, 'हानुश' में हानुश, 'होरी' में होरी, 'तुगलक' में तुगलक पात्रों को मंचित करते समय प्रत्येक अभिनेता अच्छी तरह अभिनीत करते हैं। पचासोत्तर निर्देशक अंग-संचालन में हाव-भाव, गुस्सा, आक्रोश, सिराहना, कांपना आदि बारीक-से-बारीक मुद्राओं का निर्देश देने से नहीं चूकते।

पचासोत्तर नाटक में प्रयोगशीलता की प्रवृत्ति रंग-संकेतों में भी दिखाई पडती है। 'अन्धा युग' की जो प्रवृत्तियाँ इब्राहिम अल्काजी ने की है, उसमें उन्होंने अन्धायुग के पात्रों को महाभारतीय रूपसज्जा एवं वेश-भूषा में प्रस्तुत किया है। 'आषाढ़ का एक

दिन', 'लहरों के राजहंस' में परिवेश के अनुसार उसी काल की वेश-भूषा एवं रूपसज्जा में प्रस्तुत किया गया है। रूपसज्जा के साथ संगीत, प्रकाश, ध्वनि का उपयोग पचास के बाद बढा है। अंक विभाजन के लिए, पात्रों की मानसिक ऊहापोह को दर्शाने के लिए, विभिन्न भावों की अभिव्यक्ति के लिए पचासोत्तर नाटककार प्रकाश एवं ध्वनि के कलात्मक प्रयोग करते हैं। खण्डित मनुष्य की स्थिति को दिखाने में, द्वन्द्वात्मक मानसिकता का परिचय देने के लिए ध्वनि का भी अच्छी तरह उपयोग किया गया है।

नाट्य प्रदर्शन के सभी तत्वों को एक समग्रता में रखकर स्वतंत्र रूप दर्जा देनेवाला केन्द्रीय सूत्र निर्देशक है। पचासोत्तर नाटक रंगमंच पर प्रदर्शित होकर दर्शक तक पहुँचने में निर्देशक का बहुत बडा योगदान रहा है। इब्राहीम अल्काजी, राम गोपाल बजाज, श्यामनंद जालान, ओम शिवपुरी, सत्यदेव दुबे, बी.वी.कारंत, बादल सरकार, हबीब तन्वीर, एम.के.रैना जैसे निर्देशक अपनी शिल्पगत चमत्कारों और टेकनीकों के साथ दर्शकीय भागीदारी को बढत्व देते हैं। एक ही नाटक के विशेष प्रयोग करने में इस निर्देशकीय क्षमता सफल हुई हैं। सार्थक नाट्यानुभूति के साथ कलात्मक नाट्य सृष्टि के लिए अनवरत प्रयत्न करके पचासोत्तर नाटककार हिन्दी रंगमंच को जीवंत रखने की कोशिश में सफल हुए है।

दर्शक पचासोत्तर नाटक का प्रधान अंग बन गया है। पचास के बाद नाटक और रंगमंच का जो रिश्ता बना, उसने दर्शक को अभिन्न रूप से नाटक और रंगमंच के सामने लाकर खडा कर दिया। नाट्यकला में दर्शक वर्ग रचना का अनिवार्य तत्व होकर भी प्रायः उससे स्वतंत्र है। भाषा के पात्रों के अनुकूल होना, दर्शकों को रंग प्रक्रिया में शामिल करना, नाटक के पात्रों का दर्शकों के बीच में से आकर नाटक में भाग लेना, नाटक को प्रेक्षागृहों से मुक्त करना, सडकों पर दर्शकों के बीच में मेकप तदितर बिना रंग उपकरणों को प्रस्तुत करना आदि सभी प्रयोग नाटक और रंगमंच के बीच साहृद्भाव वातावरण का प्रदुर्भाव और चेतना के विकास की ओर इशारा करते हैं।

वस्तुतः भाषा में विकल्प सामाजिक और आर्थिक पहलुओं पर निर्भर करता है। अलग-अलग सामाजिक और आर्थिक वर्गों की भाषा अलग-अलग होती है। पचासोत्तर नाटककार इन तथ्यों को समझते हैं और अपनी भाषा और संवादों को सामाजिक अर्थवत्ता देने के लिए प्रायः विभिन्न प्रवृत्तियों का प्रयोग करते हैं। वे भाषा के विकल्प का प्रयोग सामाजिक अंतर को प्रकट करने के लिए ही नहीं करते वरन् वैयक्तिक अंतः प्रक्रियाओं को भी उसके माध्यम से उजागर करने का प्रयत्न करते हैं।

'अन्धायुग' नाटक ने यथार्थवादी नाटक की सतही, सपाट पद्धतियों को मुक्ति दी और नाटक के लिए एक नयी भाषा की तलाश की है। इस नाटक की महत्ता भाषा में निहित है जिससे सारी कृति अपनी गहनता और तीव्रता में, गति और लय में एक पूरी भावात्मक सर्जना बनजाती है। मोहन राकेश के नाटकों की भाषा अनुभव का क्षेत्र से उपजा हुआ है। 'आषाढ़ का एक दिन' और 'लहरों के राजहंस' ऐतिहासिक कथा वस्तु के कारण अपनी भाषा का स्वरूप एक विशिष्ट प्रकार से निर्धारित करते हैं। 'आधे-अधूरे' की भाषा अपने कथ्य के अनुरूप बोलचाल के मुहावरे से जुडी है, किन्तु भाषा का सर्जनात्मक प्रयोग उनके नाटकों में विशेष रूप से दिखाई देता है।

सुरेन्द्र वर्मा के 'द्रौपदी' में भाषा यांत्रिक और शिल्पबद्ध है। मिथक के माध्यम से समकालीन जीवन को अभिव्यक्त करने के बजाय समकालीन जीवन को मिथक के आधार पर रेखांकित करना 'द्रौपदी' को एक अलग से पहचान देता है। सुरेन्द्र की भाषा जहाँ बोलचाल की भाषा का जीवंत अनुभव देता है, वहाँ वह स्त्री-पुरुष संबंधों वाले प्रसंगों में बडी उग्र और आक्रामक भी लगती है। इसी प्रकार डॉ.लक्ष्मीनारायण लाल, मुद्राराक्षस के नाटकों की भाषा में जीवन के निकटतम के साथ-साथ नगरीपन का ज्यादा प्रभाव मिलता है। भीष्म साहनी के नाटक 'हानुश' और 'कबिरा खडा बाजार में' में आक्रोश की भाषा का संकेत मिलते है।

नुक्कड नाटक, दलित नाटक और हबीब तन्वीर के नाटकों में ज्यादातर कस्बाती बोलियों का प्रयोग मिलता है। हबीब तन्वीर के नाटकों में छत्तीसगढ़ी प्रारूपों के ज्यादा शब्द मिलते हैं। शहरी दर्शकों के लिए ग्रामीण शब्दावली से भरा हुआ शब्द प्रयोग के साथ हबीब तन्वीर विख्यात होते हैं। उसी तरह नुक्कड और दलित नाटकों में लोक नाट्य शैली से ज्यादा प्रभाव मिलता है। अनुभव को दर्शकों तक ले जाने के लिए लोकभाषा में उनके ही मुहावरे युक्त संवादों के साथ पचासोत्तर नाटकों में बहुत ही प्रयोग मिलते हैं। इन प्रयोगों के कारण नाटक जन-जन तक पहुचने में सफल हुआ है।

पचासोत्तर नाटकों में संवाद नाटक के प्राण तत्व के रूप में उभरकर आते हैं। 'आषाढ़ का एक दिन', 'आधे-अधूरे', 'सूर्य की अंतिम किरण से सूर्य की पहली किरण तक' नाटकों में संवाद तीन तीन पृष्ठों के हैं। उसी प्रकार 'करफ्यू', 'बकरी' नाटकों में एक एक पंक्ति के संवाद होते हैं। ज्यादातर स्वगत भी मिलते हैं। ज्यादातर अंग्रेजी भाषा का प्रयोग अधिक है उसके साथ उर्दू भाषा का भी बहुत प्रयोग मिलता है। लोक नाट्य और नुक्कड नाटकों में देशज शब्दों का भरपूर प्रयोग मिलता है। पचासोत्तर नाटकों में स्वगत, कोरस, सूत्रधार और नट-नटी संवाद से जो एक नया प्रभाव पैदा

किया गया है। इस युग में ऐसी भाषा का प्रादुर्भव हुआ है जिसमें पात्र अपने दोषों को दुर्गुणों और गोपनीय बातों को खूव खोलकर कहते दिखाई देते हैं। प्रतीक, गीत, व्यंग्य इत्यादि शिल्प संबंधी लक्षणों को प्रतिष्ठित करने में समकालीन नाटककार सफल हुए हैं।

स्वातंत्रोत्तर जीवन का सही साक्षात्कार हिन्दी नाटक है। आधुनिक नाटकों में बिलकुल निजी अनुभव जोडा गया है। अपने अनुभवों को सामाजीकरण करने में समकालीन नाटककार हिचकते नहीं। समकालीन नाटक मानवीय संभावनाओं का समन्वय करके, अनेक मुश्किलों का सामना करते हुए आगे बढ़ा है। आदि रूप से आज तक नाटक का मूल लक्ष्य मानवीय अभिव्यक्ति ही है वह अभिव्यक्तीकरण 1950 के बाद और भी बढ़ा है।

उपलब्धि के रूप में देखने से हिन्दी नाटकों में परिवेश, प्रतीक स्पष्ट रूप से दिखाई देते हैं। मध्यवर्गीय मानवीय संबंध, शारीरिक संबंधों को अच्छी तरह अभिव्यक्त किया गया है। आधुनिक स्त्री-पुरुष को गढ़ने में पचासोत्तर नाटककार सफल दीखते हैं। ऐतिहासिक परंपरा से आधुनिक व्यक्ति की तलाश, स्त्री की सबल स्वर, दलित चेतना, साम्प्रदायिकता सामान्य को भी प्रयोगशील धरातल पर व्याख्यायित करना इस युग के नाटकों के प्रयोगशील प्रवृत्ति रही है। स्त्री-पुरुष के बीच का काम संबंध पहली बार इतना खुलकर सार्वजनिक प्रदर्शन की वस्तु इस युग के नाटकों में बना है। एक शब्द में कहना है तो पचासोत्तर नाटककार ने एक भी कोण को नहीं छोडा है जो स्वातंत्र्योत्तर परिवेश से उपजा हुआ हो।

शिल्प परक प्रयोगों में नए नाटकों में भाव, विषय, विचार आदि सभी धरातलों पर कहीं परंपरा को तोडकर और कहीं परंपरा के समानान्तर नवीन स्थापनाएँ की जाने लगीं। अंक दृश्य योजना में योजना, एक ही अंक में नाटक की योजना, एक ही नाटक में एक और नाटक रचने का प्रयास शिल्प परक उपलब्धियों में मिलते हैं। दर्शकों और मंच के बीच की दूरी को समाप्त करने का सायास प्रयोग, सामान्य भाषा, जन के बीच में नाटक को खडा करके खेलना-इस युग शिल्प संबंधी प्रयोगधर्मिता की विशेषताएँ है।

पचास के बाद रंग संकेत अत्यंत जागरूकता के साथ इस्तेमाल किया गया है। दर्शकों को आकर्षित करने के लिए दृश्य बंध और मंचीय स्थिति पर ध्यान दिया गया है। अभिनेता प्रस्तुति में अभिनय नहीं करते हैं बल्कि जीते हैं। हबीब तन्वीर के नया

थियेटर अभिनय से ही मशहूर हुई है। मनुष्य, समाज, परिवेश जीवन आदि विषयों को समझाने के लिए रूप सज्जा ध्वनि, संगीत, प्रकाश व्यवस्था आदि को अच्छी तरह सजाकर हिन्दी रंगमंच को एक नया वातावरण उपलब्धि के रूप में दिया गया है। इसके साथ गीति नाट्य, लोक नाट्य, नुक्कड नाटक, नाट्य रूपांतरण, अनुवाद उसकी विधाओं को भी जन्म देकर पचासोत्तर नाटक अपनी विस्तारता को संपूर्णता प्रधान करने में सफल हुई है।

हिन्दी नाटक आज बहुत क्लिष्ट स्थिति में है। आज का परिवेश संकटग्रस्त है। आज के परिवेश को परिवर्तित करने के लिए हर एक साहित्यकार को तत्पर रहना है। क्योंकि नाटककार ही अपने परिवेश के प्रति विद्रोह और प्रतिक्रिया का भाव जगाता है। परिवेश को परिवर्तित करने की सोच को भी देना ही नाटककार का कर्तव्य है। अपने समाज, जन, देश के प्रति प्रतिबद्ध रहना चाहिए।

मीडिया भी समाज को पतनोन्मुख करने में अपनी भारी सहायता दे रहा है। भारतीय संस्कृति पर पाश्चात्य संस्कृति हावी हो चुकी है। केबुल और धारावाहिक के माध्यम से हमारे स्त्रीयों की कामनाओं को परिवर्तित किया जा रहा है। आज मनुष्य तृप्ति प्राप्त करने की तलाश में है। उस तृप्ति को प्रदान करना ही नाटककार का कर्तव्य बनना है। लोगों की सामाजिक सोच को एक सव्य, नयी दिशा देने की संभावना है। समाज को एक दायित्व सहित बनाना है। आगामी वर्षो में समस्याएँ अधिक होते हैं इसका मतलब यह है कि हमारे नाटक को करने के लिए काम बहुत बचा हुआ है।

संदर्भ ग्रन्थ सूची

संदर्भ ग्रन्थ सूची

मूल ग्रन्थ

नाटक	नाटककार	प्रथम संस्करण	प्रकाशन
1.अंधायुग	धर्मवीर भारती	1954	किताब महल, इलाहाबाद
2.अंतहीन बेडियाँ	माता प्रसाद	2000	आतिश प्रकाशन नई दिल्ली
3.अन्तिम अवरोध	एन.आर सागर	1996	संगीता प्रकाशन दिल्ली
4. आधेअधूरे	मोहन राकेश	1978 (छठी)	राधाकृष्ण प्रकाशन दिल्ली
5.आषाढ का एक दिन	मोहन राकेश	1969	राजकमल प्रकाशन दिल्ली
6.आला अफसर	मुद्राराक्षस	1983(द्वितीय)	अक्षर प्रकाशन दिल्ली
7.एक और अजनबी	मृदुला गर्ग	1978(द्वितीय)	नेशनल पब्लिशिंग हाउस, दिल्ली
8.करफ्यू	डॉ. लक्ष्मीनारायण लाल	1972	राजपाल एण्ड सन्स दिल्ली
9. कबिरा खडा बाजार में	भीष्म साहनी	1981	राजकमल प्रकाशन दिल्ला
10.घासीराम कोतवाल	विजय तेंदूलकर	1974	राधाकृष्ण प्रकाशन दिल्ली
11.चौक चौक पर गली गली में-	जनम	1990	सहमत दिल्ली
12.तडप मुक्ति की	माता प्रसाद	1986	लिपि प्रकाशन- दिल्ली
13.तीन नाटक	नागबोडस	1997	विद्याविहार -दिल्ली
14.तुगलक	गिरीश करनाड	1977	राधाकृष्ण प्रकाशन दिल्ली
15.देवयानी का कहना है -	रमेश बक्षी	1981	इन्द्र प्रस्थान प्रकाशन दिल्ली
16.द्रौपदी	सुरेन्द्र वर्मा	1972	नटरंग 32

17.धर्म परिवर्तन माता प्रसाद 2000 आकाश प्रिंटर्स - गाजियाबाद

18.पांच नाटक असगर वजाहत 1995 प्राची प्रकाशन -दिल्ली

19.बकरी सर्वेश्वर दयाल सक्सेना 1986 लिपि प्रकाशन- दिल्ली

20. बाकी इतिहास बादल सरकार 1968 नटरंग- 2

21.बारह सौ छब्बीस बटा सात-जितेन्द्र मित्तल 1987 वाणी प्रकाशन दिल्ली

22.बिना दीवारों के घर-मन्नु भंडारी 1976 (द्वितीय) अक्षर प्रकाशन दिल्ली

23.योर्स फेथफुली मुद्राराक्षस 1982 राजेन्द्र प्रकाशन दिल्ली

24.रागदरबारी गिरीश रस्तोगी 1984 नटरंग - 32

25लहरों के राज हंस मोहन राकेश 1963 राजकमल प्रकाशन दिल्ली

26.सफदर जनम 1989 राजकमल प्रकाशन दिल्ली

27.सिंहास खाली है सुशील कुमार सिंह 1985 (चतुर्थ) साहित्य सहकार दिल्ली

28.सूर्य की अंतिम किरण से सूर्य की पहली किरण तक - सुरेन्द्र वर्मा - 1975 - राधाकृष्ण प्रकाशन दिल्ली

29.हयवदन गिरीश करनाड 1975 राधाकृष्ण प्रकाशन दिल्ली

30.हानुष भीष्म साहनी 1972 राजकमल प्रकाशन दिल्ली

31.होरी विष्णु प्रभाकर 1978 हंस प्रकाशन इलाहाबाद

सहायक ग्रन्थ

1.अंधायुग पाठ और प्रदर्शन -जयदेव तनेजा 1998 राष्ट्रीय नाट्य विद्यालय दिल्ली

2.आज और आज से पहले- कुवर नारायण 1998 राजकमल प्रकाशन दिल्ली

3.आज का हिन्दी नाटक और रंगमंच-डॉ.परमलाल गुप्त -1997 नईकहानी, इलाहाबाद

4.आधुनिक हिन्दी नाटक डॉ. सुरेश चन्द्र शुक्ल -1981 -लिपि प्रकाशन, नई दिल्ली

24.समकालीन हिन्दी नाटक और रंगमंच - सनत कुमार - 2001 -सरदार पटेल विश्वविद्यालय वल्लभ नगर

25.साठोत्तर हिन्दी नाटककार - लवकुमार लवलीन - 1998 - भावना प्रकाशन- दिल्ली

26.सठोत्तरी हिन्दी नाटकों का रंगमंचीय अध्ययन - राकेश वत्स - 1995 - हिन्दी बुक सेन्टर - दिल्ली

27.सीढियाँ शुरू हो गयी है - अशोक वाजपेयी 1996 - वाणी प्रकाशन -दिल्ली

28.सुरेन्द्र वर्मा के नाटकों में रंगमंचीयता - देवेन्द्र कुमार गुप्ता - 1986 - भावना प्रकाशन दिल्ली

29. स्वातंत्र्योत्तर युगीन परिप्रेक्ष्य और नुक्कड नाटक एक मूल्याकन- डॉ. मदन मोहन- शर्मा - 1992 - पार्श्व प्रकाशन अलाहाबाद

30. हिन्दी नाटक रंगशिल्प दर्शन - डॉ. विकल गौतम -2000- वाणी प्रकाशन दिल्ली

लेख

1आज का रंगमंच जमसाधारण से बढती दूरी - मनोज कुमार जैन- आजकल, अगस्त 2002.

2.आठवें नवें दशक का हिन्दी रंगकर्म दशा और दिशा- जयदेव तनेजा- मधुमती-अक्तूबर 1996

3.आधुनिकता की अवधारणा और भारतीय समाज और संस्कृति नीलिमा सिंन्हा-आजकल- फरवरी 2001

4.उत्तर आधुनिकता दार्शनिक विवेचना-संजय चौहान - मदुमति-अक्तूबर- 2001

5.उत्तर आधुनिकतावाद और मार्क्सवाद सुधीष पचौरी-साखी -जुलाई -1993

6.उत्तर आधुनिकता और उत्तराधुनिक समीक्षा के अवजार - डॉ. पाण्डेय शशिभूषण शीतांशू - अक्षरा - 51-2001

7.दलित साहित्य की वैचारिक संरचना - देवेन्द्र चौबे - आजकल -2000

8.नई शताब्दि की चुनौतियाँ और हिन्दी साहित्य रामचन्द्र तिवारी-मधुमती -एप्रैल -2003

9.नवें दशक में हिन्दी नाटक और रंगमंच-जयदेव तनेजा -भाषा -जनवरी -1992

10.नाट्य प्रयोजन - सिद्धनाथ कुमार - समकालीन भारतीय साहित्य- जनवरी 2000

11.नाटकों में आधुनिकता का प्रवेश -आजकल -फरवरी -1984

12.नुक्कड नाटक का जन संघर्षीय पक्ष- राजेष कुमार -कथाक्रम -अक्तूबर - 2001

13.नुक्कड नाटक का रंगशिल्प -राजेश कुमार -नटरंग-46-1984

14.परिवर्तन, भारतीय समाज और यथार्थ - विश्वेश्वर प्रसाद सिंन्ह -पश्यंति- अक्तूबर -1998

15.पिछले साठ साल के अभिनय के सिल सिले में कुछ विचार- हबीब तन्वीर -नंटरंग-11- 1983

16.भारतीय लोक परंपराएँ- और आधुनिक रंगमंच - कैथरिन हुसैन - नटरंग-12-1975

17.भारतीय जननाट्य परंपरा -आज की चुनौतियाँ - चन्द्रेस्वर - दस्तक - 1998

18.भाषा साहित्य और संप्रेषण- रामश्वरूप चतुर्वेदी -कसौटी -11-2002

19.भीष्म साहनी के रंगनाटक - लवकुमार लवलीन -मधुमति - अक्तूबर -2001

20 भविष्य के साहित्य का अंतरग -डॉ. पद्मजा घोर पाण्डे - अक्षरा -सितंबर -2001

21.मेरा मृच्छकटिक का प्रयोग एक अधूरी कहानी -हबीब तन्वीर - नटरंग -1965-अंक-1

22.लोकनाटक और हिन्दी नाट्य प्रयोग-सिद्धनाथ कुमार - कसौटी -दिसंबर -1984

23.समकालीन परिवर्तन के संबंध में साहित्य की भूमिका -रमेश लावत- मधुमति -आगस्त- 2001

24.समकालीन रंगमंच में संगीत और नृत्य का प्रयोग - नटरंग-32 -1985

25.समकालीन रंगमंच -नागबोडस -आलोचना- अक्तूबर - 1984

26.समकालीन हिन्दी रंगमंच दो सवाल - प्रताप सहगल - आजकल - 1987

27.समाज के बदलाव में साहित्य का हस्तक्षेप- रामदेव शुक्ल -दस्तावेद -जनवरी -1989

28. सर्वहारा के संघर्ष में साहित्य की भूमिका - रमेश सोनी - मधुमति - 1985

29.स्वातंत्र्योत्तर हिन्दी साहित्य की अंतः चेतना- शंकर दयाल सिन्हा - दस्तावेज -64-1994

30.स्वातंत्र्योत्तर जीवन एवं हिन्दी नाट्य लेखन - सत्यदेव त्रिपाठी - अक्षरा-50-2000

31.साहित्य और उत्तर संस्कृति - अमर सिंह वधान - मधुमति - जून -2001

32.हिन्दी नाटक क्यों और कैसे - सत्य प्रकाश मिश्रा -अतयव - 53- 1994

33.हिन्दी नाटक और रंगमंच - पच्चीस वर्ष - प्रताप सहगल - भाषा-63-1985

34.हिन्दी नाट्य भाषा के सौ वर्ष - डॉ. विजय द्विवेदी- हिन्दी नाटक के सौ वर्ष विशेषांक - 1983

ENGLISH BOOKS

1.A History of India- Romilla Thapar

2. Brecth on Theatre - John Willet

3. Carl Marx Selected Works - Stallin

4.Drama from Ibson to Iliot - Raymond Willims

5. Language And reality - Urban

6. Marxist Cultural movement in India - vol-2 - Sudhi Pradhan
7. New Horizons in the Study of Language and mind - Noam Chomsky
8.The Architecture of Language - Noam Chosky
9. People's art in the twentieth Century theory and practice- Janam
10. The Drama and dramatic dances of non European races - william Ridgway
11. The problem play - R. C Guptha.
12. Theory of drama -N icoll
13. The right ot perform - Safdar Hashmi